सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्ष – शास्त्र

भाग 11

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोक्ष-शास्त्र

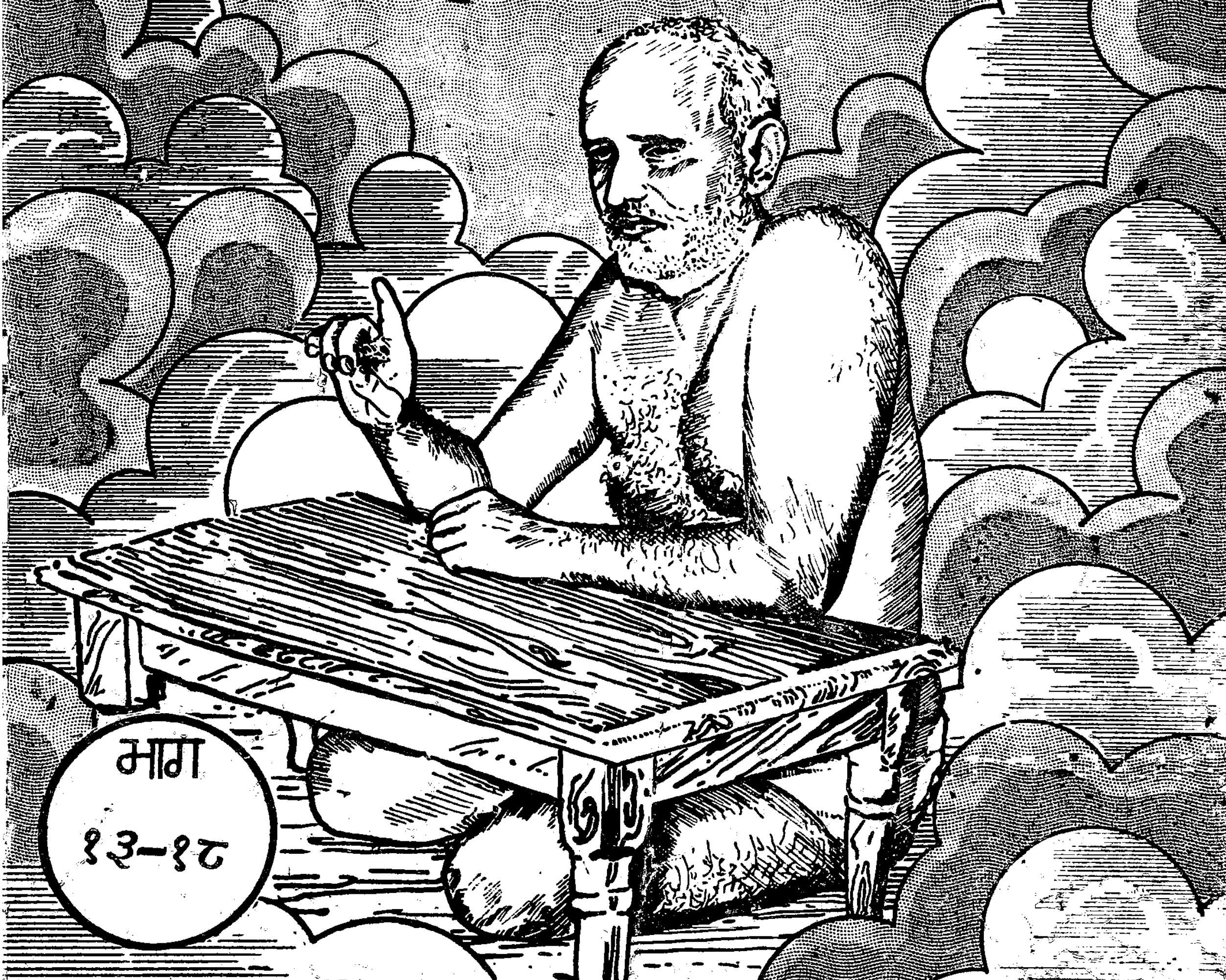

भाग
१३–१८

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला   13 से 18 भाग
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर - मेरठ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए ।

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकाशकीय

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

श्रीमदुमास्वामी द्वारा प्रणीत 'मोक्ष शास्त्र' जैन धर्म व जिनशासन का प्राण है। प्रणेता ने छोटे छोटे सूत्रों में गागर में सागर भर दिया है। इस पर आठ दस शताब्दी पूर्व श्रीमद्भट्टाकलंकदेव, श्रीमद्विद्यानन्दि स्वामी जसे दिग्गजों ने टीकाएँ की हैं। परन्तु टीकाएँ संस्कृत में होने के कारण जनसामान्य के उपयोग में नहीं आतीं।

यह समाज के परमहित व उपकार की बात है कि पूज्य गुरुवर्य्य श्री सहजानन्द जी महाराज ने इस ग्रन्थ पर प्रवचन किये हैं। धर्म के मर्म को महाराज श्री ने किस प्रकार उजागर किया है, यह तो ग्रन्थ के अध्ययन से ही पता लगता है।

जिज्ञासु बन्धुओं से निवेदन है कि इस प्रवचन में संजोये रत्नों का लाभ उठायें जिससे मोक्ष मार्ग में प्रगति हो और सत्य सहज आनन्द प्राप्त हो।

मंगलाकांक्षी
मंत्री
सहजानन्द शास्त्रमाला
मेरठ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मोक्षशास्त्र प्रवचन

एकादश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

सुख शान्ति पानेके उपायका माप—सभी जीवोंको सुख अभीष्ट है और दुःखसे वे डरते हैं, पर सुख वास्तवमें क्या है, वह कैसे मिलता है ? इस बातकी परख कम जीवोंको होती है। बहुधा जिस जीवने जिसमें सुख माना वह जीव उस ओर ही बढ़ जाता है। सुख क्या है अथवा शान्ति और आनन्द क्या है ? सुख तो यद्यपि संसारी सुखका नाम है इसलिए सुख कोई ग्रहण करनेकी चीज नहीं है। दुःख ग्रहण करनेकी चीज नहीं, ऐसे ही सुख भी ग्रहण करनेकी चीज नहीं। दुःख उसे कहते हैं जो इन्द्रियोंको बुरा लगे और सुख उसे कहते हैं जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे। तो इन्द्रियसुख और दुःख ये दोनों ही हेय हैं। जो इन्द्रिय सुखमें रत रहता है वह संसारमें जन्म मरण करता है। इन्द्रियसुख पानेकी चीज नहीं, वह तो हेय है, क्योंकि एक तो इन्द्रियसुख पराधीन सुख है। इन्द्रियाँ भली हों, कर्मोदय सही हो, साधन समागम मिल रहा हो तब सुख मिल पाता है। इतनेपर भी इन्द्रियसुख विनाशीक है, मिला और खत्म हो गया। कोई पुण्यवान मनुष्य हो और जिसको इन्द्रियसुख-सामग्री खूब मिली हों, वह भी रोज-रोज दुःखी रहता है। आकुलता उसके भी रहती है। थोड़े समयको थोड़ा मौज मानता है, फिर दुःख हो जाता और ऐसा सुख जिन्दगी भर भी चाहे मिले, लेकिन इसमें ऐसा विकट कर्मबन्ध होता कि जिस पापके उदयमें भविष्यमें दुःख होता। वास्तविक सुख इन्द्रियसुख नहीं है। वास्तविक सुख, शान्ति, आनन्द तो वह है जहाँ आकुलताका नाम नहीं ? अब जरा इस पहिचानसे सोचो कि वह सुख क्या है ? जहाँ आकुलता रंच नहीं। इसको इस तरहसे देखिये—हम आप जीव हैं, हम आप सबके उपयोग है। कहीं न कहीं ज्ञान बसाया करते हैं। हम अपना ज्ञान कहीं न लगायें, ऐसा कभी नहीं हो पाया।

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञान है, जाननेका काम करता है, कहीं न कहीं लगा रहता है। अब यह ज्ञान कहाँ लगे कि इसको शान्ति मिले और इस ज्ञानको कहाँ लगायें कि इसको दु:ख मिले ? बस यह बात सोचनेकी है।

अन्तः सहजस्वरूपमें उपयोगके लगने न लगनेपर शान्ति अशान्तिकी निर्भरता—देखो संसारके ये सारे पदार्थ भिन्न हैं, हमारे आधीन नहीं हैं। हमारे अधिकारकी बात नहीं कि यह चीज हमारे पास बनी रहे, इन बाहरी पदार्थोंपर हमारा अधिकार नहीं है कि हम जैसा चाहें वैसा ये चलें, परिणमन करें। जब ये दोनों बातें हमारे अधिकारसे बाहर हैं कि बाह्य पदार्थ मेरे नहीं, मेरे साथ रहते नहीं, जैसा मैं चाहूं वैसा ये परिणमें ऐसा नहीं। तब इन पदार्थोंमें अपना ज्ञान फंसायें तो नियमसे क्लेश होता है। अपने जीवनकी प्रारम्भिक घटनाओं से लेकर अब तक जो-जो कुछ बीता उस सबका ख्याल करके सोच लो कि हमने किस-किस पदार्थमें दिल बसाया और उसका फल क्या मिला ? किस-किस जीवमें दिल फंसाया और फल क्या मिला ? आकुलता। जिनका वियोग हो गया ऐसे अपने घरके लोगोंकी बात देखो उनमें दिल बसाया तो फायदा क्या मिला ? अन्तमें गुजरे, वियोग हो गया। तब भी आकुलता की दिल फंसाकर और अब भी सोचकर ख्याल कर आकुलता किया करते हैं। चाहे कोई चेतन पदार्थ हो, चाहे अचेतन हो, बाह्य पदार्थोंमें दिल फंसानेसे याने रागद्वेष करनेसे नियमसे क्लेश होता है, इसमें रंच भी संदेहकी बात नहीं। आप भगवानको क्यों पूजते ? भगवानका भजन क्यों करते कि यह बात भगवानके हुई है, उनका ज्ञान बाहरी पदार्थोंमें नहीं फंसता इसलिए वे अनन्त आनन्दमें हैं। बस उनसे हम सबक सीखने आते हैं कि हे प्रभो ! आप जैसी स्थिति हमारी भी बने कि हमारा ज्ञान किसी बाह्य पदार्थमें न फंसे। किसी में रागद्वेष मोह न जगे और मैं अपने आपके आनन्दस्वरूपमें ही रत रहूं। इस भक्तको यह विश्वास है कि जो भगवानने किया था और जिस उपायसे ये भगवान बने हैं और जिस स्थितिमें भगवान रह रहे हैं वे सब काम हमारे वशके हैं। हम वह उपाय बना सकते हैं। भगवान जैसे शुद्ध पवित्र और अनन्त आनन्दमें आ सकते हैं, क्योंकि भगवान भी जीव, हम भी जीव। जैसे गेहूंके दाने कितने ही हैं, दानेकी अपेक्षा वे एक जातिके हैं, ऐसे ही जीव हम सब जितने भी हैं पवित्र हों, अपवित्र हों, संसारी हैं, वे सब मूलमें एक प्रकारके चैतन्यस्वभाव वाले हैं और सब जीवोंमें एक समान स्वरूप हैं। तो जो उपाय प्रभुने किया वही उपाय हम बनावें तो क्यों नहीं प्रभु जैसी अवस्थाको पा सकते हैं ?

जीवपरिचय करके अपने महत्त्वके अङ्कनका संदेश—यह मनुष्य जीवन बहुत दुर्लभ जीवन है। संसारमें कितनी तरहके जीव हैं, उन सब योनियोंको पार करके हम मनुष्यभवमें आये, पहले तो निगोद जीव (साधारण जीव) थे, संसारमें सर्वत्र इस लोकाकाशमें ठसाठस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भरे रहे, जिनके सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय है। शरीर भी जिनका इतना सूक्ष्म है कि वे एक दूसरेसे टकरा भी नहीं सकते हैं। जिनका ज्ञान न कुछ की तरह है, एक श्वासमें १८ बार जन्म-मरण करते हैं। वह श्वास भी क्या, एक बार नाड़ीके उचकनेमें जितना समय लगे उतने समयका। एक मिनटमें करीब ७२ बार नाड़ी चलती है। जिसके हिसाबसे एक सेकेण्डमें २३ बार जन्म मरण होता है, ऐसे निगोदमें हम अनादिकालसे चले आये। वह निगोदभव बीता, आज प्रत्येक मनुष्य अशान्त है, सुखी नहीं है, दुःख ही दुःख बना रहता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकारकी परवस्तुविषयक वाञ्छा करके अपने चित्तमें दुःख अनुभव करता है। मगर यह तो सोचो कि आजकी हमारी स्थिति कितनी अच्छी है? मन मिला है, पञ्चेन्द्रियां मिली हैं, श्रावककुल मिला है, जैनदर्शन मिला है। सब कुछ मिल जाय, मनुष्य भी हो जायें और एक जैनदर्शनसे वंचित रहे तो वह मनुष्य अंधेरेमें है। जैनदर्शन वस्तुस्वरूपका सही परिचय कराता है। क्या है दुनियामें? ये पदार्थ किस तरह हैं, मैं कैसा हूं, मुझे क्या करना चाहिए, मेरी क्या-क्या स्थितियाँ बनें, कौनसी स्थिति उत्तम है? सब कुछ परिचय इस जैनदर्शनसे मिलता है।

तो कितना हम आपका सौभाग्य है, कितनी अच्छी स्थितिमें हैं हम आप, फिर भी यह मनुष्य कुछ न कुछ बिना प्रयोजन मनमें कल्पनायें उठाकर दुःखी हो रहा है। ऐसे दुःखी संसारी जीवोंपर निगाह डालें तो वहाँ धैर्य मिलेगा कि यहाँ दुःखके लायक कुछ बात नहीं है। बड़ी अच्छी स्थितिमें हैं और यहाँसे हम अपना उत्थान कर सकते हैं। तो दीजिए निगाह। साधारण निगोद जीव अनन्तानन्त हैं। जो पर्याय हम आपको अनन्त काल तक मिली, कुछ सुयोग हुआ, उस साधारण शरीरसे निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येकवनस्पति हुए। वहाँ भी बहुत दुःख। वहाँसे निकले तो दो इन्द्रिय हुए। वहाँ भी क्या सुख? जो चाहे पैरोंसे कुचल देता अथवा मछलियाँ पकड़नेके लिए मार डालता। तीन इन्द्रिय चार इन्द्रियकी पर्यायमें भी दुःख ही दुःख पाते रहे। पञ्चेन्द्रियमें भी नारकी, तिर्यञ्च, देवके भवमें भी आज नहीं हैं, आज श्रेष्ठ मनुष्यभवमें हैं। यह मनुष्यभव सर्वश्रेष्ठ भव है, क्योंकि मनुष्यभवसे मुक्ति प्राप्त हो सकती, मनुष्यभवमें ही संयमकी आराधना हो सकती। देवता तक भी इस मनुष्यभवके लिए तरसते हैं। तो इस दुर्लभ मानव-जीवनको पाकर आज कुछ दुःख का अनुभव न करें। जो कुछ भी स्थितियाँ गुजरती हैं उन्हें कर्मविपाक जानें और हँस खेलकर टालें। यह भी एक उदयकी चीज है, ऐसा जानें और धर्ममार्गका अपना उपाय बनावें।

शान्तिके अर्थ चिन्तन और प्रवर्तनकी दिशा—हम आप जीव हैं, कभी मिटेंगे नहीं। यह मनुष्यभव छूटे बाद भी रहेंगे। तो हम वहाँ क्या रहें, कैसे रहें? इसका भी तो कुछ विचार करना चाहिए। यहाँ तो लोग इस छोटेसे १०-२०-५० वर्षके जीवनभरकी व्यवस्था

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बनाते, पर इसके आगेके सारे भविष्यकालके लिए कुछ भी विचार नहीं बनते। अरे अपने भविष्यके लिए भी तो कुछ विवेक करना चाहिए कि हमारा (आत्माका) कर्तव्य क्या है ? वह कौनसा उपाय बनावें जिससे हम संसारके कष्टोंसे सदाके लिए छूट जायें। तो उस ही उपायके बारेमें कहा जा रहा है कि हम हैं ज्ञानवान्। हम कहीं न कहीं ज्ञान बसाये रहते हैं। साथमें लगा है रागद्वेष मोह। सो जिनमें हम जुटे हैं उससे अगर राग हुआ तो हम उसे अपनाते हैं, द्वेष हुआ तो घृणा करते हैं और मोह तो अज्ञान ही है। सो रागद्वेष मोहवश हम अपना ज्ञान इष्ट अनिष्ट विषयोंमें जुटाये फिरते हैं। क्लेशका कारण यह है कि थोड़ी देरको सोच लो कि हम हैं अकेले सबसे निराले, न हमारा घर, न परिवार, न शरीर, कुछ भी बाह्य वस्तु मेरी नहीं। मैं केवल एक अकेला ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूं और इसका स्वभाव-जानने और अनाकुल रहनेका है। इसके स्वरूपसे, इसकी सत्तासे कष्ट नहीं होता, ऐसा अपने आपको सोचें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानघन हूं, सहज आनन्दमय हूं। यदि दृष्टिमें, उपयोगमें ऐसा स्वरूप आये तो यही अनुभव करने लगेंगे कि यह आत्मा कैसा आनन्दस्वरूप है और इसका यह ही एक कार्य है। बाहरी पदार्थमें उपयोग फंसानेसे क्या गुजारा होगा क्या पूरा पड़ेगा ? यहाँ तो चूंकि आप स्वतंत्र अकेले अपनेमें नहीं रह सकते और कर्मोदय सताते हैं, भूख-प्यास लगती है, और और भी वेदनाएँ चलती हैं इस वजहसे गृहस्थी अंगीकार की है, तो आप गृहस्थावस्थामें रह रहे हैं इसलिए कि हमपर अधर्म हावी न हो जाय, हम पापोंमें अनर्गल न फंस जायें, इसके लिए गृहस्थधर्म है। हमसे कहीं अनर्गल हिंसा प्रवृत्ति न हो जाय इसलिए एक गृहस्थधर्ममें रहते हैं, अणुव्रत जैसा पालन करते हैं। हम कहीं असत्यमें ज्यादा आसक्त न हो जायें इस भावसे आप सत्याणुव्रत जैसा अपना धर्म समझकर गृहस्थीमें रहते हैं। कहीं किसी परवस्तुके चोरी करनेका भाव न हो, चोरीमें न फंस जायें, इसलिए गृहस्थधर्ममें रहते हैं और व्यापार करते हैं धर्मानुकूल और उससे अपना गुजारा करते हैं। यह ही तो गृहस्थधर्मका वास्ता है कि कहीं अधर्ममें प्रवृत्त न हो जायें, कहीं परस्त्रीप्रसंगमें न फंस जायें, इसलिए एक स्त्रीसे धर्मानुकूल विवाह करके उसमें ही संतुष्ट रहनेकी आदत बनाते हैं, यह है गृहस्थधर्मकी बात। तो इस तरह अनेक पाप छूट गए। परिग्रहका परिमाण इस कारण करते कि कहीं तृष्णाका भाव न रहे।

परिग्रहपरिमाणके लाभ—प्रत्येक गृहस्थको अपने परिग्रहका परिमाण कर लेना चाहिए। यह गृहस्थके सुखी रहनेका मार्ग है। मानो ५ लाखका परिमाण कर लिया, अब इससे अधिक अगर आय होती है तो उसको अपनी आय न समझें। जो परिमाण किया है उसके अन्दर ही आय समझें और उसमें गुजारा बनायें। अचानक आय काफी हो जाय तो उसको धर्मकार्यमें लगा दें, यह है परिग्रह परिमाणका अर्थ है। अब एक लौकिक दृष्टिसे देखें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि परिग्रह परिमाणमें क्या-क्या लाभ हैं ? एक तो अपने आत्माको सन्तोष हो गया, परिग्रह एक परपदार्थ है। बहुत परिग्रह जोड़ देनेसे आत्माको कोई लाभ नहीं है, बल्कि जितना अधिक आरम्भ होता जायगा, परिग्रह जुड़ता जायगा उतना ही उपयोग इन पौद्गलिक ठाठोंमें फंसेगा और उससे जीवन व्यर्थ जायगा। परिमाण कर लिया, अब परिमाणसे बाहर अगर कुछ आय हो जाय, करता नहीं है यह आय परिग्रह परिमाणमें ज्यादा, मगर व्यापार है, अचानक हो ही जाता है। कहीं भाव बढ़ गया, कुछ हो गया, अचानक हो ही जाता है तो परिमाणसे अधिक हो जाय तो उसे अपने पास न रखे, धर्मकार्योंमें खर्च कर दे। आखिर लोग इसीलिए तो धनी बनते हैं कि लोकमें हमारा कुछ सम्मान रहे। तो जो मनुष्य परिमाण करके रहता है और अधिक आय होती है और धर्मकार्यमें लगाता है तो उसका इतना नाम और इतना सम्मान होता है कि जितना धन जोड़ने वालेका नहीं हो सकता। तो लौकिक दृष्टिसे भी बुराई न हुई और अपने आत्महितकी दृष्टिसे धीरता, गम्भीरता, शान्ति संतोष भी रहा, और जो अपना धर्माराधनाका कार्य है उसमें अपना समय लगता है।

उपासकोंका कर्तव्य और कर्तव्यके प्रसंगमें तत्त्वपरिचयका उद्यम—गृहस्थ जनोंका करने योग्य कार्य क्या है ? ५ अणुव्रत जैसी प्रवृत्ति रखना। नियम नहीं है, व्रत प्रतिमा नहीं है, मगर उसे अभ्यास रूप ५ अणुव्रत जैसी प्रवृत्ति रखकर हम यह कोशिश करते रहें कि हम अपना ज्ञान ऐसी जगह लगायें कि जहाँ शान्ति संतोष रहता है। तो बाह्य पदार्थोंमें हम ज्ञान लगायें उससे संतोष नहीं मिलता। तो कहाँ लगायें ज्ञानको कि संतोष मिले ? जो बाह्य पदार्थ न हो वहाँ लगायें। याने जो स्वयं आत्मा है वहाँ लगायें। मैं सदा रहूंगा, उसके निकट ही रहूंगा याने वह ही रहूंगा। जो सदा रहेगा मेरे साथ और जिसपर हमारा अधिकार है कि हम जैसा बनायें सो बन सकते हैं। हम शान्त रखें तो शान्त हो सकते हैं, हम अपनेको दुःखी बनायें तो दुःखी हो जाते हैं। जहाँ हमारा अधिकार है, जो आत्मसर्वस्व है, जो हमसे कभी बिछुड़ता नहीं, ऐसे आत्मपदार्थमें ज्ञान लगायें तो निराकुलता मिलेगी। बाह्य पदार्थोंमें ज्ञान जुटायें तो निराकुलता नहीं मिलती। एक ही निर्णय है। बड़ा वही है जो बड़ा कार्य कर ले। इस कार्यके आगे बाहरी पदार्थके समस्त कार्य तुच्छ कार्य हैं, क्योंकि उनसे आत्माका कुछ पूरा नहीं पड़ता। इसीको कहते हैं मोक्षमार्ग। याने बाहरी पदार्थोंके लगावसे छुटकारा मिले तो मोक्ष मिलेगा। इसी मोक्षमार्गका इस मोक्षशास्त्रमें वर्णन किया है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह मोक्षका मार्ग है। सम्यग्दर्शनका अर्थ है आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है, अपनी सत्ताके कारण जो अपने आपका स्वभाव है उस रूपमें अपनी श्रद्धा करना। मैं यह हूं—यह है सम्यग्दर्शन। इस निश्चय सम्यग्दर्शनके पानेके लिए कुछ कोशिश तो करनी पड़ेगी। वह कोशिश है ७ तत्त्वोंकी जानकारी। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष, और जब ७ तत्त्वोंकी यथार्थ जानकारी और इनका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यथार्थ श्रद्धान होना यह उपाय है, इससे फिर हम उसकी जो मूल जड़ है, आत्माका जो सहज स्वरूप है उसपर हम पहुंचेंगे और उसे जिसने जाना, इस निज तत्त्वका आश्रय लिया कि सम्यक्त्व हो गया। बस सम्यग्दर्शन हुआ कि वह मुक्तिमार्गका अधिकारी हो गया। और यह चीज चाहिए ही, सो ७ तत्त्वोंका वर्णन इस मोक्षशास्त्रमें किया है दूसरे अध्यायसे लेकर। पहले अध्यायमें तो जीवतत्त्वकी जानकारीके क्या उपाय हैं, इसका वर्णन किया था। अब दूसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका वर्णन किया जा रहा है। जीव क्या है, जीवका तत्त्व क्या है ? इसका प्रसंग यों है कि पहले अध्यायमें कहा था कि ७ तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसमें प्रथम है जीवतत्त्व। तो जीवतत्त्वकी बात कहनी चाहिए। उसीके वर्णनमें यह पहला सूत्र है—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

जीवके पांच स्वतत्त्व—जीवके स्वतत्त्व ५ हैं—औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव और पारिणामिक भाव। क्या चीज बतायी जा रही है ? जीवके निज घटमें अन्दरमें भीतरमें होने वाले परिणामको बताया जा रहा है, शरीरकी बात नहीं कही जा रही है, कर्मकी बात नहीं कही जा रही है या धन वैभव आदिक ये तो प्रकट भिन्न हैं, वे जीवके नहीं हैं, शरीर भी जीवका स्वतत्त्व नहीं। जीवमें जो भाव उठते हैं, परिणाम उत्पन्न होते हैं वे जीवके स्वतत्त्व हैं। अब उन स्वतत्त्वोंमें कुछ परिणाम, कुछ भाव तो शुद्ध हैं और कुछ अशुद्ध हैं। जिनपर कर्मविपाकका असर है, या कहो कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर जो जीवमें भाव होते हैं वे तो अशुद्ध हैं और जो कर्मके हटनेके कारण जीवके भाव होते वे शुद्ध हैं और जिनका कर्मके हटने और न हटनेका कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा भाव सर्वविशुद्ध कहलाता है। इन ५ भावोंमें तीन तरहके भाव आये—सर्वविशुद्ध भाव, शुद्ध भाव और अशुद्ध भाव। जिसको संक्षेपमें यों समझिये सर्वविशुद्ध भाव तो हुआ आत्माका विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जीवत्व भाव याने जीवका जो स्वरूप है वह सर्वविशुद्ध भाव है। वह सब जीवोंमें एक समान है और जो कर्मके उदयसे हुआ सो औदयिक, कर्मके दबनेसे हुआ सो औपशमिक, कर्मके ध्वंससे हुआ सो क्षायिक और कुछ कर्म दबे रहे, कुछ कर्म उदयमें आ रहे ऐसी अवस्था से होना सो क्षायोपशमिक भाव है। तो हम जीव हैं, हमें अपने आपके अन्दरका पता जरूर रहना चाहिए। अगर नहीं है हमें अपने आपके अन्दरका पता तो अंधकार है और अज्ञान है। उसमें यह जीव कभी सुखी नहीं रह सकता, इसको संतोष नहीं मिल सकता।

जीवके स्वतत्त्वोंका दृष्टान्तपूर्वक संक्षिप्त विवरण—इस सूत्रमें जीवके जो ५ भेद कहे हैं उनके दृष्टान्तमें यों समझिये कि जैसे एक शीशोमें तेल भरा है आखिरी छानका जिसमें बहुत कीट आयी, फोक भी आ जाय जिससे कि तेल गंदा बन जाय तो इसमें जो गंदापन है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह तो हुई एक औदयिक भाव जैसी स्थिति, किस कर्मके उदयसे आत्मामें कषाय जगती है, इस तरहका समझिये कि उस शीशीमें जो फोकका उदय है, फोक बस रहा है या बाहरका कोई कूड़ा बस गया है वह तो हुई गंदगी (मैल) और वह कूड़ा दब जाय, जब कुछ दबनेको होता है, जब कुछ दबा है, कुछ नहीं दबा है ऐसी स्थिति क्षायोपशमिककी है। दब गया कीट, ऊपर तेल बिल्कुल साफ हो गया, यह हुई उपशम जैसी स्थिति और उस तेलको दूसरी शीशी में निकाल लिया जाय तो वह है क्षायिक जैसी स्थिति। ये चार स्थितियाँ नैमित्तिक स्थितियाँ हैं। इसी तरह आत्मामें जब कर्म उदयमें आ रहे हैं क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंका तो यह है औदयिक स्थिति और जिस महाभाग पुरुषके कर्म उपशम जाते हैं, शान्ति हो जाते हैं वह है औपशमिक स्थिति। जैसे उपशमसम्यक्त्व होता है या बड़े मुनिराजका श्रेणीका चारित्र का उपशम हुआ, उपशम श्रेणीमें रहता है। और कुछ कर्म दबे हैं, कुछ उदयमें आ रहे, यह है क्षायोपशमिक स्थिति। जिसके कारण हम आपको यह जानकारी बन रही है। हम आप की जानकारियाँ शुद्ध नहीं हैं और जानना हो ही रहा है तो इसमें ज्ञानावरणके जो सर्वघाती स्पर्धक हैं उनका है उदयाभाव व उपशम तब हमको यह जानकारी बन रही और देशघाती स्पर्धक हैं उनका है उदय, जिससे कि जानने पर कंट्रोल है कि अधिक न जान सकें, याने हम आपका जो जानना बन रहा है इसमें दो बातें हैं—एक तो जानने को छुट्टी दी गई और एक जाननेको दबाया गया ऐसा बीचका ज्ञान, यह क्षायोपशमिक ज्ञान है और जब कर्म दूर हो जाते हैं तो ज्ञान पूरा प्रकट, आनन्दादिक पूरे प्रकट। तो ये सब क्षायिक चीजें हैं और जो जीवका निजी स्वरूप है, जो न कर्मके उदयसे है, न उपशम आदिकसे है ऐसा जो स्वरूप है वह है पारिणामिक भाव, निरपेक्ष परिणाम। जैसे चैतन्यस्वरूप, भव्यत्वभाव, अभव्यत्वभाव।

तो इस तरह ये जीवके ५३ भाव हैं। इन भावोंकी जो जानकारी करे, अपनेमें इन परिणामोंको देखे उसे एक तो यह श्रद्धान ही दृढ़ हो जाता कि इस भावके सिवाय मैं और कुछ नहीं कर सकता दुनियामें। बाहरी पदार्थोंका जो होता है वह मेरे उपादानसे होता है। मैं उसकी परिणति नहीं करता और फिर अपने आपका पता हो तो जिन भावोंसे हटना है हट जायगा, जिन भावोंमें लगना है लग जायगा। एक ऐसा प्रकाश मिलता है कि हम अपना मोक्षमार्ग निभा लेंगे। इस तरह इस सूत्रमें ५ भावोंका वर्णन चल रहा है।

जीवके पञ्च स्वतत्त्वोंका पुनः स्मरण—जीवका निज भाव क्या है, जीवका स्वतत्त्व भाव क्या है? वह ५ रूपोंमें बताया गया है। प्रथम रूप है औपशमिक भाव। जब कर्मकी शक्ति उदय या उदीरणारूपसे प्रकट नहीं हो सके याने कर्म उपशमको प्राप्त होते हैं उस समय जीवके औपशमिक भाव होता है। जैसे कि पानीमें कीचड़ दब जाय, कीचड़का विकार पानीमें न फैल पाये, ऐसी स्थितिको उपशम कहा करते हैं। उपशममें आत्माके विशुद्ध परिणाम होते

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं। क्षायिक भाव किसे कहते हैं ? क्षय मायने अत्यन्त हट जाना। आत्मासे कर्मका हट जाना। तो कर्मके हट जानेसे जो आत्मामें विशुद्ध परिणाम हुए वे क्षायिक भाव कहलाते हैं, और मिश्र भाव क्या है ? क्षायोपशमिक, क्षय और उपशम दोनों मिश्र जहाँ हैं ऐसी स्थितिमें जैसे कुछ मलिनताकी शक्ति क्षीण हो गई कुछ चल रही है ऐसी स्थितिको मिश्रभाव कहते हैं।

जैसे कोदोके दानोंको बहुत-बहुत धोनेपर मानो ५० बार धोनेसे उसमें एक मदशक्ति उत्पन्न होती तो कुछ धोया उस समय कुछ मदशक्ति है, कुछ नहीं है ऐसा क्षायोपशमिक भाव होता है। औदयिक भाव किसे कहते ? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके निमित्तवश जो कर्म-फलमें आते हैं उसका नाम उदय है। उस उदयसे जो भाव बनता है सो औदयिक भाव है। कर्म कैसे फल देता है ? तो जीवने जो पहले कषाय की उस समय जो कर्मबंध हो गया उस कर्ममें प्रकृति भी पड़ी हुई होती है कि यह कर्म इस प्रकारका फल देगा, यह कर्म जीवके साथ इतने दिनों तक रहेगा, यह कर्म इतनी डिग्रीमें फल देगा और उसके प्रदेश होते ही हैं। तो पहले बांधे हुए कर्म जब अपने अनुभागमें आते हैं, उनका अनुभाग खिलता है उस समय उस कर्ममें बड़ा एक विचित्र रूप बनता है, और चूंकि उसका प्रतिफलन हुआ आत्मामें सो आत्मा पर एक अंधकार छाता है, फोटोसी आती है, प्रतिबिम्ब बनता है, उस समय उस प्रतिफलन को यह जीव मानता है कि यह मेरा काम है। बस यह ही फल देना कहलाता है। पारिणा-मिक भाव कहते हैं आत्माका निज स्वरूप वही जिसका प्रयोजन है सो पारिणामिक भाव है।

सूत्रमें "औपशमिकक्षायिकौ" इन दोनों नामोंको प्रथम कहनेका कारण—यहाँ देखना ५ भावोंका कैसा क्रम रखा है औपशमिक याने कर्मके दब जानेसे आत्मामें निर्मलता होना। क्षायिक याने कर्मके नष्ट हो जानेसे आत्मामें विशुद्धि आना, मिश्र याने कुछ कर्म दब गए, कुछ कर्म खिर रहे, कुछ उदयमें हैं ऐसी स्थितिमें मलिन और कम मलिन परिणाम होना। औद-यिक—कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें कषाय, विकार, रागद्वेष अंधेरा जगे। पारिणा-मिक याने कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अपेक्षा बिना केवल सहज अपने आप भाव हो सो पारिणामिक। यहाँ यह बात देखना है कि संसारी जीवोंमें कौनसा भाव अधि-कतर सब जीवोंमें पाया जाता। पारिणामिक भाव है और औदयिक भाव है जो कि अन्तमें समास देकर लिखे हैं। औपशमिक भाव और क्षायिक भाव ये तो भव्य जीवके होते हैं। जिसके सम्यक्त्व हुआ उसके होता। तो सबसे अधिक भाव मिला संसारी जीवोंमें औदयिक और पारिणामिक। तो यहाँ एक आशंका हो सकती है कि सूत्रमें पहले औदयिक और पारि-णामिक कहते, क्योंकि ये बहुत जीवोंमें होते हैं, औपशमिक और क्षायिक तो कम जीवोंमें होते हैं। तो इसका जो क्रम रखा है—औपशमिक क्षायिक, मिश्र, औदयिक, पारिणामिक, ऐसा न कहकर सर्वप्रथम औदयिक और पारिणामिक कहना चाहिए था, क्योंकि ये सब जीवोंमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होते हैं।

तो इसका उत्तर यह है कि यह ग्रन्थ मोक्षशास्त्र है, मोक्षमार्ग है, मुक्तिका उपाय बताने वाला है और औपशमिक क्षायिक ये मुक्तिके मार्गमें हैं, इसलिए मुक्तिके प्रसंगवश सर्वप्रथम औपशमिक क्षायिक कहा गया है। जीवोंको एक विश्वास बने, एक प्रेरणा मिले, साहस जगे मोक्षकी बात सुनकर, इसलिए प्रथम औपशमिक और क्षायिक भावका नाम लिया है। उससे एक धर्मविशेषकी प्रसिद्धि होती है। ये औपशमिक भाव, क्षायिक भाव स्वयं धर्म है, इसलिए प्रथम सूत्रमें इन दो भावोंको कहा है। सूत्रकर्ता कितने सिद्धान्तके जानने वाले और दर्शनशास्त्रके विद्वान् होते थे, व्याकरणके विषयोंके प्रकाण्ड विद्वान् होते थे यह बात सूत्रोंकी सूक्ष्म चर्चासे स्पष्ट होती है। अच्छा तो औपशमिक और क्षायिक—ये दो भाव अच्छे हैं जीवके।

औपशमिक और क्षायिक इन दोनोंमें प्रथम ही औपशमिक नाम रखनेका कारण—अब इसमें भी एक प्रश्न हो सकता है कि इन दोनोंमें विशेष उत्तम कौन है, औपशमिक या क्षायिक ? क्षायिक उत्तम है तो सबसे पहले क्षायिक क्यों न लिखा ? तो उत्तर उसका यह है कि यह बात जतानेके लिए औपशमिक पहले कहा है कि जीवका जब उद्धार होनेको होता है तो सर्वप्रथम उपशम सम्यग्दर्शन होता है। तो चूंकि उपशम सम्यग्दर्शनसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ होता है, इसलिए प्रथम औपशमिक नाम दिया है। जो जीव एक अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर कर्म स्थिति रख रहा है, जिसका अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल शेष रह गया है उस जीवके उपशमसम्यक्त्व हो सकता है। तो सर्वप्रथम उपशमसम्यक्त्व होता है, उसके बाद फिर प्रगति होती है। यह बतानेके लिए पहले औपशमिक भावका नाम लिया। दूसरी बात अब अल्पपनेसे नम्बर भी आया—औपशमिक और क्षायिक भाव। इन दोनोंमें से सबसे कम जीव किसमें होते हैं ? औपशमिक वाले जीव कम हैं या क्षायिक वाले ? वैसे तो यह सोचा जा सकता है कि क्षायिक विशेष निर्मल है तो संसारमें क्षायिक भाव वाले जीव कम होंगे औपशमिक भाव वालोंसे, लेकिन कारण यह है कि उपशमका काल तो अंतर्मुहूर्त है और क्षायिकका काल ३३ सागर तक है संसार-अवस्थामें तो ३३ सागर काल तक क्षायिक भाव वाले जीव जुड़ते जा रहे हैं तो उनकी संख्या अधिक हो गई। और औपशमिक भाव थोड़ी देरको हुआ, अन्तर्मुहूर्तको हुआ, बादमें उपशम नहीं रहता। तो इस कारणसे इन जीवोंकी संख्या विशेष नहीं है तो चूंकि अल्प है संख्या, काल अल्प है इस वजहसे और उस कालमें इकट्ठे होने वाले जीव भी कम हैं तो अल्पताके नातेसे भी औपशमिकका नाम पहले लिया। औपशमिकसे विशेष निरखना है क्षायिक भावमें, अतः औपशमिकके बाद क्षायिक भावका नाम लिया और क्षायिक भाव वाले जीव औपशमिक भाव वाले जीवोंसे विशेष ज्यादा हैं। इस तरहसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह संगत बनाया कि ५ नामोंमें पहले तो औपशमिकका नाम लिया, इसके बाद क्षायिकका नाम लिया।

पांच भावोंके नामोंमें क्षायोपशमिक आदि भावोंको औपशमिक व क्षायिकभावके बाद रखनेका कारण— अब तीसरे नम्बरपर क्षायोपशमिक क्यों कहा ? तो अब जीवोंके परिमाण का नम्बर आया। क्षायोपशमिक भाव वाले जीव औपशमिक और क्षायिक भावसे ज्यादा है असंख्यातगुणे हैं, इस कारण मिश्रका तीसरा नम्बर दिया है। इसके बाद औदयिक भाव कहा है क्योंकि औदयिक भाव वाले जीव इनसे अनन्तगुणे हैं और उसके पश्चात् पारिणामिक भाव दिया। अब सूत्र यह बना— औपशमिक क्षायिक मिश्रऔदयिक और पारिणामिक ये जीव के स्वतत्त्व हैं। यहाँ एक बात और ध्यानमें देनी है कि आचार्य महाराज कितने रहस्यके वेत्ता थे कि उनकी सूत्र-रचनामें कई तथ्य प्रकट होते हैं। यदि इस क्रमसे कहे गए को इस तरह रखा जाय कि एक रेडक्रास (+) चिन्ह बनाया जाय और उसमें औपशमिक और क्षायिक ये एक ऊर्द्ध ऊर्द्ध वाली लाइनमें ऊपर नीचे रख दिया जाय और वे औदयिक और पारिणामिक तिरछी रेखाओंके ओर छोरमें रख दिया जाय और मिश्रको बीचमें रखा तो उसमें यह सीधी बात समझमें आयगी कि इस रेखा वाले भाव तो सम्यग्दृष्टिके होते, ज्ञानीके होते, मोक्षमार्गीके होते। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक और सामने रेखा वाले भाव औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये सब जीवोंमें होते। एक यह विशेषता इस सूत्र रचनासे प्रकट होती है।

पांच भावोंके नामोंके साथ एकवचनमें स्वतत्त्वं शब्द कहनेका प्रयोजन—अब यहाँ एक जिज्ञासा और हो सकती है कि इस सूत्रमें जब ५ भाव कहे हैं तो ५ तो बहुत हो गए ना ? तो स्वतत्त्वं एकवचनमें न कहकर इसे बहुवचनमें कहना था। ये ५ जीवके स्वतत्त्व हैं, ऐसा न कहकर क्या कहा ? ये ५ जीवके स्वतत्त्व हैं—यों एकवचनमें कहा। तो एक वचनमें क्यों कहा ? बहुवचन बोलना चाहिए, क्योंकि भाव ५ हैं और वे स्वतत्त्व हैं। तो स्वतत्त्वानि ऐसा बहुवचन बोलना चाहिये था। इसका समाधान यह है कि यहाँ भावरूप वचन है और ऐसा आपको कई सूत्रोंमें मिलेगा। प्रथम सूत्रमें दिखाया— सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, इसमें सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि बहुवचन है और मोक्षमार्गः एकवचन है। तो अर्थ क्या होगा ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। यह अर्थ न लेना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षके मार्ग हैं, बहुवचन न आयगा, क्योंकि मोक्ष-मार्ग भावरूप है, एक है और साथ ही अलग-अलग मोक्षमार्ग नहीं है कि एक सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग होगा, सम्यग्ज्ञान भी हो, सम्यक्चारित्र भी हो, इन तीनोंकी एकता मोक्षमार्ग है, इसी तरह कहा है— जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरा मोक्षाः तत्त्वं। ये तो ७ हैं। यह तत्त्वं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

एकवचन है मायने जिस तत्त्वका श्रद्धान करनेसे सम्यक्त्व होता है उस तत्त्वकी जानकारी ७ रूपोंमें है। तत्त्व एक है तथा इन सातोंमें अन्तरमें रहने वाला तत्त्व एक ज्ञायक भाव है। यहाँ भाववाची शब्द होनेसे एकवचनमें तत्त्वं शब्द दिया है, ऐसे ही स्वतत्त्वम् भी भाववाची होनेसे एकवचनमें आया, क्योंकि भाव एक है। जीवका भाव है। फिर इसी पर प्रश्न हो सकता है कि ५ भावोंके प्रभाव तो जुदे-जुदे हैं। औपशमिक भावसे कुछ विशुद्धि हुई। क्षायिक भावसे अधिक विशुद्धि हुई। क्षायोपशमिक भावसे मिलमा विशुद्धि हुई और औदयिक भावसे मलिनता। पारिणामिक भाव सत्स्वरूपमें ही है तो जब इनका फल न्यारा न्यारा है तो एकता कहाँ रही? फिर स्वतत्त्वं एकवचन क्यों कहा? तो उत्तर इसका यह है कि यद्यपि इन जीवोंके फल न्यारे-न्यारे तो हैं लेकिन हैं, ये आत्माके भाव। आत्मभाव हैं, एक परिणाम है, इस कारणसे यहाँ बहुवचनमें नहीं लिया है और ऐसा बोलते ही हैं—गायें धन हैं, जिसके पास अधिक गायें हों तो कहते हैं ना व्यवहारमें कि इसके पास गायधन हैं। तो गाय ही धन हैं ऐसा व्यवहारमें बोलते हैं तो वहाँ गाय बहुवचन बोला और धन एकवचन बोला गया। भावोंकी एकतामें इस प्रकार प्रयोग होता। सर्वप्रथम तो यह जीवका स्वतत्त्व है।

विकाररूप औदयिक भावको जीवका स्वतत्त्व कहनेका अर्थ—यहाँ एक जिज्ञासा यह हो सकती है कि जो औदयिक भाव है वह जीवका स्वतत्त्व कैसे? जीवके स्वरूपसे क्या मलिनता होती है? औदयिक भावमें तो कषाय ग्रहण किया, विकार ग्रहण किया। यह तो मलिनता है, इस जीवका तत्त्व कैसे हो सकता? उत्तर—यह तत्त्व सहज भाव है, ऐसा न जानना एक जीवका परिचय करा रहा है दूसरे अध्यायमें। तो जीवकी औदयिक व स्वाभाविक आदि सभी तरहकी बातें कही जायेंगी। तब तो जीवके विषयमें परिचय मिलेगा कि जीव कैसा है? तो औदयिक भाव यद्यपि मलिन भाव है और कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुआ है, मगर परिणति जीवकी ही है, वह पुद्गलकी परिणति नहीं है। पुद्गल उदयमें आया, कर्म उदयमें आया, उसकी झाँकी आत्मामें पड़ी। अब यह जीव उसे अपना मान लेता है। और ज्ञानमें विकल्प करने लगा। तो यह जो विकल्प उठा है यह पुद्गलकी परिणति नहीं है। जैसे दर्पणके आगे पिछी रख दिया तो पिछीमें जितने ३-४ रंग हैं, ऐसा ही रंगीन चित्रण दर्पणमें आ गया। तो दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया पिछीका तो वह प्रतिबिम्ब दर्पणके स्वभावसे तो आया नहीं यह बात तो ठीक है, वह तो निमित्तभूत पिछीका सन्निधान पाकर आया। सो भले ही निमित्त सन्निधानमें हो, पर दर्पणमें जो फोटो है, प्रतिबिम्ब है वह दर्पण की परिणति है, पिछीकी परिणति नहीं है, हुआ पिछीका निमित्त पाकर।

जैसे सूर्यप्रकाशके उजेलेमें हाथ आड़े कर दिया तो नीचे छाया आ गई। तो यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

छाया हाथका सन्निधान पाकर आयी, इतनी बात तो ठीक है, मगर वह छाया हाथकी परिणति नहीं, इस जमीनकी परिणति है जहाँ कि छाया हो रही। ऐसे ही कर्म उदयमें आते हैं और उनका सन्निधान पाकर जीवमें सुख दुःख रागद्वेष ये बातें उत्पन्न होती हैं। हुई नैमित्तिक लेकिन ये परिणतियाँ जीवकी हैं, यह बतानेके लिए औदयिक भावको स्वतत्त्व कहा, अन्यथा अनेक दार्शनिक ऐसे हैं जो जीवमें विकार ही नहीं मानते। एक ब्रह्म है, अविकारी है, उसमें विकारका नाम नहीं। विकार तो प्रकृतिका धर्म है। तो ऐसे जीवको विकाररहित मानने वाले अनेक लोग हैं, पर ऐसा माननेसे काम न चलेगा। अगर जीव विकाररहित है तो मोक्ष के लिए उद्यम क्यों करना? जब मुझमें विकार नहीं, ऐब नहीं, क्लेश नहीं तो फिर मुक्तिके लिए उद्यम क्यों किया जा रहा? जिसके फोड़ा-फुंसी नहीं वह मलहम-पट्टी करता है क्या? अगर कोई मलहम-पट्टी करे भी बिना फोड़ेके तो लोग उसे उन्मत्त कहेंगे। तो ऐसे ही जब जीवमें विकार ही नहीं तो फिर धर्मध्यान क्यों, ज्ञानार्जन क्यों? तो मुक्तिका प्रयास क्यों किया जाता है? इससे मानो कि जीवमें विकार है और वह जीवका स्वतत्त्व है दूसरे पदार्थ का नहीं। तो यहाँ औदयिकको स्वतत्त्वके मानें याने परपदार्थका निमित्त पाकर हुआ है विकार, लेकिन विकार परिणमन किसका है? जीवका है, इसलिए जीवका स्वतत्त्व कहा गया। यहाँ तत्त्वके मायने शुद्ध भावसे नहीं, किन्तु जो जीवका गुण हो, भाव हो, स्वभाव हो, विकार हो, कुछ भी हो, जो जीवका परिणाम है उसको स्वतत्त्व कहा।

जीवके स्वतत्त्वोंकी सही पहिचानका प्रभाव—सूत्रमें औपशमिक आदि ५ नाम रखे गए और स्वतत्त्व एकवचनमें रखा गया है। जिससे यह सिद्ध होता कि सबके साथ स्वतत्त्व लगाओ। औपशमिक स्वतत्त्व है, क्षायिक स्वतत्त्व है, मिश्र जीवका स्वतत्त्व है, औदयिक जीवका स्वतत्त्व है, पारिणामिक जीवका स्वतत्त्व है, याने जीवका धन क्या, वैभव क्या, समृद्धि क्या? कहाँ रहता है, कैसे रहता है? इन सब बातोंका उत्तर इस भावमें आ जाता है, जो अपने भावोंमें रहता है। जीवका सर्वस्व भाव ही है। जीवका जो कुछ प्रयोजन बनता भला बुरा वह अपने भावसे बनता। इस तरह यह जीव भाव भावका स्वामी है, अन्य पदार्थका स्वामी नहीं, अधिकारी नहीं। इस जीवपर सबसे बड़ी विपत्ति है मोह छानेकी। यह मोही जीव अनुभव नहीं करता ऐसा कि इस मनुष्यजीवनका एक-एक क्षण बड़े महत्त्वका है। उसे तो मोहमें ही चतुराई और अपना बड़प्पन विदित होता है। लेकिन यह मोह, यह तो जीवके लिए कलंक है, आनंदका बाधक है, विकासका बाधक है। तो सबसे बड़ी विपत्ति है इस जीव पर अज्ञानकी। किसीके पास काफी धन हो, परिवार हो, लौकिक सुख-सामग्री हों, किन्तु खुद का ज्ञान नहीं कि मैं खुद क्या हूं, तो वह तो एक दयापात्र है, क्योंकि वह शान्ति कभी पा ही नहीं सकता। सम्यक्त्व हुए बिना शान्तिका वास्तविक अधिकारी कोई नहीं हो सकता। चीजें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं, मौज मान रहा, बग्घियोंमें चले, मोटरमें चले, पहरेदार रहें, आज्ञाकारी नौकर रहें, ये सब कुछ होनेपर भी उस जीवको चैन नहीं है। कहाँ उपयोग लगाये तो उसे शान्ति मिले ? बाह्य पदार्थोंमें उसे श्रद्धा है, बाह्य संयोगसे ही अपना महत्त्व मानता है तो वह अपनेमें ठहरेगा कैसे ? यों कहो कि अज्ञानी धनसम्पन्न भी हो तो भी वह गरीब है, और आत्मस्वभावका परिचय कर लेने वाला ज्ञानी चाहे खोम्चा फेरकर जीवन निर्वाह करता हो अथवा भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करता हो, फिर भी वह गम्भीर है, क्योंकि आत्माका धन कुछ भी बाहर नहीं है जिससे कि लेखा लगे कि यह इतना धनसम्पन्न है। बाहरी पदार्थोंसे धनिकता नहीं कही जा सकती। तब फिर सम्पन्न कैसे है यह जीव ? जिसने अपने स्वरूपका परिचय पाया, जगतके बाह्य पदार्थोंका परिचय पाया, जिसके सहज ही बाह्य पदार्थोंके प्रति उपेक्षाका भाव जगा, ऐसा पुरुष ही संतोषका अधिकारी होता है। अब सूत्रमें इतनी बात सिद्ध हुई कि जीवके निजी भाव ये ५ हैं।

अब यहाँ एक प्रश्न और होता सूत्ररचना देखकर कि जब ५ भाव हैं जीवके तो लगातार ५ नाम ले लेना चाहिए था। इसे कहते हैं द्वन्द्व समास। यों कहते कि औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक—ये जीवके भाव हैं, पर सूत्रमें ऐसा नहीं कहा। क्या कहा सूत्रमें कि औपशमिक, क्षायिक—ये दो भेद हैं और मिश्र भी। और औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व हैं। यहाँ हम (प्रवक्ता) सूत्रका सही हिन्दी अनुवाद कर रहे। सुननेमें बड़ा अटपटासा लगता होगा। औपशमिक और क्षायिक– ये दो भाव हैं और मिश्र भी और औदयिक, पारिणामिक भी जीवके स्वतत्त्व हैं। यहाँ ऐसा लगता होगा कि क्या आचार्य महाराज भूल-भूलकर भूल रहे ? पहले तो उन्होंने बताया कि जीवके दो भाव हैं—(१) औपशमिक और (२) क्षायिक और फिर कहा कि और मिश्र भी, फिर कहा कि और औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व हैं। तो ऐसा रुक-रुककर क्यों कहा ? क्या कहते हुएमें भूल गए और उसे सोचकर फिर कहा ? तो ऐसी बात नहीं है। वहाँ ऐसी विभक्ति दी, ऐसा पद बनाया, ऐसा बीचमें तत्त्व दिया कि जिससे बोलनेमें तीन टुकड़े हो गए और इस तरह हो गए कि मानो आचार्य महाराजको भी पूरी खबर न थी। पहले दो भेद कहा, फिर ध्यानमें आया होगा सो मिश्र कहा और फिर ध्यानमें आया होगा सो औदयिक और पारिणामिक कहा। मगर यह आशंका ठीक नहीं।

आचार्य महाराज आगे क्या कहेंगे, वह सब उनके हृदयमें वर्तमानमें भी रहता है। ऐसे तीन तरहके टुकड़ा देकर बतानेका प्रयोजन यह है। अगर एक साथ ५ कह देते तो मिश्र का कुछ अर्थ न लगता। न जाने क्या अर्थ लगता ? मिश्र मायने मिलवाँ। अब काहेसे मिला है वह मिश्र ? पुद्गलसे मिला हुआ है या इन ५ भावोंमें अटपट किसीसे मिला हुआ है, इसका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निर्णय नहीं होता। और जब अलग दिया औपशमिक, क्षायिक भाव और मिश्र तो अलग देने से यह अर्थ निकला कि जो हमने पहले बोला उसका मिश्र है। अगर एक धारामें कह देते ५ भाव तो मिश्रका यह अर्थ खिलता नहीं। न जाने काहेका मिश्र बनता है ? इस कारणसे ये दो टुकड़े रखने पड़े—औपशमिकक्षायिकौ और मिश्रः। जब ये दो टुकड़े अलग रखना आवश्यक हुआ तो बाकी फिर तीसरी बारमें कहने पड़े कि औदयिकपारिणामिकौ औदयिक और पारिणामिक। यहाँ चर्चा यह चल रही है कि जीवका निजी धन क्या है ? जीव कहाँ बसता है ? जीव क्या करता रहता है, क्या भोगता रहता है ? जीवकी दुनिया कितनी है, इसकी यह चर्चा है। जीवके ये ५ भाव हैं। भले ही उदयसे हुआ मलिन भाव है, फिर भी परिणाम जीवका है, ये ५ जीवके परिणाम हैं, इस तरह इस सूत्रमें कहा गया है। अब सूत्र रचना पर ही देखते जाइये कि सूत्रकारने कितना व्याकरणके नियमोंके अनुकूल सूत्र बनाया।

मिश्रके बजाय सीधा क्षायोपशमिक शब्द न कहने और मिश्र शब्दको मध्य में कहने का कारण—अब एक आशंका हो सकती कि जिसमें दिमाग परेशान हो कि मिश्र न जाने किसका ? तो उससे तो अच्छा यह था कि मिश्र नाम न देकर क्षायोपशमिक नाम ही दे देते—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक। मिश्र शब्द क्यों दिया ? तो इसका उत्तर यह है कि व्याकरणके नियम ऐसे होते हैं कि शब्द कमसे कम रखना चाहिए। मिश्रमें तो दो ही शब्द आये और क्षायोपशमिकमें तीन शब्द और बढ़कर ५ हो जाते हैं और वैयाकरण लोग सूत्ररचना करते समय कहीं एक अक्षर कम हो जानेकी रचना बन जाय तो उनको बहुत प्रसन्नता होती है।

जैसे गृहस्थको पुत्रोत्पत्तिसे खुशी होती है, ऐसे ही सूत्रकार संक्षिप्त शब्द-रचना बन जानेसे खुशी मानता है। तो यहाँ गौरव हो जाता, सूत्र बढ़ जाता, संख्या ज्यादा हो जाती शब्दकी, इस कारण मिश्र शब्द दिया है। जिसका अर्थ तो क्षयोपशम है, मगर यह तो बुद्धिमानोंके लिए ग्रन्थरचना होती है और उसका भाव बुद्धिमान बताते हैं, पीछे सर्वसाधारणमें बात फैल जाती है, मगर शुरूवात बुद्धिमानोंसे होती है। वे अपने आप जान जायें कि औपशमिक, क्षायिक भाव अलगसे कह कर उसके बाद मिश्र कहनेसे उन्हीं दोनोंका मिश्र आ गया। तो सूत्रमें ५ भाव बने– औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक। इन पाँचोंके बीचमें मिश्र क्यों दिया ? तो बीचोबीच मिश्र देनेका अर्थ है कि यह मिश्र शब्द पूर्व अर्थात् दोनोंमें अपेक्षित है। याने मिश्र भाव भव्योंके भी होता, अभव्योंके भी होता, मोक्षगामियोंके भी होता और संसारमें रुलने वालोंके भी होता। मिश्र तो अनेक प्रकारके हैं। जो सम्यक्त्वसहित है वह मोक्षमार्गी है और जो सम्यक्त्वरहित है वह संसारी जीव है। तो मिश्र शब्दको बीचमें कहनेसे यह ध्वनित होता कि मिश्रभाव ऐसा व्यापक है कि १२ वें गुणस्थान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तक तो ज्ञानियोंके रहता है और अभव्य हो, मिथ्यादृष्टि हो, सभीके मिश्रभाव चलता है।

"जीवस्य" शब्दके कहनेकी आवश्यकता एवं पञ्च भावोंके विषयमें अपना ईक्षण—ये ५ तत्त्व किसके हैं ? जीवके। कोई पुद्गलके न समझ ले, इसलिए 'जीवस्य' स्वयं एक शब्द डालना पड़ा, क्योंकि उसके बिना कुछ अर्थ नहीं बनता। अगर 'जीवस्य' शब्द इस सूत्र में न रखते तो अर्थ होता औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक —ये स्वतत्त्व हैं, अपने तत्त्व हैं। अब किसके अपने तत्त्व हैं ? कोई पुद्गलका कह देंगे, और ऐसा दार्शनिकोंने किया भी है। तो ये ५ भाव जीवके हैं अन्यके नहीं, ऐसा प्रसिद्ध करनेके लिए सूत्रमें 'जीवस्य' शब्द कहा। इस तरह हम आप इस वक्त भी क्या लिए हुए हैं ? क्या अपने पास वैभव है, वह सब परिचय इन ५ भावोंके परिचयमें मिलेगा। हम आप सबके इस समय क्षायिक भाव तो है नहीं, क्योंकि क्षायिक भावमें बहुत पहले होने वाला भाव क्षायिक सम्यक्त्व है। तो जिस जीवके क्षायिक सम्यक्त्व हुआ वह कलिकालमें, पंचमकालमें जन्म काहेको लेगा ? तो हम आपके क्षायिक भाव इस समय बिल्कुल नहीं है, किन्तु होते तो हैं किसीके। यह तो सब जीवोंकी बात कही जा रही है कि जीवके ये ५ प्रकारके भाव हैं। इस वर्णनसे एक बात यह बनती है कि मैं बहुत सीधा सहज स्वरूप लिए हुए हूं। हममें यह आफत कहाँसे आ गई ? जब मेरे स्वरूपमें विडम्बना नहीं, विपत्ति नहीं, मलिनता नहीं तो यह मलिनता आ कैसे गई ?

समाधान—निमित्तनैमित्तिक योग और उपादानकी शक्ति, इसकी समझसे इस शंका का हल हो जाता है। जीवकी ऐसी कला है कि वह ऐसे कर्मविपाकका सन्निधान पाकर अपने में ऐसा विकल्प बना लेता है। हम आप विकल्पसे बरबाद हो रहे हैं। कम धन है इससे जीवका कोई नुक्सान नहीं। सुविधायें कम हैं, इससे जीवका कोई नुक्सान नहीं। लोकमें निंदक ज्यादा हैं इससे जीवका कोई नुक्सान नहीं। दुनियामें प्रशंसा नहीं मिल पा रही, इससे जीवका कोई नुक्सान नहीं, ये सब बाह्य तत्त्व हैं। मैं तो अपने सहज भावरूप हूं, पारिणामिक भावरूप हूं, स्वभावकी ही चर्चा जहाँ है, निरखन जहां है वह है स्वाभाविक चीज। तो ऐसा न रहकर यह जो विकट जाल बन रहा है मुझमें, बस यह ही मुझको बरबाद करने वाला है। और दूसरा कोई जीव मेरा बिगाड़ नहीं कर सकता। तो जब अपनेमें चोर घुसा है, अपने अन्तरङ्गमें जब शत्रु भिड़ा है तो उसके मुकाबलेमें तो हम केवल एक ज्ञानभावनासे कर सकते हैं। तो अपनेमें ज्ञानभावना भायें कि मैं सहज ज्ञानस्वरूप हूं। मेरेमें किसी परका सम्बंध नहीं। मैं अपने आप सहज आनन्दस्वरूप हूं, यह बोध होता है जीवके तत्त्वोंकी छंटनी करने से। ऐसे ये ५ जीवके स्वतत्त्व हैं।

द्रव्यार्थिक दृष्टि और पर्यायार्थिक दृष्टिसे समझे गये स्वतत्त्वोंके त्याग अत्यागका परिचय—प्रकरण यह चल रहा है कि जीवके स्वतत्त्व क्या हैं ? औपशमिक, क्षायिक, क्षायोप-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शमिक, औदयिक और पारिणामिक, ऐसे ५ तत्त्व सुनकर एक शंकाकार यह कह सकता है कि यह बताओ कि औपशमिक आदिक भाव इस आत्मासे छूटते हैं या कभी नहीं छूटते ? याने इन भावोंका परित्याग होता है या नहीं ? दो बातें रखीं जीवके साथ। औपशमिक आदिक भाव सदा रहते हैं या छूट जाते हैं ? अगर छूट जायें तो जीवका स्वभाव छूट गया, स्वतत्त्व छूट गया। तो जीव कुछ न रहेगा, और कहो कि नहीं छूटता, औपशमिक आदिक जीवके स्वतत्त्व हैं और सदा रहते हैं तो सदा जीवके साथ रहेंगे तो मोक्ष नहीं हो सकता। औपशमिक, क्षायोपशमिक आदिक बने रहें तो फिर वे भगवान क्या मुक्त हैं ? वे तो संसारी हैं। तो ये ५ तत्त्व हैं, छूटते हैं तो जीव नहीं रहता। नहीं छूटते हैं तो मोक्ष नहीं बनता। तब फिर यह स्वतत्त्व क्या कला है, कैसे होते हैं ? तो उत्तर इसका यह है कि इस विषयमें अनेकान्तकी विधि जाननी पड़ेगी। द्रव्यार्थिककी दृष्टिसे पारिणामिक भाव अनादि अनन्त भाव है, वह नहीं छूटता। शुद्ध पारिणामिक जीवत्व भाव, चैतन्यस्वरूप स्वभावका परित्याग नहीं होता। और पर्यायार्थिकनयसे बताये गए औपशमिक औदयिक आदिक भावोंका त्याग हो जाता है, तो उत्तर यह मिलेगा कि कथञ्चित् स्वभावका (स्वतत्त्वका) त्याग होता है कथञ्चित् नहीं होता। द्रव्यदृष्टिसे पारिणामिक स्वतत्त्व हैं, औपशमिक आदिक स्वतत्त्व हैं। उनका त्याग नहीं होता। पर्यायार्थिक दृष्टिसे औपशमिक आदिक भाव हैं और वे पर्याय रूप हैं, औपशमिक हैं, उनका त्याग हो गया तो कहीं यह न समझना कि स्वभावका त्याग हो गया तो जीव न रहा। यह स्वभाव नहीं, यह स्वतत्त्व है। स्वभाव तो एक जीवत्व चैतन्यभाव है, उसका त्याग नहीं होता।

जैसे कोई पूछे कि बताओ अग्निका स्वभाव है गर्मी। अग्निका स्वभाव छूट जाय तो अग्निका अभाव हो गया और स्वभाव न छूटे ऐसा कभी देखा नहीं जाता, अग्नि बुझ जाती तो वहाँ एक यह ही समझना कि अग्नि कोई द्रव्य नहीं है, द्रव्यदृष्टिसे तो पुद्गल स्कंध है, वह कोई पर्यायमें आया है। गर्मी मिट जाय तो कहीं स्कंधका विनाश नहीं होता। तो ऐसे औपशमिक आदिक भाव मिट गए, क्षायिक भाव रह गया, पारिणामिक तो रहेगा ही, जीवका अभाव नहीं होता और मोक्षकी बात इस स्वतत्त्वके त्यागसे मोक्ष होता और स्वतत्त्वका त्याग न होनेसे मोक्ष होता, ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं की, कोई सिद्धांत नहीं बनाया। सिद्धांत तो यह है कि जीव अनादि अनन्त सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करे, आलम्बन ले तो चूंकि ज्ञानमें सहज ज्ञानस्वरूप ही समा गया वहाँ निर्विकल्प समाधि बनती है और वह मोक्षका मार्ग बनता है।

शुद्ध पारिणामिक भावकी दृष्टिकी श्रेयस्करताका प्रकाश—जो जीवके ५ तत्त्व कहे गए हैं वे आत्माके भाव हैं, इस कारण स्वतत्त्व है। उनमें यह छांट करनी होगी कि अनादि अनन्त सहज स्वतत्त्व क्या है और औदयिक स्वतत्त्व क्या है ? जो औदयिक स्वतत्त्व है उसका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विनाश होनेपर ही आत्माका विनाश नहीं होता। जो सहज स्वभावतत्त्व है उसका कभी त्याग होता ही नहीं। संसार अवस्थामें भी है और मुक्त अवस्थामें भी है चैतन्यभाव। जैसे एक लौकिक उदाहरण ले लो—चक्षुका स्वभाव क्या है ? रूपकी उपलब्धि कर लेना, याने चक्षुके व्यापारसे रूपका ज्ञान होता है, काला पीला वगैरा। तो चक्षु रूपकी उपलब्धिका स्वभाव रखता है और किसी समय ये चक्षु रूपको न देखें और ध्यान दूसरी ओर हो अथवा कर लें तो अगर चक्षुरूपको नहीं जान रहा, नहीं देख रहा याने चक्षुका उपयोग रूपकी उपलब्धिके लिए नहीं किया जा रहा तो क्या चक्षु नष्ट हो गयी ? नष्ट तो नहीं हुई अथवा और दृष्टान्त लो। जैसे चक्षु क्या है ? एक नामकर्मकी रचना, और उसका काम क्या है ,उपयोग क्या है कि उसके साधनसे रूपका ज्ञान कर लेना। तो अब जहाँ क्षयोपशमका अभाव हो जाता, क्षायिक केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो क्षायिक केवलज्ञान होनेपर क्या, रूपका ज्ञान रहता है ? क्षायोपशमिक भाव नहीं रहता तो क्या नेत्र भी मिट गया ? भगवानके केवल नेत्र रहते हैं। चक्षु हैं, द्रव्येन्द्रिय हैं तो स्वभावका त्याग नहीं किया क्या ? यह प्रश्न न रखें, किन्तु सहज स्वभाव है, उसका त्याग नहीं होता। स्वभाव शब्दमें यह अर्थ पड़ा है—स्वका भाव मायने होना। अब स्वका होना औपशमिक भी है और सहज भी होता है। तो जो सहज स्वभाव है उसका तो त्याग नहीं होता। जो औपशमिक आत्मामें परिणमन है उसका त्याग होता है। हैं ये सब जीवके ही भाव, ये पुद्गलमें नहीं होते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र, क्षायिक ज्ञान जो भी इन ५३ भावोंमें कहा ये अजीवके नहीं हैं, जीवके ही हैं। इसी कारण सूत्रमें जीवस्य शब्द डाला। ये ५ स्वतत्त्व जीवके हैं। अब संक्षेपमें तो बता दिया, जीवका धन, जीवका वैभव, जीवका सर्वस्व, जीवमें होने वाली बात ये ५ हैं। अब उन ५ को और विशेष समझनेके लिए इनके भेद भी कहने चाहिएँ, ऐसा एक प्रसंग पाकर सूत्रकार सूत्रमें भावोंके भेद कहते हैं।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम् ॥२॥

पञ्च जीवतत्त्वोंके भेदोंका निर्देश—अर्थ इसका यह है कि जैसा क्रम भावोंका बताया गया है—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, उसके अनुसार इनके भेद समझना। औपशमिकके भेद, क्षायिकके ९ भेद, क्षायोपशमिकके १८ भेद, औदयिकके २१ भेद और पारिणामिकके ३ भेद। व्याकरणके अनुसार क्या अर्थ होता है ? यहां जो शब्द दिया है द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः। यहाँ भेदके साथ बहुव्रीहि समास है, ये हैं भेद जिनके। पहले द्वन्द्व समास है, फिर बहुव्रीहि समास है। इन पांच भावोंके क्रमसे २+९+१८+२१+३=५३ भेद होते हैं। उनसे विभक्ति बदलकर कहा तो औपशमिक आदिक भावके क्रमसे ये भेद है। और सभी भेद शब्दको सबके साथ लगा सकते। औपशमिकके दो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भेद, क्षायिकके ९ भेद, क्षायोपशमिकके १८ भेद, औदयिकके २१ भेद और पारिणामिकके ३ भेद। ये भाव हैं क्या ? कर्मके दबनेसे आत्मामें जो निर्मलता जगती है वह औपशमिक। ऐसे औपशमिक भाव दो प्रकारके होते हैं जिनका आगे वर्णन होना है। कर्मके हट जानेसे जो आत्मामें निर्मलता जगती है वह कहलाता है क्षायिक भाव। उसके ९ भेद कहेंगे। कुछ कर्म हट रहे, कुछ कर्म दब गए, कुछ उदयमें आ रहे, ऐसी स्थितिमें आत्मामें जो एक मिश्र दशा होती है, कुछ मलिनता, कुछ विकास उसे कहते हैं क्षायोपशमिक परिणाम। उसके १८ भेद हैं। जहाँ कर्मका उदय है याने कर्ममें एक आवरण उत्पन्न हो रहा। जैसे उपाधिसंसर्गमें विकार उत्पन्न होने लगते हैं, उसमें एक तामससी बात आ रही है तो उसका निमित्त पाकर जीवमें भी उस प्रकारका परिणाम हो रहा, यह कहलाता औदयिक भाव, इसके २१ भेद हैं। और जीवमें जीवके साथ सहज ही जो चल रहा याने कर्मकी कोई अपेक्षा नहीं उसे कहते हैं पारिणामिक भाव ये ३ भेद वाले हैं। यों भावोंके ये भेद बताये जा रहे हैं तो सर्वप्रथम औपशमिक भावके दो भेद कौन हैं, यह बता रहे हैं।

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

औपशमिक भावकी प्रथम उपादेयताके प्रयोजनसे अपने आपका अपनेमें कुछ निरीक्षण—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र—ये दो भेद औपशमिक भावके हैं। सम्यक्त्वके मायने सहीपन, समीचीनता याने दोष न रहे तो अपने आप वस्तु सही बन जाती है। आत्मामें सबसे बड़ा दोष है मिथ्या अभिप्राय। यह आशय बसना कि यह शरीर मेरा है, वैभव मेरा है, परिवार मेरा है, और ये किसके होंगे ? इस प्रकारका परपदार्थोंके प्रति अहंपनेका भाव, ममका भाव जो बस रहा है वह सबसे बड़ा दोष है, सबसे महान पाप है। जो और पाप कहे गए हैं उन पापोंका भी सिरताज है यह अज्ञानभाव, क्योंकि यहाँ तो मूलमें ही पलट खा गया। कुछ इसको होश ही नहीं। एक अज्ञानसे ऐसा मतवाला हुआ, ऐसा बेहोश हो रहा है कि उसे सही भान कुछ नहीं होता। यहांके पदार्थोंमें कोई जान ले कि यह पुस्तक है, घड़ी है, लालटेन है तो ऐसा सही जाननेसे कहीं सही बात न समझना। यह तो लौकिक बात है, पर आत्मा और अनात्मा, मैं क्या हूं और जो मैं नहीं हूं वह क्या है, इन दो बातों का यथार्थ ज्ञान हो तो उसे कहते हैं होश। अपनी ही सुध न हो तो उसे होश कैसे कहा जायगा ? मैं क्या हूं, इसकी ही खबर नहीं तो उसे होश नहीं कह सकते। भले ही लोग प्रयोग तो करते हैं—मैं आता हूं, मैं खाता हूं, मैं जाता हूं, मैं बोलता हूं, मैंने किया, मैं कर दूंगा, यों मैं का प्रयोग तो लोग किया करते हैं, पर वह मैं वास्तवमें क्या हूं, इसका भाव नहीं है। वह शरीरको ही मैं मान रहा। जो यह शरीर है, बस इसीको लक्ष्यमें लेकर कहते हैं कि मैं कर दूंगा, मैं करता हूं, मैंने किया। पर यह शरीर मैं होता तो क्या मैं मिट जाने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वाला हूं ? क्या मैं ऐसा हूं जो मिटेगा ? कोई भी पदार्थ मिट जाने वाला नहीं है। शरीर भी नहीं मिटता, पर शरीरकी शक्ल मिट जाती है। शरीर जल गया, राख हो गयी तो कुछ तो रहा। राख बनकर छोटे-छोटे स्कंधोंमें बंट गई, पर सत्त्व तो रहा। जो पदार्थ है उसका कभी नाश नहीं होता, जो नहीं है उसका कभी सद्भाव नहीं होता। तो मैं हूं, मेरा कभी अभाव नहीं है, मैं कभी मिटूंगा नहीं। तो जो मैं नहीं मिटता वह मैं क्या हूं, इसकी स्पष्ट खबर नहीं। जिसको स्पष्ट खबर होती है उसकी दृष्टिमें सर्व जगतसे निराला केवल ज्ञानज्योति-मात्र अंतस्तत्त्व उसके उपयोगमें स्पष्ट रहता है। मैं यह हूं—संसारके जीव किस बातसे दुःखी हैं ? अपने स्वरूपका परिचय नहीं है, इस कारण उपयोग कहाँ टिके ? कहाँ लगे ? बाह्य पदार्थोंमें उपयोग लगता है तो पार नहीं पड़ सकता, क्योंकि वह बाह्य पदार्थ है, मेरा उसपर अधिकार नहीं, और मैं उसके बारेमें सोचता हूं, तो यह विकल्प इस जीवको दुःखी कर रहा है. सब जीवोंको दुःख है तो अपने स्वरूपका भान नहीं, इसका दुःख है। सारे जीवनभर उद्यम करना है तो बस एक सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरणका उद्यम करना है, क्योंकि वैभव की तो यह बात है कि जो वैभव आज पाया है, इससे कई गुना वैभव अनेक भवोंमें मिला, मिलता ही है।

जो समागम आज पाया है वह समागम कोई मेरे अधिकारकी चीज नहीं। इससे भी अच्छे-अच्छे समागम अनेक बार मिले, और समागम भी क्या, कोई किसी दिशासे आया, कोई किसी गतिसे भ्रमण करता हुआ आया, उसके साथ कर्म लगे, कर्मसे वह प्रेरित है, तो एक जगह संयोग हो गया, उसमें मेरा क्या लगता ? यह तो अपने-अपने भीतरी अनुभवसे नापें कि मेरेमें कितना मोह बसा है। यह समझमें आ पा रहा कि नहीं कि जगत का कोई भी जीव, कोई भी अणु मेरा कुछ नहीं। मेरा स्वरूप परिपूर्ण है, अपने प्रदेशमें मैं परिसमाप्त हूं। मुझमें ही मैं हूं। मुझमें मेरा काम होता है। मुझमें मेरा अनुभव चलता है। जो कुछ भी बीतता है मेरा मेरे पर बीतता है।

मेरा अन्य किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं। तो क्या कभी परिवारके लोगोंको या धन वैभवको इस तरहसे भी देख पाते हैं कि जैसे दूसरे लोगोंको देखते हैं ? पड़ौसी, विदेशी, पर-देशीको देखकर जैसे उसमें आत्मीयताका लगाव नहीं होता कि यह मेरा है—यह भाव नहीं बनता, क्या इस तरहसे परिजनोंको हम देख सकते हैं ? सदा न देखें, पर कभी निगाहमें तो ऐसा आना ही चाहिए कि जो संग है, जो चेतन अचेतनका समागम है वह सब मुझसे निराला है। उससे मेरा कुछ मतलब नहीं, मैं अपना ही मात्र जिम्मेदार हूं, मैं किसी दूसरेका जुम्मा ले ही नहीं सकता। इस तरह सबसे निराला अपने आपको तक सका यह जीव या नहीं, यह बात अपने आपमें सोचनी है। तो जीवपर सबसे बड़ा पहाड़ है विपदाका तो अज्ञान

http://sahjanandvarnishastra.org/

है और देखो इस अज्ञानका विनाश पैसेसे नहीं होता। दूसरे की दयासे नहीं होता। भले ही सत्संग है, उपदेश है, सद्वचन हैं, ये निमित्त होते हैं, मगर सोचना खुदको ही पड़ेगा। निर्णय खुदको ही करना पड़ेगा कि मेरा मात्र मैं हूं, मेरा अन्य कुछ नहीं, ऐसा दृष्टिमें आये तो समझो कि वह हमारा नया दिन है। जैसे नया साल लगता है तो पहले दिनको कहते हैं नवीन दिवस। ऐसे तो कालके नये दिवस अनन्त व्यतीत हो गए, पर मेरा नया दिन तो वह है जिस क्षण मेरेको सबसे निराले निज सहज ज्ञानस्वरूपका बोध हो। यह मैं हूं, अन्य कुछ मैं नहीं, ऐसा बोध किए बिना पूरा न पड़ सकेगा, संसारमें रुलते रहेंगे। तो ऐसा बोध हो उसे कहते हैं एक समीचीनता।

औपशमिक भावके दो भावोंमें प्रथम भाव औपशमिक सम्यक्त्व—औपशमिक भावके दो भेद बताये जा रहे हैं। प्रथम नाम है औपशमिक सम्यक्त्व, दूसरा नाम है औपशमिक चारित्र। देखिये जीवकी और कौन-कौनसी हालतें हो रहीं उनसे कुछ बिगाड़ नहीं। जीव मान लो आज ५ फिटमें फैला है, मान लो ३ फिटमें ही रहता या ६ फिटमें फैलता या और बड़ा फैलता तो इससे जीवको क्या हानि लाभ था ? कोई हानि लाभ नहीं। जीवको मानो जितना ज्ञान है उससे कम होता या उससे ज्यादा होता तो उससे जीवका क्या लाभ है ? तो जीवकी जो और और दशायें हो रहीं हैं उससे लाभ हानि नहीं, किन्तु श्रद्धा और चारित्र अगर बिगड़ा हो तो नुक्सान है और सही हो तो लाभ है। आत्माका उत्थान श्रद्धा और ज्ञान पर आधारित है। सही विश्वास हो और सही जगह उपयोग लगे इससे आत्माका उद्धार है। अगर ये दो बातें नहीं हैं तो और बाहरी बातें चाहे कितनी ही हो जायें तो वह आत्माके उद्धारकी बात नहीं। तो दो काम हैं—श्रद्धा सही होना और आचरण सही होना। श्रद्धा सही हो उसका नाम है सम्यग्दर्शन। जहाँ कर्मोंके उपशमसे सम्यक्त्व हो तो औपशमिक सम्यक्त्व।

जीवगुणविराधक कर्मोंका संक्षिप्त परिचय—कर्म क्या चीज है ? जीवसे विरुद्ध जीवके प्रतिकूल कोई एक सूक्ष्म ऐसा अणु पिण्ड है कि जो जीवके घातमें या घातकके सहकारी होनेमें निमित्त बनता है। तो संसारमें सब जगह सब जीवोंके साथ उम्मीदवार कार्माण वर्गणायें अनन्त पड़ी हुई हैं। जैसे ही जीवके कषायभाव जगा कि वे पड़ी हुई कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। वे कर्म ८ प्रकारके होते हैं याने जीवके ८ अनुजीवी, प्रतिजीवी गुणों का घात होनेसे ८ प्रकारके कर्म हैं। जीवका काम था कि सारे लोकको जान लेना। जब जीवमें ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका स्वभाव जानना है तो फिर यह ज्ञान क्यों थोड़ी जगहको जानता ? उसे तो सारा लोक और अलोक ज्ञानमें आना चाहिए, तो ऐसी ज्ञानमें सामर्थ्य है, उस ज्ञानको जिसने दबाया, जिस कर्मका निमित्त पाकर ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता उसका नाम

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है ज्ञानावरण । ऐसा ही आत्मा समग्र वस्तुके सामान्य प्रतिभासको कर देता है इसका नाम है दर्शन । तो दर्शन भी जो एक केन्द्रित बन गया, इतना विकसित नहीं है, कुछको ही हम निरख पाते, लख पाते तो ऐसी जो दर्शनकी स्थिति कमजोर बनी है या जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर बनी है, बस उसका नाम है दर्शनावरण याने कर्म बनते हैं, जब ही हम खोटा भाव करते हैं तो नियमसे कर्मबंधन होता है । यहाँ रोक सकने वाला कोई नहीं है । तो जो कर्म बँधा सो वे कर्म तुरन्त ८ रूप प्रकृति बन जाती है । कोई स्कंध जीवके ज्ञानको न होने दे वह ज्ञानावरण, कोई स्कंध जीवके दर्शनको न होने दे वह है दर्शनावरण, कोई स्कंध जीवके स्वरूपका भान न होने दे, आत्मस्वरूपमें न लगने दे वह है मोहनीयकर्म । जो आत्माके अनन्त बलको प्रकट न होने दे वह अन्तरायकर्म । इस अमूर्त आत्मामें चूंकि खुदका सब कुछ है, इसलिए यह स्वतःसिद्ध बात है कि वह समग्र सत्को जानता और निराकुल रहता है, ऐसा वीर्य प्रकट नहीं हो पा रहा । यह जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर होता उसका नाम है अन्तराय ।

जीवगुणघातसहायक कर्मोंका परिचय—चार कर्म तो जीवके गुणोंका घात करनेमें निमित्त हैं, और इसके साथ कुछ कर्म और लगे हैं चार, जो जीवके घातके लायक बाह्य-सामग्री बना दें । जैसे शरीर बन गया तो कोई यह अच्छी बात तो नहीं हुई, मुझ आत्माके लिये तो यह कलंक है जो शरीर मिला हुआ है । मोही जीव इस कलंकमें ही खुश हो रहे निरख-निरखकर, मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, निर्बल हूं, बलवान हूं, सम्पन्न हूं, इसीको देखकर सुख मानते हैं, यह तो इस आत्माके लिए कलंक है । तो यह शरीर जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर बनता है उसका नाम है नामकर्म । तो देखो यह शरीर दुःखका कारण बन रहा ना ? तो दुःखके इस कारणकी जो रचना करे, उसमें निमित्त हो उसे कहते हैं नामकर्म । इसी तरह कोई जीव उच्च गोत्रमें है, कोई नीच कुलमें है मनुष्योंमें, तो उच्च कुल और नीच कुल होना यह जीवके लिए कलंक है । उच्च कुल पाकर भी जीवको क्या लाभ और नीच कुल पाकर भी जीवको क्या लाभ-हानि ? पर है । उच्च कुलको पाकर जो एक चित्तमें घमंड, मद, गर्व हो जाता है वह जीवके घातमें निमित्त बन रहा । उससे इस जीवकी बरबादी ही हुई । नीच कुल मिला तो एक कायरता रहती है कि मैं नीच हूं, छोटा हूं, तो उससे भी नुक्सान हुआ । और कुल कोई न रहा, न ऊँच न नीच, केवल जीवका जो चैतन्यस्वरूप है बस उसका विकास भर रहे । ऊँच-नीचका व्यवहार परमात्मामें नहीं, सिद्धभगवंतमें नहीं, वहाँ सबका एक समान स्वरूप है वहाँ आकुलता नहीं । तो यह जो दुःखका साधन बन गया उच्च कुल, नीच कुल, यह भी कर्मके उदयसे हुआ ना ? ऐसी प्रकृति जिस स्कंध कर्ममें हुई उसका नाम है गोत्रकर्म । इन्द्रिय द्वारा कुछ सुख दुःखका अनुभव चलता है और उसके योग्य समागम मिलता है यह भी जीवके लिए भली बात नहीं, पर ऐसा जिस कर्मके उदय होनेपर होता है वह है वेदनीय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर्म। जीव शरीरमें फंस गया, शरीरमें बस गया, जब तक रहे तब तक। जब निकलता है तो किसी अन्य शरीरमें अपना निवास बना लेता है। तो ऐसा जो शरीरमें बंध जाता है, फंस जाता है, सो ज्ञानी जीव जानता है कि यह अच्छी बात नहीं, यह कलंक है। जीवका भला तब है कि जब यह किसी शरीरमें ही न बँधे, शरीरमें ही न फंसे, शरीर ही न मिले, शरीरसे निराला रहे, पर ऐसी स्थिति जब नहीं होती और शरीरमें बसना पड़ता है तो वह भली बात नहीं। इसका कारण है आयुकर्म। सो ये चार अघातिया कर्म हैं। इन ८ कर्मोंमें फिर और प्रभेद चलते हैं। जैसे ज्ञानावरण ५ आदिक। तो ऐसे ही नामकर्ममें इतने भेद प्रभेद हैं कि जिनके उदयका निमित्त पाकर नाना शरीरोंकी रचना होती है।

कुछ लोग तो यह मानते हैं कि शरीर तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे मिलकर बनता है, और शरीर ही क्या, जीव भी बन गया। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीवको कोई ईश्वर पैदा करता है, ईश्वर ही जहाँ चाहे भटकाता है, ले जाता है आदिक अनेक कल्पनायें होती हैं। यह शरीर बन कैसे गया? जब समझमें नहीं आती कोई बात कि शरीर बनाया किसने, कहाँ बैठकर बनाया, कौनसी चीज जोड़ा, क्या ढंग बना कि शरीर बन गया? जब समझमें नहीं आता तो एक उत्तर ढूँढ़ निकाला कि यह तो ईश्वरकी लीला है। इसी प्रकार और और भी अनेक चित्तमें कल्पनायें जगती हैं, पर यहाँ यह बतला रहे हैं आचार्यदेव कि शरीरकी जो नाना रचनायें होती हैं तो ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि उस-उस प्रकारके नामकर्मका उदय होनेपर स्वयं होता रहता है। अब देखिये—कितनी विचित्रता? एक फूल है, उसमें कितने रंग हैं? एक पेड़में पीले फूल भी होते, लाल भी होते, कितने ही रंग हैं, कितनी ही चीजें हैं और उसकी कैसी रचना है, मनुष्यमें, तिर्यञ्चमें सभी जीवोंमें किस प्रकार से शरीर बनता है, कितने ढंग हैं, कितने प्रकार हैं? तो जितने भेद कर लो उतने ही प्रकारके नामकर्म होते हैं।

मोहनीयकर्मके अनुभागोदयके निमित्तसे होने वाले भावोंके शमन होनेका निमित्त मोहनीय प्रकृतियोंका उपशम—घातिया कर्मोंमें प्रधान एक मोहनीयकर्म है जिसको इस प्रसंग में कहना है। मोहनीयकर्मके २८ भेद होते हैं। किसीका काम है कि आत्माकी सुध न लेने देना। कोई कर्म इसमें निमित्त है कि आत्मामें क्रोध जग जाय, मान जगे, माया जगे, लोभ जगे, आत्मा अपनेमें न ठहर सके, आत्माका उपयोग बाह्य पदार्थोंमें रहे, ऐसा जिस कर्मके उदयका निमित्त पाकर होता है उसका नाम है मोहनीयकर्म।

यहाँ यह भी आशंका हो सकती कि कोई कहते कि शरीरको, जीवको ईश्वरने बनाया और कोई कहते कि इस शरीरको कर्मने बनाया, मगर शरीरको न ईश्वरने बनाया, न कर्मने, किन्तु ऐसा ही सहज मेल है कि अनेक पदार्थ मिल जायें, कर्मका इस प्रकारका उदय आये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो शरीरवर्गणायें ऐसे पिण्डरूप हो जायें, एक निमित्तनैमित्तिक योग है। जैसे दृष्टान्तमें देखो कि हाथकी छाया जमीनपर पड़ी। हाथ कोई २० हाथ दूर है, पर जमीनपर छाया पड़ी, तो यह बतलाओ कि उस छायाको किसने बनाया ? हाथने बनाया या और किसीने बनाया ? तो निमित्तदृष्टिसे तो यह देखनेमें आयगा कि हाथने बनायी छाया, मगर हाथकी कोई चीज पृथ्वीमें नहीं गई, छायामें नहीं गई। हाथ १० हाथ दूर ही रहा; पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि हाथका सन्निधान पाये तो वहाँ छायारूप परिणमन हो जाय। ईश्वर करता है— इसका तथ्य समझो। स्तुतिमें भी कहते हैं कि प्रभु तुम पतित पावन हो, तुम मेरा उद्धार करना, तुमने अनन्त जीवोंका उद्धार किया। सो यह एक स्तवन है, उसमें तथ्य है। भगवान किस प्रकार करने वाले होते हैं ? भगवानके स्वरूपको देखा, प्रभु भगवान एक शुद्ध ज्ञान-ज्योति हैं, अनन्त आनन्दके पुञ्ज हैं, बहुत पावन आत्मा हैं, जिनके स्वरूपका ध्यान करने मात्रसे इस जीवके ऐसा विशिष्ट पुण्यबंध होता है कि जिसके उदयमें मनचाहा सब कुछ सुख मिलता है।

तो इस प्रकार एक व्यवहार बना कि ईश्वर जीवको सुख दुःख करता है, वह व्यवहार कैसे बना ? कोई जीव ईश्वरसे विमुख हैं, उसकी भक्ति नहीं करते, विषयोंमें लगे हैं तो वे अपने आप कर्मोदयवश दुःख पायेंगे। तो चूंकि भगवानकी सुध न रखी, इसलिए दुःख पा रहे तो इसे उपचार भाषामें कहा जायगा कि भगवानने दुःख दिया। भगवानके स्वरूपको देखा, वह पावन ज्योति, वह ज्ञानस्वरूप अनन्त विकास, अनन्त शक्तिमान आत्माको जब इस भक्तने अपने ध्यानमें लिया तो ऐसा विशुद्ध भाव जगा कि कर्मरूप हुआ, और इतनी बड़ी समृद्धि प्राप्त हुई। तो उपचारमें यह कहा जायगा कि भगवानने यह किया। कुछ सम्बन्ध तो है, भगवानसे जो विमुख होगा वह दुःख पायगा और जो भगवानका भक्त बनेगा वह सुख पायगा, मगर सुख दुःख भगवान देने नहीं आते। ऐसा नियोग है कि भगवानकी भक्ति करे तो अपने आप सुख पायगा, भगवानसे विमुख हो तो अपने आप दुःख पायगा। तो यों भगवान हमारे सुख दुःखके निमित्त बनते हैं ध्यानभावसे और आत्मा स्वयमेव कर्मोदयका निमित्त पाकर नाना प्रकारके सुख दुःख पाता है। तो यों कर्मबन्धन जीवके साथ है। उसमें यह बतावेंगे कि मोहनीय कर्मकी यह प्रकृति है कि जिसके उदयका निमित्त पाकर जीवको सुध और बेसुधी होती है।

औपशमिक सम्यक्त्वरूप अपूर्व क्षण—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ऐसे दो भेद औपशमिक भावके हैं। तो यहाँ यह बात चल रही थी कि कर्मोंकी प्रकृतियाँ १४८ हैं। ज्ञानावरणकी ५, जो ज्ञानका घात करती हैं अर्थात् ज्ञानावरणका उदय होनेपर जीव ज्ञानका विकास नहीं कर पाता। दर्शनावरणका उदय होनेपर जीव दर्शनका विकास

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं कर पाता। ये ८ प्रकृतियाँ हैं। वेदनीयके उदय होनेपर जीव इन्द्रिय द्वारा सुख और दुःख का अनुभव करता है। मोहनीयका उदय होनेपर जीव श्रद्धाहीन बनता है अथवा खोटे चारित्र में लगता है। आयुका उदय होनेपर जीव शरीरमें स्थित रहता है। नामकर्मका उदय होनेपर शरीरकी रचना, शरीरके निर्माण सम्बन्धी बातें होती हैं। गोत्रकर्मका उदय होनेपर ऊँच और नीच कुलमें उत्पन्न होता है। अन्तरायका उदय होनेपर जीव दान, लाभ, भोग उपभोगमें विघ्न पाता है। तो प्रसंग है मोहियोंका। मोहनीयकी २८ प्रकृतियां हैं। ३ दर्शनमोह और २५ चारित्रमोह। दर्शनमोहकी ३—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। मिथ्यात्व का उदय होनेपर जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। पहले गुणस्थानमें रहता है। सम्यग्मिथ्यात्व का उदय होनेपर तीसरा गुणस्थान होता है। हुल-मिल अथवा मिथ्या श्रद्धा होती है याने कुछ सम्यक्त्वरूप भाव और कुछ मिथ्यात्वरूप भाव होता है। और सम्यक्प्रकृतिका उदय होनेपर सम्यक्त्वमें मलिनता दोष लगता है, जिसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं और चारित्रमोहनीयकी २५ प्रकृतियाँ हैं, जिनमें चार अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियोंके दो स्वभाव हैं—(१) चारित्रमें बाधा देना और (२) सम्यक्त्वमें बाधा देना। तो सम्यक्त्वघातक प्रकृतियाँ ७ हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। तो इन ७ प्रकृतियोंका उपशम हो याने ये दब जायें। सत्ताका नाश तो नहीं है, किन्तु इनका अनुभाग उत्पात न हो सके, ऐसी स्थिति बने तो उपशम सम्यक्त्व निर्दोष सम्यक्त्व है, और उपशमसम्यक्त्वका काल कम है और ऐसी स्थितियाँ समझिये कि जैसे एक राजाने अपने शत्रुको दबा रखा तो वह शत्रु बाधा तो कुछ नहीं कर रहा और एक राजाने अपने शत्रुका वंश ही मिटा दिया तो उसको भी शत्रुसे कोई बाधा तो नहीं आ रही। तो वर्तमानमें बाधा न आनेकी अपेक्षा दोनों राजा बराबर हैं, मगर जिस राजाने शत्रु को दबा रखा है उसके ऊपर कुछ ही काल बाद उपद्रव आयगा। तो यह जीव संसारमें राग-द्वेष मोहवश, विषयोंकी प्रीतिवश संसारमें भ्रमण करता चला आया। इसको जब उद्धार होने को है तो सर्वप्रथम उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होता है। यहाँसे इसका भविष्य बदल जाता है। यह मोक्षमार्गमें लगे। अब इसकी वृत्ति मोक्षमार्गकी ओर है।

मोक्षमार्गी भव्यजीवोंकी दृष्टि—जो जीव मोक्षमार्गी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, पहली पदवीमें हैं उनकी दृष्टि दो ओर अधिक रहती है—(१) सिद्धभगवान और (२) आत्मस्वभाव। दो ही शरण हैं। सिद्धप्रभुका ध्यान शरण है और आत्मस्वरूपकी उपासना शरण है। इन दो को छोड़कर कोई तीसरा सहारा नहीं है। हाँ परमेष्ठी सहारा है, सिद्ध सहारे हैं तो उस ही के पोषक हैं ये। भिन्न उद्देश्य नहीं है साधु संगका या पूजन आदिकका। तो उपशमसम्यक्त्व कब होता है उसके लिए बताया है कि जब जीवका अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहे, जब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उपशम सम्यक्त्वके योग्य होता है, अथवा यों कह लीजिए कि इस जीवको जब भी उपशम सम्यक्त्व होता है तो उसके अनुसार उस समय अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तनसे अधिक नहीं रहता। उसका काल छिद जाता है तो इसीको कहते हैं काललब्धि। जब समय होता तो काम बनता तो इसीको कहते हैं, जब काम बनता तब समय आता। बात तो दोनों एक साथ हैं। मगर कहनेकी पद्धति दो रूपमें है। जब समय आयगा तब काम बनेगा तो कोई यों कहते हैं और जब काम बनेगा वही तो समय है उसका, इस ओरसे ऐसा भी कह सकते हैं। तो ऐसी काल-लब्धि जिन जीवोंको प्राप्त होती है वे उपशम सम्यक्त्वके योग्य होते हैं।

अब थोड़े समयको अपने आपके बारेमें निर्णय करना है तो यह देखो कि हमारी रुचि किस ओर रहती है अन्दरमें ? क्या सिद्धप्रभुकी उपासनाकी ओर, आत्मस्वरूपकी सुधकी ओर कभी दृष्टि रहती है या नहीं ? अगर रहती है तो समझो कि जीवन सफल है और इन दो को छोड़कर और कहीं दृष्टि लगती है तो बस जीवन अंधेरेमें है। यह एक अपनी माप है और जीवनमें ऐसा निर्णय रखना चाहिए, क्योंकि धन जुड़ गया बहुत तो उससे क्या पूरा पड़ता ? कुटुम्बमें बड़ा अच्छा लड़का है खूब समझदार पढ़ा लिखा,, कुछ भी हो गया तो वहाँ इस आत्माका कौनसा पूरा पड़ता ? लोकमें कोई नामवरी यश कीर्ति हो गई जो बिल्कुल मिथ्या बात है। कुछ स्वार्थी जीवोंके द्वारा कुछ गुण गा दिए जाते हैं। गुण तो क्या गाये जाते हैं, स्वार्थवश कोई कुछ कह देते हैं तो यह बात कोई सारभूत है क्या ? माया रूप है। उससे इस आत्माका क्या पूरा पड़ेगा ? तो आत्मस्वरूपकी ओर अपना उपयोग रहे तो बस इस उपासनासे अपना काम बनेगा। तो उपशम सम्यक्त्व होता है तो उसका अर्द्ध-पुद्गल परिवर्तनकालसे कम समय रहता है।

उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होनेका योग्य समय—दूसरी बात यह जानें कि यह जीव उपशम सम्यक्त्वके काबिल कैसी स्थितिमें होता है ? तो पहिले यह समझिये कि जीवके साथ कर्म बंधे चले आ रहे हैं और वे बहुत समय तकके लिए बँधे हैं। ७० कोड़ाकोड़ी सागर तकके लिए बँधे हैं। अब समझ लीजिए एक कोड़ाकोड़ी सागर कितना ? एक करोड़ सागर में एक करोड़ सागरका गुणा करने पर जो लब्ध आये उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी सागर, और सागर कितना ? १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका एक सागर, और अद्धापल्य कितना ? असंख्याते उद्धारपल्योंका एक अद्धापल्य। उद्धारपल्य कितना ? असंख्याते व्यवहारपल्योंका एक उद्धारपल्य होता है। व्यवहारपल्य कितना ? उपमा कीजिए कोई दो हजार कोशका लम्बा चौड़ा गड्ढा है और उसमें उत्तम भोगभूमिके मेढ़के रोम मानो कतरनीसे बहुत छोटे छोटे टुकड़े काटकर, जिनका कि दूसरा भाग न हो सके, उन्हें, उस गड्ढेमें ठसाठस भर दिया जाय और उसपर खूब हाथी फिरा दिया जाय ताकि वह गड्ढा ठसाठस भर जाय। अब

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रत्येक १०० वर्षके बाद उसमें से एक टुकड़ा निकाले। तो उन सभी टुकड़ोंके निकालनेमें जितना समय लगे उतने समयका नाम है एक व्यवहारपल्य। अब समझ लो कि जब एक व्यवहारपल्यका इतना लम्बा समय होता है तो फिर सागरके समयकी तो बात ही क्या ? इतनी स्थितिके कर्म बंधे तो जब कुछ विशुद्ध परिणाम हुए और कुछ कर्मबन्ध कम स्थिति का हुआ। जिस समय एक कोड़ाकोड़ी सागरका ही कर्मबन्ध हो, सत्त्व हो और सत्तामें रहने वाले कर्म उससे भी संख्याते सागर कम स्थितिके रह जायें, बंध भी रह जाय कम, उस वक्तमें जीव उपशम सम्यक्त्व पानेके काबिल होता है। जब अधिक स्थिति हो तब जीव उपशम सम्यक्त्वके योग्य नहीं।

उपशम सम्यक्त्वके उत्पादक जीवका कुछ परिचय—उपशम सम्यक्त्व क्या है ? एक जीवके उत्थानका प्रारम्भिक अवसर है। जैसे सालका पहला दिन नया दिन कहलाता इसी प्रकार मोक्षमार्गका नया दिन है। उसके पश्चात् यदि जीवका सम्यक्त्व भी छूट जाय, मिथ्यात्वमें आ जाय तो भी एक बार उपशम सम्यक्त्व पानेसे जो संसार छेद डाला याने कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल रह गया तो इसके भीतर अवश्य सम्यक्त्व पायगा, फिर चारित्र पायगा, मुक्ति पायगा। कौनसा जीव उपशम सम्यक्त्व पा सकता है ? पञ्चेन्द्रिय जीव ही उपशम सम्यक्त्व पा सकता है, चार इन्द्रिय तक नहीं। उनके मन ही नहीं है, क्या चिंतन करें, क्या विचार बनायें ? पञ्चेन्द्रियमें भी संज्ञी होना चाहिए, असंज्ञी नहीं, और मिथ्यादृष्टि तो हैं ही जो कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व पाते हैं। उपशम सम्यक्त्व दो स्थानोंपर होता है। एक तो मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टिके हो, उसको कहते हैं प्रथमोपशम। दूसरा कोई सम्यग्दृष्टि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि मुनि, जो श्रेणीपर चढ़नेके लिए चलता है। ८वें गुणस्थानमें चढ़ेगा तो क्षयोपशम सम्यक्त्व एक निर्बल सम्यक्त्व है, क्योंकि वहाँ सम्यक्प्रकृतिका उदय है तो इस सम्यक्त्वसे श्रेणीपर न चढ़ सकेगा तो उसे या तो क्षायक सम्यक्त्व करना होता है या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व याने इस समय जो उपशम सम्यक्त्व कहता है उसका नाम है द्वितीयोपशम।

यहाँ प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी बात कही जा रही है। पञ्चेन्द्रिय हो, भव्य हो, मिथ्यादृष्टि हो, पर्याप्तक हो, विशुद्ध परिणाम वाला हो वह प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। जीव मोक्षमार्गके प्रसंगमें सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्वको करता है। फिर जब-जब भी जीव मिथ्यादृष्टि बने सम्यक्त्व पानेके बाद, और जब-जब उपशम सम्यक्त्व पाये तो उसका नाम प्रथमोपशम सम्यक्त्व है, मगर यह तो पहली बार उपशम सम्यक्त्व कहा जा रहा है। उत्पन्न हो गया, प्रथमोपशम कैसे हुआ ? क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि पाकर जीव करणलब्धिमें आता है, उस समय पहले तो उन प्रकृतियोंका अन्तर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करता है । जो ७ प्रकृतियाँ हैं, जिनके उदयसे जीवके मिथ्या भाव होते वहाँ अन्तर करते हैं याने जिस समयमें सम्यक्त्व होगा उस समयमें उस स्थितिकी कोई प्रकृति न होगी इन ७ में से तो अन्तरके मायने यह हैं कि जैसे कोई ज्ञानी वकील है, जिसको धर्ममें प्रीति है, दसलक्षणके दिनोंमें वह कचहरी नहीं जाना चाहता तो वह क्या करेगा कि सावनके महीनेसे वह अपनी तारीखोंको कुछ सावनमें लगवा देगा, कुछ असौजमें । ऐसी तैयारी बनती है, तो जब दस-लक्षणके दिनोंकी जितनी तारीखें टालनी थीं वे सबकी सब आगे पीछे हो गईं, दसलक्षणके दिनोंमें न रहीं तो वह पर्वके दिनोंमें आनन्दसे धर्मसाधना करता, उसको कोई शल्य नहीं होती । ऐसे ही जिस अन्तर्मुहूर्तमें उपशम सम्यक्त्व होगा उस अन्तर्मुहूर्तकी स्थिति बदलकर कुछ पहले डल जाता, कुछ बादमें डल जाता । जब यह समय आता है, सम्यक्त्व होता है उस समय कोई सम्यक्त्वघातक कर्म नहीं रहता उस स्थितिमें । सम्यग्दर्शन होते समय दबी हुई जो मिथ्यात्वप्रकृति है उसके ३ टुकड़े हो जाते हैं । अनादि मिथ्यादृष्टि जीवमें २८ प्रकृ-तियोंकी सत्ता नहीं होती, २६ की ही रहती है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिका बंध नहीं होता, टुकड़े हो गए । अब टुकड़े होकर भी दबे हैं । अब उसके बाद चाहे क्षयोपशम सम्यक्त्व हो, चाहे सम्यक्त्व नष्ट हो जाय, ऐसी कोई भी स्थिति आ सकती है ।

जीवका प्रथम अपूर्व क्षण उपशमसम्यक्त्वप्रकाश—यह उपशमसम्यक्त्व क्या है ? एक दृष्टि हो गई अपने सहजस्वभावकी । जैसे कोई पुरुष शामके समय अपने घर जा रहा है । घर मानो चार मील दूर है । संध्याके बाद काली घटा घिर गई, रात हुई तो वह एक गली भूल गया और एक जंगलमें पहुंच गया । बड़ी घबड़ाहट, कितना घनघोर जंगल ? कैसे पार पायेंगे ? पता नहीं बचेंगे या मरेंगे, ऐसी शंका रखते हुए वह घबड़ा रहा था । कुछ थोड़ा विवेक आया कि घबड़ानेसे काम न चलेगा, देखो अब आगे जाना बंद कर दें, क्योंकि पता नहीं कितना आगे और फंस जायेंगे । वह एक जगह रुक गया, रात्रिका सन्नाटा, पड़ा है एक पहाड़ीके ऊपर, घबड़ा रहा है । जानवर जंतु जहाँ बहुत विचर रहे हैं, पर क्या करे ? एक साहस बनाकर बैठ गया । इतनेमें मेघमें एक बिजली चमकी, थोड़ा उजेला हुआ और इतनेसे उजेलेमें उसने सड़क देख लिया—अरे वह सड़क जा रही, उससे हमें जाना है, बस बिजली तो समाप्त हो गई, मगर एक बार वह सड़क दिख जानेसे अब उसको घबड़ाहट नहीं रही । वह समझ गया कि सवेरा होगा तो इस रास्तेसे चलेंगे, सड़कपर पहुंचकर अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जायेंगे । ऐसे ही अविवेकी व्यामोही पुरुष इस संसाररूपी विकट वनमें भटक गया, मोहमें भटका हुआ है । तो जब कुछ थोड़ा जिसे विवेक होता है, जिसका होनहार ठीक है वह थोड़ा सोचता है—रुक जावो, विषयोंमें मत बढ़े जावो, कुछ आत्मकल्याणकी बात करो, स्वाध्याय करो, सत्संग करो, विश्रामसे बैठो, विषय कषायोंपर कुछ कंट्रोल रखो । इस तरह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह रह रहा है। इतनेमें एक उदशमसम्यक्त्वकी बिजली जैसा प्रकाश जगा। उस प्रकाशमें उसने आनन्दधाम निज परमात्मस्वरूपका दर्शन कर लिया, उस समय इसको एक अलौकिक आनन्द मिला। उस आनन्दके बाद वह बिजली तो उपशमसम्यक्त्व तो विघट गया लेकिन अब भी घबड़ाहट नहीं। कुछ सुध तो है; अनुभव तो जग चुका था, अनुभव नहीं जग पा रहा भले ही सदा, पर जानता तो है कि इस रास्तेसे मैं जाऊँगा। तो उपशमसम्यक्त्व एक ऐसा प्रकाश है कि जिस प्रकाशमें यह जीव अपनी सब घबड़ाहट आकुलताको दूर कर देता है। यह प्रकाश चाहिए हम आपको। यह प्रकाश कब पाया जा सकता? जब यह समझ लें कि सत्य वैभव तो यह प्रकाश है, बाकी धन वैभव ये सब जीर्ण तृणवत् असार हैं। इनमें रहकर कोई सुखी थोड़े ही रहेगा। धन बढ़ा तो सुख नहीं, धन घटा तो सुख नहीं, संग मिला तो सुख नहीं, संगका वियोग हुआ तो सुख नहीं। सुखका उपाय बाहरी वस्तुका मिलना नहीं है। अपने आपको सबसे निराला सहज ज्ञानमात्र अनुभव कर लेना सुख शान्तिका उपाय है। अपने आपको अकेला निरखें, सिद्धप्रभुका ध्यान रखें, उनकी तरह यह आत्मस्वरूप है, ऐसी भावना रखें—सबसे निराला, मेरेको कोई काम नहीं पड़ा, कुछ भी जहाँ घबड़ाहट नहीं, स्वरूप दिख रहा, यह हूं मैं, मेरेको करनेको कुछ नहीं पड़ा, मैं हूं और परिणमता हूं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको एक ऐसी अचूक औषधि मिली, अमृतका पान किया कि वह अपनेको अमर अनुभव करता है। तो यह उपशमसम्यक्त्व इस जीवके उद्धारकी एक प्रारम्भिक सीढ़ी है। सो इसकी उत्पत्ति उपादानकी दृष्टिसे तो अपने विशुद्ध भावोंकी मलिनताके बलपर है, पर क्यों नहीं पहले हो गई, क्यों नहीं सबको हो जाती? तो समझना चाहिए कि कोई उपाधिके दूर होनेका निमित्त भी चाहिए। वह उपाधि है ये ७ प्रकृतियाँ, इनका उपशम होता है तो जीवको सम्यक्त्व जगता है। यह हुआ अंतरंग निमित्त।

नरकगतिमें सम्यक्त्वोत्पत्तिके बहिरंग साधन—बहिरंग निमित्त क्या मिलता है? तो जैसे नरकोंमें बहिरंग कारण है, कोई जातिस्मरण करके सम्यक्त्व कर लेता है। स्मरण होता—अहो मैंने पहले कैसे-कैसे पाप किया, कैसा मोह किया, कैसा किसी जीवमें विकट मोह कर डाला, उसे ही अपना सर्वस्व मानता रहा। उसका फैसला यह है कि आज नरकमें क्लेश सहना पड़ रहा है। हो जाय जातिस्मरण तो वह भी इस जीवको मोक्षमार्गमें लगानेका कारण बन जाता है। उपशम सम्यक्त्व हो जाता है। कोई धर्मचर्चा सुनकर सम्यक्त्व पाते हैं। कोई देव आते हैं ऊपरसे तीसरे नरक तक धर्म सुनाते हैं और धर्म सुन करके वे सम्यक्त्व पा लेते हैं, कोई वेदनासे अविभूत होकर सम्यक्त्व पा लेते हैं। कहते हैं ना। 'दुःखमें सब सुमिरन करें, सुखमें करे न कोय,' जब तेज वेदना होती है तो रागद्वेष मोहीकी बात फिर नहीं रहती, दूसरेकी अपनी पड़ती है और उस समयमें कुछ ज्ञान जगे तो उसका एक रूपक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बदल जाता है और वेदना क्या मिली, एक बोध मिल गया। जैसे एक मरणका बहुत बड़ा संकट जीव मानता है। जब मरण होता है तो यह जीव बड़ा विह्वल होता है, मगर मरणके समयमें दो किस्मकी बातें होती हैं, अगर मोह है तो उसकी दुर्गति है और उसे इन सब बातों से उदासी आ जाय तो बड़े विशुद्ध परिणाम होते हैं। थोड़ी भी बुद्धि हो, थोड़ा भी विवेक हो उसे यह अवसर बड़ा भला है कि उसे किसीमें मोह नहीं रहता। मरणहार पुरुष कई ऐसे देखे गए कि जिनको किसी से मोह नहीं रहता। क्यों मोह नहीं रहता कि उनके सामने नक्शा आया हुआ है कि यह सब तो छूटने ही वाला है, छूट ही रहा है। यह मेरेको कुछ बचा नहीं सकता, यह तो प्रकट भिन्न है, तो इस ओर ऐसी लगन होती है कि उसके मोह बिल्कुल नहीं रहता। बल्कि दर्शक लोग 'आश्चर्य करते कि इतना अधिक मोह रखने वाला व्यक्ति अब मरते समय किसीकी ओर नहीं देखता, किसीसे नहीं बोलता। तो मरण एक ऐसी विकट स्थिति है कि जिसमें बुद्धि ठिकाने आती है कि किसी भी दूसरे पदार्थसे मोह करने में लाभ कुछ नहीं है। तो ऐसे ही समझिये कि जब कठिन वेदना होती है नरकोंमें तो ऐसी वेदना उसकी बुद्धिको स्वच्छ बनानेका कारण बन सकती है। तो बहिरंग कारण तीसरे नरक तक यह है कि कोई जातिस्मरण करके बोध पाते, कोई धर्मश्रवण करके बोध पाते और कोई वेदनासे पीड़ित होता, अविभूत होकर बोध प्राप्त कर लेते हैं। तीसरे नरकसे नीचेके जो और चार नरक हैं उन चार नरकोंमें धर्मश्रवणका मौका तो नहीं मिलता, वे जातिस्मरण और वेदना—अविभवसे सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। वहाँ बहिरंग ये दो कारण पड़े हुए हैं।

तिर्यञ्च और मनुष्योंमें सम्यक्त्वोत्पत्तिके बहिरंग साधन—तिर्यञ्चोंमें पर्याप्तक तिर्यंच ही सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं और वे जन्मके ४, ५, ६, ७, ८ दिनके बाद ही सम्यक्त्व पैदा कर सकते हैं। ३ दिनसे लेकर ६ दिन तकको पृथक्त्वदिवस कहते हैं। जन्म लेनेके पृथक्त्व-दिवसके बाद वे सम्यक्त्व पैदा कर सकते हैं जब कि मनुष्य जन्म लेनेसे ८ वर्ष बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। जिसकी जैसी छोटी उम्र है, जिसका शरीर जल्दी सम्हल जाता है तो वह जल्दी सम्यक्त्व उत्पन्न करनेका पात्र हो जाता है। जैसे ये गायके बछड़े तो एक दिनमें ही खड़े हो जाते हैं, तीन-चार दिन बाद वे उछलने-कूदने लगते हैं और मनुष्योंके बच्चोंको देखो—वे तो कोई दो वर्षके बाद खड़े हो पाते हैं। तो ऐसी स्थितियोंसे अंदाज बना लो कि तिर्यञ्च जन्मके बाद कुछ ही दिनोंमें प्रथमोपशम सम्यक्त्वको पा सकते हैं, सो इन तिर्यञ्चों को अन्तरंग कारण तो ७ प्रकृतियोंका उपशम तो सबके लिए ही है, बहिरंग कारणमें कोई तिर्यञ्च तो जातिस्मरणसे, कोई धर्मश्रवणसे और कोई जिनबिम्ब दर्शनसे। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें, बाह्य साधनोंमें जिनबिम्बदर्शन भी एक अपूर्व साधन है, जिस जिनबिम्बदर्शनसे सब कुछ अपनेमें भान हो जाता कि आत्मा यहाँ है, यहाँ शान्ति है, अन्य सब असार है, यह

http://sahjanandvarnishastra.org/

सब जिनमुद्रा बना देती है। तो तिर्यंचोंमें तीन बाहरी कारण हैं जिनसे सम्यक्त्व होता है। कोई जातिस्मरणसे, कोई धर्मश्रवण, कोई जिनबिम्बदर्शनसे। मनुष्य उपशमसम्यक्त्व करते हैं तो पर्याप्तक ही करते हैं। ८ वर्षकी उम्रसे ऊपर हो जायें तब करते हैं। सो किन्हींको जातिस्मरण बाह्य साधन है सम्यक्त्व होनेमें, किसीको धर्मश्रवण है और किसीको जिनबिम्ब-दर्शन है, ये बाह्य साधन हैं याने ये बाह्य साधन कर लें और सम्यक्त्व हो ही हो, सो नियम नहीं, मगर ये बाह्य साधन ऐसी पात्रताके कारण बन सकते हैं कि जिसके बाद यह जीव भूतार्थस्वभावका आश्रय करे, अपने चित्स्वरूपकी दृष्टि करे तो इसे सम्यक्त्व हो जाता है।

देवोंमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके बाह्य साधन—उपशमसम्यक्त्व चारों गतियोंमें होता है। तीन गतियोंकी बात तो कही, अब देवगतिमें सम्यक्त्व कैसे होता है? उसका वर्णन किया जा रहा है। उपशम सम्यक्त्वका अन्तरङ्ग कारण तो ७ प्रकृतियोंका उपशम है, सो सबके लाजमी है। चाहे नारकीमें हो, मनुष्यमें हो, तिर्यंचमें हो, बहिरंग साधनमें थोड़ा अंतर है। जैसे देवोंमें जो सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं तो पर्याप्तक देव सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं और पर्याप्तक अन्तर्मुहूर्तके बाद करते हैं। इसमें यह बात बतायी गई कि तिर्यंचमें सामर्थ्य ३ दिन तकमें आ जाती है। नारकियोंमें सामर्थ्य अन्तर्मुहूर्तमें आ जाती, देवोंमें सामर्थ्य अन्तर्मुहूर्तमें आ जाती, जन्म हुए बाद। पर मनुष्योंमें सामर्थ्य ८ वर्ष बाद आती है। तो कुछ अनुभवसे भी विदित कर सकते हैं। तो उन देवोंमें १२वें स्वर्ग तकके देव याने भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिकोंमें १२वें स्वर्ग तकके देव इनके सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो उसके ये बाह्य साधन हैं। किसीको जातिस्मरणसे होता है, किसीको धर्मश्रवणसे होता है और किसी को जिनेन्द्रदेवका कल्याणक महिमा देखनेसे होता है, और किन्हींको देवोंको ऋद्धि देखनेसे होता है। जिनेन्द्रदेवका प्रतिबिम्ब देखना और साक्षात् उनकी महिमाको देखना। जब कल्याणक होता है, जब तपकल्याणक होता, वैराग्यकी बात होती तो बहुत निर्मल परिणाम होता है दर्शक जनोंके। तो ऐसे चार कारणोंसे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और सोलह स्वर्ग तकके देवोंके उपशमसम्यक्त्व होता है। इसके पश्चात् १२वाँ, १४वाँ, १५वाँ, १६वाँ स्वर्ग इनमें तीन कारणोंसे होता है। जातिस्मरणसे, जिनमहिमा देखनेसे, धर्मश्रवणसे, किन्तु देवर्धिके निरीक्षणसे नहीं होता, क्योंकि करीब ये समानताके देव हैं। देवोंकी ऋद्धि देखनेसे इनके मनपर प्रभाव नहीं होता। प्रभाव उनपर होता है जिनके कम ऋद्धि है। दूसरेकी अधिक ज्यादा ऋद्धि देखा, ओह! यह धर्मका प्रताप है आदिक ध्यान आता है। और जिनका होन-हार ठीक नहीं वे ईर्ष्या करते हैं—इसको क्यों मेरेसे अधिक ऋद्धि मिली? पर १२वें स्वर्गसे ऊपर देवर्द्धिनिरीक्षणका कोई प्रभाव नहीं। १६वें स्वर्गके बाद है नवग्रैवेयक। नवग्रैवेयककी रचना ९ पटलोंमें है, नीचे ऊपर ९ स्थानोंमें है। एक पटलसे दूसरे पटलमें काफी अन्तर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। तो नवग्रैवेयकोंमें उपशमसम्यक्त्व होनेमें बाह्य साधन है जातिस्मरण और धर्मश्रवण। किन्हींको अपने पुराने अच्छे भवका स्मरण हो आया, कोई अच्छी क्रियावोंका स्मरण हो आया तो उससे उपशमसम्यक्त्व होता है, किन्हीं देवोंके धर्मके श्रवणसे उपशमसम्यक्त्व होता है। इसके बाद ऊपरके देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। मिथ्यादृष्टिका वहाँ उत्पाद नहीं है। ६ अनुदिश, ५ अनुत्तर, इनमें सम्यग्दृष्टि ही पैदा होते हैं। इसलिए सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारण बतानेकी क्या आवश्यकता है? सम्यक्त्व उत्पन्न ही है, पहलेसे ही सम्यग्दृष्टि होते हैं ६ अनुदिश और ५ अनुत्तरमें।

मोहनीयकर्मके उपशमादि बिना जीवका चंक्रमण—अभी तक औपशमिक आदिक भावोंमें से औपशमिक सम्यक्त्वकी बात कही। अब दूसरा भेद है औपशमिक चारित्र। २८ मोहनीयप्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है। यह बात आत्माकी ही चल रही है। आत्मा स्वयं सहजस्वभावसे ज्ञानवान है ज्ञाता द्रष्टा है। इसकी ओरसे यही बात होनी चाहिए कि यह सबका जाननहार रहे। कहीं भी इष्टबुद्धि और अनिष्टबुद्धि न जगे। पर हो रहा है उल्टा। अनादिसे मलिन यह आत्मा कर्मउपाधिका सन्निधान पाकर मलिन हो रहा है। यह मलिनता इस जीवके निज गाँठकी चीज नहीं है। किन्तु जैसे दिनमें सूर्यके सामने बादल आड़े आ जायें तो धुंधला प्रकाश हो ही जाता है, ऐसे ही इस उपयोगपर जब कर्मका अनुभाग प्रतिफलित होता है तो यह मलिन होता है और उस समय इसको कुछ बेसुधी रहती है और उसी मलिनतामें यह अपना अनुभव करता है।

जगतके जीव नाना बातोंमें दुःख समझ रहे हैं। धन कम हुआ तो दुःख मानते, इष्ट का वियोग हुआ तो दुःख मानते, मनके अनुकूल बात नहीं होती है तो दुःख मानते। दुःख के कितने साधन बना रखे हैं इस जीवने, पर असली जो दुःख है उसका इसे पता ही नहीं। मेरे उपयोगपर जो कर्मानुभागकी छाया पड़ रही है और उससे जो मलिनता छा गई है यह मेरे पर विपत्ति है। घर न रहा, थोड़ा मिला, परिजन थोड़े रहे या कुछ भी घटना घटे, उससे इस जीवका क्या नुक्सान है? जीवकी बरबादी है कि इसपर कर्मोंका आक्रमण है और उसे यह जीव अपना लेता है। यह भूल सबसे बड़ी भारी विपत्ति है। जिन ज्ञानियोंको अपने अन्तरमें भेदविज्ञान जगा कि मैं आत्मा तो यह ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव वाला हूं, इसका तो चैतन्यस्वरूप है और जो इष्ट अनिष्ट विकल्प आदिक नाना बातें दिख रही हैं वह सब कर्मके अनुभागकी कला है। यद्यपि कर्मका काम कर्ममें होता, जीवमें नहीं होता, मगर ऐसे कर्मानुभागका सन्निधान पाकर जीवपर यह सब छाया चल रही है। यह है सबसे कठिन विपत्ति। जिसने इस विपत्तिको पहिचाना वह सही विरक्त होता है और जिसकी दृष्टिमें आत्मस्वरूप नहीं, पता नहीं वह कभी किसी प्रयोजनसे कुछ त्याग व्रत भी ले तो भी उसे अंधेरा है। यह पता नहीं कि इस उपयोगको कहाँ ले जायें कि शान्ति मिले।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

औपशमिक भावकी निर्मलता—सम्यक्त्व एक सबसे बड़ी विभूति है और उसको प्राप्त करनेका अवसर सबको मिल सकता। गृहस्थ जन भी सम्यक्त्वके अधिकारी हैं। एक सही सोचने की बात चाहिए तो सम्यक्त्व होगा ही। मैं सबसे निराला हूं। सर्व जीवोंसे न्यारा, सर्व अनन्त परमाणुओंसे न्यारा यह मैं आत्मस्वरूप हूं, स्वयं सत् हूं। कभी नष्ट हो सकता नहीं। केवल यह मैं कल्पनायें करके दुःखी होता हूं। कल्पनाओंको त्याग दें, कर्माक्रमणका लोभ छोड़ दें तो शान्ति है, ज्ञान है, सर्वस्वमंगल है। सब अपने हाथकी बात है।

जैसे किसी इंजनका चलानेका पुर्जा तो कुछ है, उसे न जाने, न चलाये और यहाँ वहांके पुर्जोंको तोड़े मरोड़े तो उससे जैसे इंजन नहीं चलता, जो जिसका साधन है उसीके प्रयोगसे ही तो बात बनेगी। तो आत्माका कहाँ उपयोग लगे कि शान्ति मिले। इस पेंचको, रहस्यको जिसने परखा नहीं वह धर्मके नाम पर उपयोग कहाँ कहाँ लगाता फिरता है और दुःखी होता रहता है। उपयोग लगाना है अपने सहज चैतन्यस्वरूपपर। देखिये सिद्धप्रभुका ध्यान और आत्मस्वरूपका ध्यान इनकी धुन जिसके बन जाती है उसके कर्मनिर्जरा चलती है, पुण्यरस बढ़ता है, पापरस घटता है और ये सारी बातें एक अपने साधन द्वारा ही तो साध्य हैं। किसीने रुकावट नहीं किया है आत्मकल्याणके लिए। यह तो अपने आप सोचनेकी बात है। हाँ तो यह देखना है कि मैं तो सहज परमात्मस्वरूप हूं। मगर मुझपर कर्मविपाक छाया हुआ है। उसका विनाश कैसे हो ? तो उसका उपाय तो एक निज सहज चैतन्यस्वभावमें यह मैं हूं ऐसा अनुभव बनायें, बस यह ही एक मात्र चेष्टा सारे संकटोंको दूर करनेका कारण है। धर्मके लिए कितना करना काम ? बस एक। निज सहज चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं ऐसा अनुभव करना है, बस यही काम है।

इस आत्माके सहजस्वरूपके ज्ञान ज्ञानके लिए अन्तः ऐसी जानकारी बनायें कि जो मैं हूं सो अपने आप हूं। किसी पदार्थकी सत्ता किसी दूसरेकी दयापर नहीं होती। जो है सो स्वयं सत् है। तो जो मैं स्वयं सत् हूं वही मात्र अकेला, याने मुझमें किसी परका संग न हो। शरीर न हो, कर्म न हो, लोग न हों, ढंग न हो, कुछ भी चीज इसके संसर्गमें न हो और केवल एक यह अपने आप जैसा सत् है रह जाय तो इसकी क्या स्थिति होती है, चिन्तन में लायें तो वह समृद्धि अनुभवमें आ जायगी कि यह हूं मैं। अज्ञानी जनोंको भूलका बोध नहीं होता। भूलका बोध ज्ञानीको होता है। जब यह जानता है अपनी ज्योतिका अनुभव होने पर कि ओह ऐसा परिणमन पाये बिना मैंने अनन्त काल संसारमें व्यर्थ दुःख पाये। यह चीज इस भवमें न पायी तो जो कुछ मिला वह सब बेकार। आत्माके सहजस्वरूपकी अनुभूति यदि इस भवमें न मिल सकी तो धन वैभव, बड़प्पन, इज्जत, परिचय, परिजन, ये सब बेकार बातें हैं और एक अंतस्तत्त्वकी अनुभूति मिलती है तो निर्धन हो, कुछ भी स्थिति हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उससे इसको कोई नुक्सान नहीं, बल्कि धर्मपालन है।

जैसे यह अकेला अपने आप अपने सत्त्वमें रह सकता है उस रूपसे अपना अनुभव बने बस यह ही है धर्मपालन। धर्म पालें। तो बाहर कहीं कोई धर्म रखा है क्या जिसको पाला जाय? बाहर कहीं कुछ नहीं है। अपने आपका सहजस्वरूपमें अनुभव बने तो धर्मपालन है। ये तो सब करने पड़ रहे पूजन, वंदन, जाप, सामायिक, सत्संग आदिक, और किसी स्थितिमें करने चाहिएँ। लेकिन ये सब धर्मपालनके लिए मददगार हों इस तरहकी वृत्ति बनानी चाहिए। तो आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसका आलम्बन करके महामुनि जनोंने औपशमिक सम्यक्त्व पाया था पहले और अब औपशमिक सम्यक्त्व पा रहे हैं। भले ही कषायोंको दबाकर चढ़ रहे ये जीव और चढ़-चढ़कर ११वें गुणस्थानसे अवश्य गिरेंगे भी, लेकिन यह जानें कि औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्रमें वह निर्मलता है जो क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्रमें है, बस यहाँ धोखा है, क्योंकि कर्मोंको दबाकर चढ़ा है। वे कर्म उखड़ेंगे और इस जीवको पतित कर देंगे। तो ऐसा औपशमिक चारित्र मोहनीय की २८ प्रकृतियोंके उपशमसे होता है।

कषायोंके उपशमनकी महिमा—८ कर्म लगे हैं जीवके साथ। उनमें उनका सिरताज मोहनीयकर्म है। जैसे सेनामें सेनापति ऐसे ही सब कर्मोंमें एक मोहनीय मुख्य है। जैसे सेनापतिके मरनेपर सेनाके हौसले ढीले हो जाते हैं ऐसे ही मोहनीयकर्मके मरनेपर, दूर होनेपर सब कर्म एकदम ढीले हो जाते हैं। तो उस मोहनीयके २८ भेद हैं—३ दर्शनमोहनीय—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और २५ चारित्रमोहनीय। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, जिनके उदयमें आत्माको सुध नहीं रहती, सम्यक्त्व नहीं हो पाता। उससे कम है अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। इन कषायोंके होनेपर अप्रत्याख्यानावरण नहीं बनता, ईसत् त्याग नहीं बनता, अणुव्रत नहीं बनता, और ये कषायें जिसके नहीं हैं, जिसका क्षयोपशम है उसके अणुव्रतको साधना होती है। फिर है प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। यह सब कर्मोंकी बात कही जा रही है। कितने प्रकारके कर्म जीवपर लदे हुए हैं, और उन कर्मोंके प्रभावमें क्या होता है? प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होते सन्ते प्रत्याख्यानावरण नहीं बनता, मुनिव्रत नहीं बनता तो उसका भी उपशम हो गया और संज्वलन कषाय जो वीतराग भाव न होने दे, संज्वलन सं मायने संयम उसके साथ-साथ चलता रहे अर्थात् सम्यक्त्व व संयम तो नहीं मिटता और यह कषाय थोड़ी चलती रहती है तो इस कषायके उदयमें जीवके वीतराग भाव नहीं बन पाता। तो यह भी उपशान्त हो गई और हास्य, रति, हँसना, प्रेम, द्वेष, भय, ग्लानि, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये कषायें वीतराग भाव नहीं होने देतीं। ये सब दब गईं तो इस समय ११वाँ गुणस्थान होता है उसे औपश-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिक चारित्र कहते हैं, और उपचारसे ८वें गुणस्थानसे उपशम श्रेणीमें औपशमिक चारित्र कहा जाता है।

तो जो कुछ भी उद्यम हो रहा ८वें गुणस्थानमें वह औपशमिक चारित्र पानेके लिए हो रहा, इसलिए यहींसे औपशमिक भाव कहा गया है। ऐसे ये दो प्रकारके औपशमिक भाव होते हैं। इनमें सम्यक्त्वसे पहले यों कहा गया कि चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। चारित्रका अर्थ है रमना, लगना। कहाँ लगना, कहाँ रमना ? क्या विषयोंमें ? अरे वह चारित्र नहीं। वह तो मिथ्याचारित्र है, अचारित्र है। आत्माके सहजस्वभावका ज्ञान किया तो बस ज्ञान ही ज्ञान ऐसा बनाये रहना यह है वास्तवमें चारित्र। यह निश्चयचारित्र है। बाकी सब जितने भी भेद हैं—मन वश करना, वचन वश करना, काय वश करना, दया करना, पापोंका त्याग करना, व्रत संयम करना ये सब व्यवहारचारित्र हैं। सो यदि आत्मस्वभावकी दृष्टि करानेकी ओर है तब तो है व्यवहारचारित्र सही। अन्यथा उपचारसे चारित्र है वास्तवमें चारित्र नहीं। इन सबकी परीक्षा यह है कि जिस समय यह चारित्र होता है, आत्मानुभूति रहती है उस समयमें कोई संकट अनुभवमें नहीं रहता। तो चूंकि चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकता है, इस कारणसे औपशमिक सम्यक्त्वका पहले नाम लिया। औपशमिक भावके दो भेद हैं। यह जीवका विवरण चल रहा है। ऊपरी बातें कही जायें कि जीव इस गतिका है, इस पर्यायका है, इसका यह साथी है, यहाँ रह रहा है, यह मनुष्य है, ये सब एक बाहरी बातें हैं। जीवका असली परिचय नहीं मिला इससे। यद्यपि सामान्यतया परिचय तो मिला कि यह सब जीवकी मलिनता है, मगर जीवके खुदके परिणमन हों उन्हें कहना चाहिए स्वतत्त्व। तो ऐसा यह जीवके स्वतत्त्वोंमें औपशमिक भाव कहा गया। अब औपशमिक भावके बाद क्षायिक भाव आता है, क्षायिक भावके ९ भेद बताये गए, सो वे ९ भेद कौन हैं ? इसका वर्णन करनेके लिए सूत्र कहा जा रहा है।

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

क्षायिक भावके भेदोंका परिचयन—क्षायिक भावके ९ भेद हैं—क्षायिक ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा 'च' शब्दसे लेना क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र। जिसका पहले वर्णन हो उसका ग्रहण होता है 'च' शब्दसे। जैसे कहा कि अमुकचंद जी भोजन करो और आप भी। और आदमी क्या करो ? क्या रोवो या हँसो ? अरे जो पहले शब्द कहा वह ही अनुवृत्ति आयगी कि भोजन करो।

तो पहले सूत्रमें जो शब्द होता है उसका 'च' शब्दसे ग्रहण होता है तो इस प्रकार क्षायिकभावके ९ भेद हुए—(१) क्षायिक ज्ञान, (२) क्षायिक दर्शन, (३) क्षायिक दान, (४) क्षायिक लाभ, (५) क्षायिक भोग, (६) क्षायिक उपभोग, (७) क्षायिक वीर्य, (८) क्षायिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्यक्त्व और (९) क्षायिक चारित्र। ज्ञान तो अपना स्वरूप है उसका आवरण जुड़ा है कर्म के उदय होनेसे। यदि यह आवरण हटे तो जो ज्ञान है वहीका वही प्रकट हुआ। ज्ञान प्रकट करनेके लिए, केवलज्ञानी होनेके लिए कोई बाहरकी चीजें नहीं लगानी पड़तीं, बाहरकी वस्तुओंका लपेट नहीं करना पड़ता, किन्तु बाहरकी चीजोंका अलगाव करना होता कि केवल-ज्ञान अपने आप प्रकट होता। जितना पुरुषार्थ करना है वह मैलको हटानेके लिए करना है, कोई चीज लगाने बनानेके लिए नहीं करना है। जैसे किसी पत्थरकी मूर्ति बनायी जाती तो पत्थरमें मूर्ति प्रकट करनेके लिए उसमें कुछ लगाया नहीं जाता, किन्तु आवरण करने वाले पत्थरोंको हटाया जाता है। मूर्ति बनानेमें बनानेका काम नहीं हो रहा, किन्तु हटानेका काम हो रहा। मूर्ति तो जो प्रकट हुई है, जो स्कंध बाहर प्रकट हुए हैं वे पहले भी थे, वही प्रकट हो गए हैं। तो जैसे आवरण करने वाले पत्थरोंको हटाने पर मूर्ति स्वयमेव प्रकट हो जाती है, ऐसे ही आत्मामें जो विषय कषाय मलिन परिणाम आये हैं उनको हटा देनेपर अपने आप ही यह ज्ञान विकसित होता प्रकट होता है। तो पहली-पहली बार जो केवलज्ञान प्रकट हुआ सो ज्ञानावरणके क्षयका निमित्त पाकर हुआ। अब तो होता रहेगा केवलज्ञान, केवलज्ञान। उसमें किसी निमित्तकी जरूरत नहीं। अब हो गया सहज स्वाभाविक परिणाम। ऐसे दर्शना-वरणके क्षयसे केवलदर्शन होता है और अन्तरायके क्षयसे क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य आदिक ये तत्त्व प्रकट होते हैं। सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोंका क्षय होनेपर ३ दर्शन-मोहनीय और ४ अनन्तानुबंधी इन ७ के नष्ट होनेपर क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है, और शेष बची मोहनीयकी प्रकृतियाँ सब नष्ट हो जायें तो वहाँ क्षायिक चारित्र प्रकट होता है। इस तरह यहाँ क्षायिक भावके ये ९ भेद बताये गए हैं।

क्षायिक भावोंकी क्षायिकताकी मीमांसा—जीव स्वतः अपने सत्त्ववश शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, याने स्वयंकी ओरसे विकारका, कलंकका कोई काम नहीं है, फिर यह कलंक आया कैसे ? क्या है कलंक ? तो अनादिसे जो ये कर्मबन्ध चले आ रहे हैं बंधते जाते हैं उनकी सत्ता होती जाती है। जब उनका उदय होता है तो उनका अनुभाग खिलता है और वे सब गड़बड़ी जो कर्ममें हो रहीं वे सब उपयोगमें प्रतिफलित होती हैं। जैसे सूर्यके प्रकाशके सामने बादल आड़े आ जायें तो उनकी छाया जमीन पर पड़नेसे जमीन मलिन हो जाती, ऐसे ही कर्मानुभागका प्रतिफल न हुआ तो उपयोग मलिन हो गया। अब यह अंधेर बन गया, घबड़ा-हट हो गई, कुछ नहीं सूझता तो उस ही कलुषताके अनुरूप जो नोकर्म हैं, पञ्चेन्द्रियके विषय हैं उनमें उपयोग फंस जाता है। इस तरह कर्मफल मिलता है। तो ऐसा अनादि काल से चला आया है। अब कर्मानुभाग जब नष्ट हुआ, कर्म दूर हुए तो उपाधि साफ हो गई तो अकेला ही यह जीव रह गया। उस समय जो निर्मल परिणाम हुआ उसको कहते हैं क्षायिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भाव और परम्परासे अनादि अनन्त काल तक उस ही उपयोगका परिणाम रहे उसे भी क्षायिक भाव कहते हैं। पर साक्षात् तो पहले समय जो क्षायिक सम्यक्त्व हुआ सो क्षायिक हुआ कर्मके क्षयका निमित्त पाकर हुआ।

अब आगे जो होता जा रहा वैसा ही परिणमन चलता जा रहा तो वह तो नैमित्तिक नहीं है। नैमित्तिक तो पहली बारमें था। जैसे प्रभुके केवलज्ञान हुआ तो केवलज्ञानका जो प्रथम समय है तब तो वह क्षायिक ज्ञान है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयका निमित्त पाकर हुआ। अब आगे जो केवलज्ञान केवलज्ञान चलता रहेगा सो वहाँ कोई क्षय थोड़े ही हो रहा किसीका। कर्म हैं ही नहीं सत्तामें, फिर भी उनको क्षायिक कहते हैं उपचारसे और वस्तुतः पहले समयमें हुआ जो क्षायिक भाव है सो क्षायिक है। तो परम्परया भी क्षायक कहो। उसकी भी आवश्यकता है। समझमें तो आयगा कि कर्मक्षय बिना यह शुद्ध पर्याय नहीं बनती, ऐसे क्षायिक भाव ९ कहे गए हैं।

क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन—क्षायिक भावमें पहला है केवलज्ञान। समस्त ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे केवलज्ञान होता है। कहाँ होता इसका क्षय ? बारहवें गुणस्थानके अन्तमें। १२वें गुणस्थान तक सभी ज्ञानावरण चल रहे हैं, पाँचों ज्ञानावरण चल रहे हैं। भले ही जैसा जिसका क्षयोपशम है सो वह तो अन्तर है, मगर ज्ञानावरण कर्म १२वें गुणस्थान तक है, अन्तमें इसका क्षय होता है। क्षय हुआ कि केवलज्ञान जग गया। सो निश्चय से तो अपने असाधारण ज्ञानस्वभावको उपादान कारण कर हुआ है, पर पहले न था केवलज्ञान और अब हुआ है। तो जो चीज पहले न थी और अब हुई तो उसका कोई निमित्त ढूंढ़ा जाता है समझनेके लिए। क्या निमित्त है ? ज्ञानावरणका क्षय केवलज्ञानकी उत्पत्ति का निमित्त है, उपादानतः अपनेसे हुआ, कर्मने केवलज्ञान पैदा नहीं किया या कर्म जब हट रहा तो वह केवलज्ञान पैदा करता हुआ हटे, सो बात नहीं। ज्ञानावरण पौद्गलिक स्कंध है। उसका काम है कि वह अपने आपमें कुछ परिणमन करे, इससे अधिक काम नहीं। तो केवलज्ञान क्षायिक भाव है। इसी प्रकार केवलदर्शन क्षायिक भाव है। दर्शनावरणके क्षयसे यह भाव उत्पन्न होता है। दर्शनावरणका क्षय भी १२वें गुणस्थानमें होता है, उनमेंसे कुछ प्रकृतियोंका द्विचरम समयमें क्षय होता, कुछ अन्तिम समयमें होता। तो केवलदर्शन भी दर्शनावरणके क्षयका निमित्त पाकर होता, इसलिए केवलदर्शन भी क्षायिक भाव है।

क्षायिक दानकी महिमा—क्षायिक दान याने दानांतराय क्षयमें उत्पन्न हुआ एक भाव क्षायिक भाव है। तो दानान्तरायके क्षयोपशमसे क्या होता है ? दान देनेके भाव होते हैं और प्रयोगमें होता है और जब दानान्तरायका उदय होता है तो दानके भाव नहीं होते। तो दानान्तरायके क्षयोपशममें तो यह हालत होती है, पर दानान्तरायका क्षय हो जाय तब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्षायिक दान प्रकट होता है । जिसका फल यों कहो कि अनन्त प्राणियोंके समूहका उपकार करे ऐसा एक क्षायिक अभयदान । संसारके प्राणी सब दुःखी हैं, उनमें जिनका भवितव्य ठीक होनेको है, जिनके विवेक जगा वे प्रभुकी शरणमें पहुंचते हैं । उनके दर्शनसे, उनका उपदेश सुनकर प्राणी अपना भला कर लेते हैं । संसार-संकट टल जाता है उनका, इससे बढ़कर और क्या दान ? सो यद्यपि भगवानके इच्छा नहीं है कुछ और रागवश नहीं करते ऐसा, लेकिन क्षायिक भावकी यह ही महिमा है कि अनन्त प्राणी समूहका अपने आप उपकार होता है । दर्शन कर, दिव्योपदेश सुनकर उनका परिणाम निर्मल होता है और कल्याण करते हैं । यही है क्षायिक दान । जो साधु समाधिभावके बलसे घातक कर्मोंका क्षय कर देता है उसके उत्कृष्ट आत्मत्व प्रकट होता है । उत्कृष्ट आत्मा कहो या परमात्मा कहो, परम आत्मा कहो । तो जहाँ यह परमात्मत्व प्रकट होता है वहाँ ९ प्रकारके निर्मल भाव जग जाते हैं । पहला तो है क्षायिक ज्ञान, जिसके बलपर तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ एक साथ उनके ज्ञानमें ज्ञात होते हैं । दूसरा है क्षायिक दर्शन, जिसके बलसे तीन लोक तीन कालके पदार्थोंको जानने वाले आत्माका दर्शन चलता रहता है । तीसरा भाव है क्षायिक दान । जिसके प्रताप से अनन्त प्राणियोंका उपकार होता, उनको अभयदान मिलता, उनको संसारके संकटोंसे छूटने की विधि मिलती ।

देखिये कितना महत्त्व है इस पवित्र उपदेशका, इस पवित्र शासनके लाभका कि जिसके हृदयमें समाये, प्रयोगमें लाये, यह जानता रहे कि यहाँ जीव और अजीव दो का संघर्ष चल रहा है । उस संघर्षमें अजीवका तो नुक्सान क्या है ? वह अचेतन है । वह जले, राख हो जाय, कुछसे भी कुछ हो जाय, कोई भी अचेतन, उसका क्या बिगाड़ ? वह तो एक परिणमन है, पर इस जीव और अजीवके संघर्षमें इस जीवका अकल्याण है । यों इस संघर्षमें दुःखी प्राणी इस दिव्योपदेशको सुनकर जहाँ वस्तुके स्वरूपका सही प्रतिपादन पाता है वह मोहका त्यागकर अपने आत्माकी ओर आता है, यह महान् अनुग्रह है । इस अनुग्रहका कोई बदला नहीं चुका सकता । तो इस शासनका कितना आभार, कितना उपकार आज जो हम आपको प्राप्त है ? मन भी अच्छा मिला है, विचार विवेक अच्छा कर सकते हैं । लेकिन विषयोंमें तो उत्साह जगे, मोह ममताकी बातोंमें तो एक प्रेरणा मिले और आत्माकी बात, इसकी सुध रखनेके लिए भीतर गुंजाइश भी न रखे तो कितने बड़े दुर्भाग्यकी बात है ? फिर किसलिए मनुष्यजन्म पाया ?

एक आहार, भय, मैथुन, परिग्रह—ये संज्ञायें, इनका मौज क्या पशु-पक्षी बनकर न पा सकते थे ? पाते ही हैं । जैसा सुख मनुष्य मानते हैं ऐसा ही सुख घास मिले, रोटी मिले, तो क्या ये गाय, भैंस, कुत्ते वगैरा नहीं मानते हैं ? अरे वे भी वैसा ही मौज मानते हैं । इन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह सम्बंधी क्रियावोंमें जैसे मनुष्य अपनेको बड़ा चतुर मानते हैं—मेरेको बड़ा सुख है, बड़ा मौज है तो क्या ऐसी बुद्धि पशुओंके, पक्षियोंके नहीं बनती ? किसलिए यह मानव-जीवन पाया ? क्यों इस मानव-जीवनके क्षण व्यर्थ गंवाये जा रहे हैं ? यह तो एक बड़े दुःखकी बात है। भव्य प्राणी समझ लेते हैं, प्रभुके शासनको उपयोगमें लेते हैं—अहो ! मैं जीव हूं। सबसे निराला हूं, मैं अपने आपका जिम्मेदार हूं। कषाय करूँगा तो कर्मबन्ध होगा, भविष्यमें रुलना पड़ेगा। कषाय न करूँ, मंद कषाय रहूं, सबकी उपेक्षा कर जाऊँ, सबको क्षमा करूँ तो उसका परिणाम हमको अच्छा मिलेगा। मिथ्यात्वमें जो कषाय जगती उस कषायमें जो भी निर्णय किया वह आत्माकी बरबादीके लिए है। निर्णय करना चाहिए स्वस्थ मंदकषायकी स्थितिमें जो एक हमारा कर्तव्य है। तो यों यह सब उजेला, आत्मप्रकाश प्रभुके दिव्योपदेशसे हुआ है तो इसे क्या अनन्त दान नहीं कहा जायगा ? प्रभुके इच्छा नहीं है, प्रभु राग नहीं करते, पर जिनके दिव्य उपदेशसे ये सारे अंधकार दूर हो जाते हैं यह तो उनका बहुत बड़ा काम है।

क्षायिक लाभ—प्रभुके चौथा गुण होता क्षायिक लाभ। लाभ मायने प्राप्ति। तो लाभान्तराय कर्मका क्षयोपशम हो तो अनेक चीजें मिलती हैं, जिनमें जीव राजी होते हैं। धन सम्पदा सुख-सामग्री, यह तो क्षयोपशमकी बात है और उस लाभान्तरायका बिल्कुल क्षय हो जाय तो कौनसा लाभ प्रकट होता है ? जब परमात्मा हो गए, केवली भगवान हो गए तो उनके कवलाहार नहीं होता याने भोजन नहीं होता, कौर नहीं खाते और कवलाहार न करें फिर भी हजारों वर्षों तक शरीरमें रहकर सकल-परमात्माकी स्थितिमें उपदेश करते रहें तो यह कैसे सम्भव हुआ ? बस यों ही सम्भव हुआ कि उनके ऐसा क्षायिक लाभ प्रकट हुआ है कि विशुद्ध पवित्र कायवर्गणायें जो अन्य प्राणियोंको न प्राप्त हो सकें बहुत शुभ सूक्ष्म उनके शरीरसे सम्बन्धको प्राप्त होते रहते हैं। कुछ तो आज भी ऐसा देख रहे हैं कि मनुष्य मुखसे न खायें, कुछ तो इंजेक्शन या गुलुकोज या अन्य किसी उपायसे शरीरको जैसाका तैसा स्वस्थ बनाये रखते हैं।

अब इससे और आगे बढ़ें, सोचो कि प्रभुके तो कवलाहार ही नहीं याने प्रभु कभी खायेंगे ही नहीं, तो जो अनेक सूक्ष्म वर्गणायें हैं वे यहाँके इंजेक्शन या गुलुकोजके काम जैसे भी विलक्षण अपूर्व काम करती हैं। वहाँ लाभान्तरायका क्षय हो गया है, सो स्वतः ही अनेक परमाणु शुद्ध पवित्र उनके शरीरके सम्बंधको प्राप्त होते रहते हैं। एक कल्पना करो कि भगवान हो गए, वीतराग हो गए, केवलज्ञानी हो गए तो अब ऐसी पवित्र स्थितिमें क्या ऐसा अच्छा लगेगा कि वे ग्रास खायें ? भला बतलाओ जो परमेश्वर हो गए, परमात्मा हो गए वे ऐसी रागभरी चेष्टा करेंगे क्या ? पुराणोंमें जो वर्णन आता है कि तीर्थंकर भगवानने आहार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लिया तो वह उनकी पूर्व अवस्थाकी बात है। पारमैश्वर्य प्रकट होनेपर आहार नहीं होता। फिर और भी बात सोचो——मान लो प्रभु आहार करें तो ज्ञानके द्वारा तो वे सब कुछ जान रहे, सब देख रहे, अब देखो साधुको आहार लेते समय अगर किसी गंदी चीजका ख्याल आ जाय तो उनका अंतराय हो जाता है। पवित्र भाव रहते हुए भोजन होना चाहिए। तो फिर भला भगवानकी तो उससे भी ऊँची बात है। भगवानके ज्ञानमें तो अच्छी खराब सभी चीजें झलक रही हैं, मांस, मल मूत्रादिक सब चीजोंको स्पष्ट जानते हैं तो फिर भला वे क्या आहार कर सकेंगे? दूसरी बात यह है कि इच्छा हुए बिना तो हाथ ही न हिलेंगे और फिर कैसे हाथसे कौर तोड़कर मुखमें डालने की बात बनेगी? प्रभु तो इच्छारहित हैं। इच्छा है तो प्रभु नहीं। किसी भी प्रकारका राग, किसी भी प्रकारकी इच्छा प्रभुके नहीं हुआ करती। तो प्रभु कवलाहारसे रहित हैं। अब उनका शरीर हजारों लाखों वर्षों तक रहता है जब तक आयु रहती है। तो यह सब क्षायिक लाभका प्रताप है।

क्षायिक भोग और क्षायिक उपभोग—५वाँ क्षायिक भाव है क्षायिक भोग। भोगान्तरायकर्मका जब क्षयोपशम होता है तो इस मनुष्यको अभीष्ट भोग क्षयोपशम होता है तो इस मनुष्यको अभीष्ट भोग साधन मिलते हैं, भोग भोगनेका सामर्थ्य मिलता है। यह तो क्षयोपशमकी बात है। जहाँ भोगान्तरायका पूर्ण क्षय हो गया है वहाँ कौनसा भोग कहलाता है? वह क्षायिक भोग है क्या? तो वह क्षायिक भोग हैं पुष्पवर्षा होना, सुरभित पवन चलना, वातावरण शान्त रहना, सर्दी गर्मीका प्रकोप न रहना और जहाँ प्रभु विहार करते हुए पैर रखते हैं तो पैरके नीचे स्वर्णकमलका बन जाना। देव इन्द्र जिनकी सेवामें रहते हैं ये सब भोग क्षायिक भोग हैं। भोगनेकी इच्छा नहीं है और न इस भोगके भोगनेका उन्हें अनुभव है, किन्तु होता रहता है यह सब। जो अन्य मनुष्योंके असम्भव है ऐसा उत्कृष्ट भोग जो बन रहा है वह क्षायिक भोग है, छठवाँ गुण है क्षायिक उपभोग।

जैसे यहाँ उपभोगान्तरायका क्षयोपशम होनेपर बड़ी अच्छी सवारियाँ, वस्त्र, मकान आदिक ये सब चीजें सुलभ होती हैं तो यह तो है क्षयोपशमकी बात और जहाँ उपभोगान्तरायका क्षय हो जाता, पूर्णतया विनाश हो जाता वहाँ कौनसा उपभोग प्राप्त होता है? तो वह उपभोग क्या है कि जैसे समवशरणकी रचना, सिंहासन होना, चमर ढुरना, अशोक वृक्ष, तीन छत्रोंका होना, भामण्डल आना, देवदुंदुभि बजना आदिक जो अनेक अतिशय होते हैं ये सब क्षायिक उपभोग हैं, जो अन्य मनुष्यके संभव नहीं हो सकते, ऐसी उत्कृष्ट बात है। प्रभुके इच्छा नहीं है, वे भोगोपभोगकी इच्छा नहीं करते हैं। वे तो अपनेमें वीतरागता, ज्ञानानन्दरस का निरन्तर पान किया करते हैं। उनकी दुनिया अलग हो गई, उनका दर्शन दुर्लभ है, उनसे कोई बातचीत कर नहीं सकता। करे भी तो उत्तर नहीं। लेकिन उत्तर मिलता है बहुत

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अच्छा। जब प्रभुकी दिव्यध्वनि खिरती है, दिव्य उपदेश होता है तो जहाँ जिसके मनमें जो-जो प्रश्न हैं, शंकायें हैं उनका समाधान सहज ही हो जाया करता है। तो प्रभुके ऐसा क्षायिक उपभोग है।

क्षायिक वीर्य—७वाँ क्षायिक भाव है वीर्य (क्षायिक शक्ति)। अनन्तवीर्य भगवान आत्मामें अनंत ज्ञान, दर्शन आदिक गुण प्रकट हुए हैं। ये गुण आत्मामें बने रहें, बिखरें नहीं, न नष्ट हों उन सब गुणोंको झेलते रहनेका बल भी तो चाहिए। जैसे यहाँ शरीरमें बल न हो तो नाक, लार, थूक, मल, मूत्रादिक अथवा रुधिर आदि धातुयें ये टिक नहीं पाते, निकल बैठते हैं, क्योंकि शरीरमें बल नहीं रहा। तो जैसे शरीरमें बल न हो तो जो मल हैं उनको भी नहीं टिका सकते (यह यहांके लोगोंकी बात कह रहे हैं) इसी तरह कोई ऊँची धातु उपधातु भी है तो उसे भी तो तब ही टिका सकेंगे जब शरीरमें बल हो। यहाँ एक अलौकिक आत्मतत्त्वकी बात कही जा रही है। आत्मामें अनन्तगुण प्रकट हुए हैं तो वे अनन्तगुण बने रहें, बिखरें नहीं उसके लिए अनन्तवीर्य भी साथ लगा हुआ है। तो प्रभुके अनन्तवीर्य प्रकट हुआ। उस सामर्थ्यसे समस्त गुण विलास कर रहे हैं, ऐसा प्रभुका यह क्षायिक भाव है।

क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र—८वाँ क्षायिक भाव है क्षायिक सम्यक्त्व, सब कर्मोंमें प्रधान बहुत घातक मोहनीयकर्म है। थोड़ी देरको यह ही कल्पना कर लो कि सब कुछ उत्पात हो जाय, एक चित्तमें मोह रागद्वेष कल्पना न जगे तो उस उत्पातसे कुछ बिगाड़ होता क्या? मानो जैसे लोकमें मानते हैं कि घरके पुत्र, मित्र, स्त्री, माता-पिता आदिक किसीका मरण हो गया, धन नष्ट हो गया, इज्जत बिगड़ गई या किसीने इसको पीटना शुरू कर दिया, मुकदमा दायर कर दिया, अनेक प्रकारकी जो जो अड़चनें यहाँ समझी जाती हैं वे सब भी हो जायें और यहाँ चित्तमें रागद्वेष मोह कल्पना न हो तो उत्पात क्या कोई उत्पात है? उत्पात तो रागद्वेष मोह भावका जगना है। बाहरका उत्पात, उत्पात नहीं कहलाता। खुदका चित्त बिगड़े, खुदमें रागद्वेष बने, खुदमें कषाय जागृत हुई, लो विपत्ति हो गई। विपत्ति किसी परपदार्थसे नहीं आया करती। विपत्ति तो रागद्वेष मोहभावका नाम है, यह बात सब मोहनीयकर्मका प्रसाद है। तो सर्व कर्मोंमें कठिन मोहनीयकर्म है। यह मोहनीयकर्म सब कर्मोंका राजा है। तो उस मोहनीयकर्ममें भी जो ७ प्रकृतियाँ हैं—पहली कषाय के ४ रूप तथा दर्शनमोहकी ३ याने अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति—इन ७ प्रकृतियोंका क्षय हो गया तो वहाँ क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

देखिये—क्षायिक सम्यक्त्व तो बहुत पहलेसे हो गया, किसी जीवमें चौथे गुणस्थानमें, किसीके ५वें, छठे, ७वें गुणस्थानमें क्षायिक भाव हो गया था इसी जगहमें, लेकिन क्षायिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्यक्त्व होकर मिटता नहीं है, बना रहता है। तो आखिर हुआ कैसे ? मूल बात क्या हुई ? तो वह क्षायिकपनेकी बात आयगी। वह है भूतार्थ अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि। तो यों प्रभुके क्षायिक सम्यक्त्व है। ९वाँ भाव है क्षायिक चारित्र। मोहनीय कर्मकी जो शेष २१ प्रकृतियाँ बचीं—अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद—इनके क्षयसे यह क्षायिक चारित्र हुआ। इन २१ प्रकृतियोंमें से कुछ प्रकृतियाँ ९वें गुणस्थानसे नष्ट होने लगती हैं—जैसे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय ये ९वें गुणस्थानमें नष्ट होती हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—ये नष्ट होने लगते हैं और वेद भी ९वें गुणस्थानमें नष्ट होता है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ भी ९वें गुणस्थानमें नष्ट हो जाते हैं। केवल जो सूक्ष्म लोभ है वह १०वें गुणस्थानके अन्तमें नष्ट होता है। तो यों चारित्रकी ओरसे क्षायिक भाव यों १२वें गुणस्थानमें आ गया, इसलिए क्षायिक चारित्र १२वें गुणस्थानसे है, लेकिन यहाँ प्रभुकी बात चल रही है। तो प्रभुके भी क्षायिक चारित्र है। इस तरह ये ९ क्षायिक भाव होते हैं।

अब इस क्षायिक भावमें एक शंका यह की जा सकती कि ऐसा दान, लाभ, भोग जब यह क्षायिक भाव है तो सिद्धमें भी होना चाहिए, वहाँ भी लाभ, भोग सिंहासन वगैरा होना चाहिए ना ? तो बात यह कही जा रही है कि यह शरीरसापेक्ष बात चल रही है। जहाँ शरीररहित है, वहाँ केवल अनन्त वीर्य है, क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग नहीं हैं अथवा जैसे केवलज्ञान प्रकट हुआ तो मतिज्ञानादिक नहीं, ऐसे ही अनन्त वीर्य प्रकट हुआ तो दान आदिक नहीं होते। अच्छा कोई पूछे कि सिद्धपना भी क्षायिक भावमें आना चाहिए, क्योंकि अष्टकर्मके क्षय होनेसे सिद्धत्व होता है। तो जहाँ अलग-अलग बातका वर्णन हो रहा है तो सिद्धत्व तो अपने आप गर्भित हो जाता है। इस प्रकार ये ९ प्रकारके क्षायिक भाव बताये गए हैं।

जीवके स्वतत्त्वोंके परिचयकी प्रयोजकता—जीवका हित धर्ममें है और धर्म रत्नत्रय कहलाता है याने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, बस इन परिणामोंका नाम धर्म है। आत्माका सहज अपने ही सत्त्वके कारण स्वरूपतः जो भाव है, स्वभाव है उस रूप यह मैं हूं, इस प्रकारके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। फिर तो इस सम्यग्दर्शनके पानेके प्रयासमें और-और बातें भी कही गई हैं। जैसे जीवादिक ७ तत्त्वोंका श्रद्धान् करनेसे अपने आपकी श्रद्धा बनती है कि मैं स्वयं सहज कैसा हूं ? तो इस स्वरूपका, इस सहज भावका अनुभव जगे, तत्पूर्वक सम्यग्दर्शन होता है, और जैसा पदार्थ अवस्थित है वैसा ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और ऐसे ही स्वरूपमें रम जाना सो सम्यक्चारित्र है। तो सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके उपायोंमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह आवश्यक है कि मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वोंका यथार्थ परिचय करना चाहिए। उसी सिलसिलेमें दूसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका परिचय कराया है। जीव क्या है? तो जीवके स्वतत्त्व कहे हैं मोक्षशास्त्रमें ५—(१) औपशमिक, (२) क्षायिक, (३) क्षायोपशमिक, (४) औदयिक और (५) पारिणामिक। इनमें केवल पारिणामिक भाव तो सहज स्वतत्त्व है और उसमें भी शुद्ध जीवत्व भाव है। यह भाव आराधनीय है, आश्रयसे मोक्षतत्त्व प्रकट होगा। शेषके जो ४ भाव हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक ये जीवके निज सहज भाव नहीं हैं, ये सब परिणमन हैं। कोई स्वभाव पर्याय हैं, कोई विभाव पर्याय हैं। तो स्वभाव पर्यायमें तो कहा जा सकता है कि स्वरूपकी तरह है, क्योंकि स्वरूपका शुद्ध परिणमन है। मगर अन्य जो भाव हैं क्षायोपशमिक, औदयिक आदिक ये तो औपाधिक भाव हैं याने कर्मउपाधिका सन्निधान पाकर आत्माकी परिणति किए हुए हैं। फिर वे स्वतत्त्व कैसे कहलायेंगे? यह शंका यों न रखनी चाहिए कि स्वतत्त्व सहजभावके एवजमें नहीं कहा गया, किन्तु जीवका जो परिणाम हो सकता है वह सब स्वतत्त्व है। भले ही कर्मका सन्निधान है, मगर परिणमा तो यह जीव ही। कर्म नहीं परिणमा रूपसे। ऐसे जीवके स्वतत्त्व ५ कहे, उनमेंसे अब क्षायोपशमिक भावकी बात कही जा रही है।

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥

क्षायोपशमिक भावके भेदोंके वर्णनमें कुछ ज्ञातव्य— ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और लब्धि ये ४ तो ४, ३, ३, ५ भेद वाले हैं। और सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम इस तरह ये मिलकर १८ भेद हो जाते हैं। याने ज्ञान ४, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये क्षायोपशमिक भाव हैं क्योंकि क्षायोपशमिक भावका अर्थ है कि जो क्षय, उपशम और और उदय इन तीन कारण पूर्वक हो। जीवपर कोई विजातीय द्रव्य लदा हुआ है, सम्बन्ध है तब ही तो यह जीव विरुद्ध परिणम रहा है। कोई भी जीव अगर उल्टे रूप परिणमे तो निश्चय समझो कि वहाँ कोई विरुद्ध चीज लग गई है, यह भाव जो है वह आत्माके स्वभाव रूप नहीं है, तो यह होता है क्षयोपशमसे। वह क्या विरुद्ध चीज लदी है? तो ८ प्रकारके कर्म आत्माके ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर यह क्षयोपशम भाव होता है याने ऐसे कर्म जो ज्ञानके आवरणमें निमित्त पड़ते हैं उनका क्षयोपशम हो। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, जाना ही करे, निरन्तर जाने ऐसा आत्माका स्वभाव है, क्योंकि जो भी चीज होती है उसका स्वरूप है स्वभाव है कि प्रतिक्षण निरन्तर परिणमता रहेगा। परिणमन बिना कोई पदार्थ नहीं रहता। अब उस परिणमनमें ये संसारी मोटे परिणमन, नारकी हों, तिर्यञ्च बनें, कई इन्द्रिय वाले बने ये तो बड़े स्थूल विरुद्ध परिणमन हैं। ये कहीं जीवके स्वभाव नहीं हैं, ये तो जीवके अनर्थ हैं, जीवको विपत्तिके कारणभूत हैं। जितने संग समागम हैं, जितने लोगोंका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्बन्ध है, जितने चेतन अचेतन पदार्थोंका संगम है, दूसरे पदार्थोंकी ओर ख्यालात आता है वे सबके सब इस जीवके लिए कलंक हैं। कोई जीवकी शोभा, चतुराई, कुशलताकी बात नहीं है। ये सब कलंक हैं और इस संसारमें यह जीव लोग इन ही कलंकोंमें अपना शृङ्गार चतुराई सब समझते हैं, हैं सब यह कलंक।

नरकगति और तिर्यंचगतिका समाचार—संसारकी कौनसी स्थिति ऐसी है जो भली हो? एक भी स्थिति बताओ। नरकगतिके जीव निरन्तर दुःखी रहते हैं। उसे तो कोई चाहता ही नहीं, भला मानता ही नहीं। नारकी जीव भी भला नहीं मानते। नरकगतिकी स्थितिको नारकी जीव तक भी अच्छा नहीं समझते। भला कई बहुत-बहुत स्थितियाँ तो ऐसी होतीं कि उनमें जीव कोई अच्छे भी समझे जाते। जैसे मनुष्योंमें देखो कितने दुःख हैं, बचपनसे लेकर वृद्धावस्था तकके सब जीवनमें कष्ट ही कष्ट हैं। ये मनुष्य कल्पनासे मान लेते कि हमको बड़ा आराम है, पर आराम नाममात्र भी नहीं है। मोहका उदय है, कुछ धन वैभव पैसा है, कुछ चला है, लोगों में तनिक पूछ है तो मान बैठते हैं कि हम बड़े सुखी हैं। मगर जहाँ जन्ममरण दोनों प्रकारकी आग लगी हो शुरूमें और अन्तमें उस आगके बीचमें पड़ा हुआ मनुष्य कीट काहेका सुखी है? फिर भी मोहवश यह मनुष्य अपनेको सुखी मानता है। पर नरकगतिमें तो इतनी भी बात नहीं है। वे दुःख पाते हैं, दुःखी होते हैं और उसको बुरा मानते हैं, भला नहीं मानते, इतना कठिन दुःख है। तिर्यंचगतिके क्लेश देख लो, भले ही तिर्यंच अपनेको बड़ा सुखी अनुभव करें, तिर्यंच हैं पशु-पक्षी, कीड़े मकोड़े। मनुष्य तो सोचते हैं कि इनकी क्या जिन्दगी है, पर वे नहीं सोच पाते कि हमारी बुरी जिन्दगी है, क्योंकि तीन आयु शुभ माना है, पुण्य माना है और नरक आयु पाप माना, क्योंकि ये तीन गतिके जीव मरना नहीं चाहते। मरनेपर कितनी आपत्ति होती, इनको सबसे प्यारा जीवन है, मरना नहीं चाहते। कोई ऐसी कुबुद्धि आये जो आत्महत्या करे वह बात अलग है। वह कषायमें समझ नहीं सकता, वह देख ही नहीं रहा मरणको, मगर तिर्यंच मरना नहीं चाहते, मनुष्य भी मरना नहीं चाहते और देव भी मरना नहीं चाहते। नारकी मरना चाहते, मगर वे मर नहीं सकते। उनका वैक्रियक शरीर है, शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जायें, फिर भी पारेकी तरह इकट्ठे होते हैं वे मर नहीं सकते। तो तिर्यंचमें भी क्या सुख है? भले ही आयुसे मोह है, मगर तिर्यंचगतिको पाप बताया है। यहाँ प्रकट दुःख है।

देवगति व मनुष्यगतिका समाचार—देवगतिमें भले ही खाने-पीनेका दुःख नहीं है। हजारों वर्षोंमें भूख लगती है, कंठसे अमृत झरता है, पर इस मनका क्या करें? उनका मन कुछ सोचता ही तो रहता है, दूसरोंकी विभूति देखकर ईर्ष्या करते हैं, तड़फते हैं, अपनेको कम ऋद्धिवान समझकर मन ही मन संताप करते हैं और विषयभोगोंमें रमते हैं। ये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

विषयभोग शान्तिके फल नहीं हैं, ये आकुलताके फल हैं। कितनी कठिन वेदना होती है तब यह जीव विषयोंमें प्रवृत्ति करता है। अगर ये विषय शान्तिकी चीजें होतीं तो शान्त रहते हुएमें प्रवृत्ति करते ना, पर आकुलतासे ही विषयोंमें प्रवृत्ति होती है। और विषय भोगनेके कालमें भी इनके आकुलता चलती है। तो देवगतिमें भी निरन्तर दुःख ही दुःख हैं, क्योंकि मनमें कल्पनाएँ उठती हैं, कल्पनायें जगती हैं, विषय भोगनेकी पीड़ायें होती हैं और एक दूसरे को मनाया करते हैं। जैसे ये मनुष्य अपने वैषयिक सुखोंके लिए दूसरेको राजी रखते ना, नहीं तो सुख-सामग्री कैसे मिलें? स्त्रीको राजी रखें, पुत्र, मित्रादिकको राजी रखें, वे देव देवियाँ भी निरन्तर अपने वैषयिक सुखोंके लिए एक दूसरेको राजी रखनेकी बात सोचा करते हैं। तो देवगतिमें भी सुखसाता नहीं है। मनुष्योंमें क्या है, सो सब मनुष्य जान ही रहे। सभी मनुष्य अपने भीतर पोले पड़े हैं, पर अपनी शक्ल-सूरत ऐसी बनायेंगे कि जिससे दूसरे यह समझें कि यह बड़े सुखी हैं। भीतर हृदयमें कहाँ-कहाँ विकल्प दौड़ रहे हैं, कहाँ-कहाँ लगाव है, कहाँ-कहाँके सोच-विचार हैं उससे वे दुःखी रहते हैं, मगर एक ऊपरी ढंग ऐसा बनाते हैं कि लोग समझते हैं कि यह बड़े धनी हैं, बड़े सुखी होंगे, यह नेता हैं, यह बड़े सुखी होंगे, मगर सबके भीतर क्लेश भरा हुआ है।

संसारकी कोई भी अवस्था इस जीवके लिए हितरूप नहीं, शान्तिरूप नहीं। यहाँ जो मोह रखते, लगाव रखते, यह मेरा घर है, यह मेरा अमुक है, न जाने कहाँ-कहाँ अपना लगाव रखते, धर्मके कामोंमें भी अपना लगाव रखते—यह मैं हूं, यह मैं धर्म कर रहा हूं, इसीसे मेरा बड़प्पन है, इसीसे मैं ठीक कहलाता हूं, इस लगावकी बात कहाँ तक कही जाय, ये सब लगाव इस जीवकी आकुलताके कारण हैं। धर्मके काम तो इसलिए करना चाहिए कि प्रभुके अन्तःस्वरूपको निरखें, अपने अन्तःस्वभावको देखें, बस इस समानताकी ओर ध्यान रखनेके लिए ये सब क्रियायें करनी पड़ती हैं। करते हैं। तो लगावकी बात कह रहे कि इस जीवका इस पर्यायसे लगाव होनेसे यह बड़े कष्टमें पड़ा हुआ है।

मतिज्ञानकी क्षायोपशमिकताका निर्देशन—यहाँ जीवकी अवस्थायें बतला रहे हैं। ज्ञानावरण कर्म लदा है, बंध है, ज्ञानका आवरण है, भले ही निमित्तनैमित्तिक योग ऐसा है कि वास्तवमें ज्ञानावरण कर्म जीवको अज्ञानी नहीं बना रहा, क्योंकि वह निर्विकार पदार्थ है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थकी क्रिया नहीं करता, लेकिन ऐसा योग है कि ज्ञानावरण कर्मका उदय निमित्त हो, सन्निधान हो तो यह जीव स्वरूपकी सुध छोड़कर यह अज्ञानरूप परिणमता है। तो जब ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो तो जीवमें यह क्षायोपशमिक भाव पैदा होता है। क्षायोपशमिकमें होता क्या है कि कर्मकी ऐसी स्थिति कि जिसमें क्षय हो, उपशम हो, उदय हो। जैसे ज्ञानावरणमें मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम क्या है? जो मतिज्ञानावरण कर्म है, जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मतिज्ञानावरणके परमाणु पिण्ड हैं उसमें दो तरहके स्पर्धक हैं, मायने दो तरहके परमाणु हैं। एक सर्वघाती स्पर्धक कहलाता, एक देशघाती स्पर्धक कहलाता। इन शब्दोंसे ही इनका अर्थ समझ लीजिए कि जो समस्त गुणोंका घात करे वह सर्वघाती और जो एकदेश घात करे वह देशघाती।

जैसे केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। केवलज्ञानावरणका क्षयोपशम नहीं होता। उदय है या क्षय है। उदय है तो केवलज्ञान पूरा ढका हुआ है। जैसे हम लोगोंके मतिज्ञान पूरा नष्ट नहीं होता, चाहे निगोद अवस्था मिले, चाहे अत्यंत जघन्य ज्ञान मिले, फिर भी लब्ध्यक्षर ज्ञान निरावरण ज्ञान रहता ही है। तो जैसे हम लोगोंके कोई न कोई रूपमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान रहा ही करेंगे, क्योंकि मतिज्ञान श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम रहता है। केवलज्ञानावरण की तरह यह सर्वघाती प्रकृति नहीं है, फिर भी मतिज्ञानावरणका जितना कर्मपुञ्ज है उनमें कुछ परमाणु सर्वघाती हैं, कुछ देशघाती हैं। तो जो परमाणु सर्वघाती हैं उनका उदय नहीं है, किन्तु उदयाभावी क्षय हैं। अगर उदय हो जाय मतिज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकका तो जीव जड़ हो जायगा, ज्ञान रह नहीं सकता। तो मतिज्ञानावरणमें मिलेजुले हैं सब परमाणु कुछ सर्वघाती कुछ देशघाती। तो उनमें जो सर्वघाती स्पर्धक हैं उनका तो उदयाभावी क्षय है, मायने उदयकाल आता है तो वह शक्तिहीन होकर विपाक समयमें अन्य रूपसे उदय होकर खिर जाता है और जो आगे सत्तामें पड़े सर्वघाती हैं उनका उपशम है मायने वर्तमानमें जो सर्वघाती हैं वे उदयाभावी क्षय होकर निकल गए और आगे होने वाले सर्वघातीकी हो जाय उदीरणा तब भी जीव नहीं रहेगा याने ज्ञान न रहेगा तो उनका है उपशम और इस ही में जो देशघाती स्पर्धक हैं उनका है उदय, इस तरहकी मिश्र अवस्थासे यह मिश्रभाव बनता है। यह देखना है कि इसमें क्या तो परिणाम बन रहा है और यह किस कारण बन रहा है ? बन तो रहा है जीवके। उस कालमें उस पर्यायमें वैसा हो सकता है, होनेसे ही बन पाया है, मगर अहेतुक नहीं है वह परिणाम। उसका हेतु है ज्ञानावरणका क्षयोपशम। तो क्षयोपशम हेतुक होनेसे इस ज्ञानका क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

क्षायोपशमिक ज्ञानकी अगर्व्यता—अब देख लीजिए जिस ज्ञानको पाकर मनुष्य गर्व किया करते हैं, ऐसा सोचते हैं कि हमने सब प्रकारका ज्ञान पाया, मेरे समान कौन ज्ञानवान है ? और यह गल्ती प्रायः सभी मनुष्योंसे होती। कोई बहुत छोटा भिखारी हो वह भी यही सोचता है कि जो कला मुझमें है सो मैं बड़ा बुद्धिमान हूं। जिसमें जितनी योग्यता है वह उतने से ही अपनेको बड़ा बुद्धिमान समझता है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको ऐसा समझता है कि मानो दुनियामें कुल दो आंखें हैं, सो एक आँख तो हमें मिली है और एक आँख बाकी सारी दुनिया को देखनेको मिली है। इस तरहका एक अपनेमें अभिमान बनाते हैं, मगर इतना सा ज्ञान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्या ज्ञान है ? वह तो क्षायोपशमिक ज्ञान है, अपूर्ण ज्ञान है, छुटपुट ज्ञान है। जहाँ गणधर देवके मनःपर्ययज्ञान हो जाता है उससे बढ़कर और क्षयोपशमज्ञानकी क्या महिमा कही जाय ? वहाँ भी गणधर यही कहता है कि मेरा यह ज्ञान अपूर्ण है, कुछ नहीं है। ज्ञान जो केवलज्ञान है, जिस ज्ञानमें ३ लोक ३ कालके समस्त पदार्थ एक साथ स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं। वह केवलज्ञान कोई ऐसी चीज नहीं है कि जो दूसरोंके ही हुआ करती है, मेरा उससे क्या मतलब ? अरे जो केवलज्ञान है वह मेरे स्वभावकी चीज है, पुरुषार्थ बने, विभावोंका विनाश हो तो वह भी प्रकट हो सकता है।

तो यह क्षयोपशमकी बात कह रहे हैं कि चार प्रकारके ये ज्ञान क्षायोपशमिक भाव हैं। क्षायोपशमिक भावके मायने कहा है ना अभी कि ऐसी कर्मकी दशा, ऐसी एक-एक प्रकृति की दशा कि जिस प्रकृतिमें सर्वघाती स्पर्धकका तो उदयाभावी क्षय है, उदय नहीं हो पाता। उस समयसे पहले विघट जाता और आगे आने वाले सर्वघाती स्पर्धकोंका उपशम है, और देशघाती स्पर्धकका उदय है। अगर उदय—न हो तो ज्ञान पूरा हो जाना चाहिए, और अगर क्षय, उपशम न हो तो जड़ हो जाना चाहिए। हम आपकी जो यह बीचके ज्ञान वाली दशा बन रही है वह क्षय, उपशम और उदय– इन तीनकी मिश्रतासे बन रही। स्पर्धक क्या चीज कहलाती ? याने जो कर्म उदयमें आये, जैसे मतिज्ञानावरण जिस स्थितिमें है उस मतिज्ञानावरणके स्पर्धकोंके समूहका नाम उदयस्थान है। मायने एक किसी समय जिसका उदय आया है, जो एक सामने आया है उनमें जो स्पर्धक है परमाणुओंका समूह, ऐसे सब प्रकृतियोंका उदय आया तो एक समयके स्पर्धकोंका समूह उदयस्थान है। कैसे परमाणुओंका समूह ? पहले शुरूसे समझो कि जो परमाणु उदयमें आये हैं वे अनन्त परमाणु हैं याने सिद्धके अनन्तवें भाग और अभव्योंसे अनन्त गुणा इतने परमाणु एक साथ उदयमें आया करते। तो जो उदय में आये परमाणु हैं वे परमाणु नाना प्रकारके हैं। कोई थोड़ी शक्ति वाले, कोई बड़ी शक्ति वाले, ऐसे नाना अनुभाग रसोंके भेदसे उसके अनगिनते प्रकार हैं। उनमें जो बहुत कम रस जिनमें पड़ा है याने बहुत कम शक्ति जिसमें बसी है, ऐसे कर्म परमाणुको लिया जाय वह कहलाया वर्ग। और ऐसे अनेक उन समस्त वर्गोंका समूह समान अनुभाग वाले कर्मपरमाणु हैं, उनके समूहका नाम है वर्गणा। तो ऐसा होता है कि जैसे मान लो एक हजार अनुभाग वाले कर्म परमाणु हैं तो उसके आगे एक-एक अधिक अनुभाग वाले और आ गए, ऐसे अधिक-अधिक बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ जायें कि जिसके बाद एक अधिक न मिले, किन्तु अनन्तगुणा अधिक मिले, उससे पहलेके जितने परमाणु हैं उनका नाम स्पर्धक है। फिर दूसरा स्पर्धक लें आगे, ऐसे अनन्त स्पर्धकोंका समूह एक उदयस्थान है। ऐसे उदयस्थानमें त्रस्त इस जीवका जो ज्ञान है वह नाकुछ जैसा है, उसपर क्या गर्व करना ?

विडम्बनाका विधान—गड़बड़ी क्या चल रही ? जैसे सूर्यके नीचे बादल आड़े आ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जायें तो कोई बड़े घने बादल आड़े आते, कोई हल्के बादल आड़े आते । जब काले घने बादल आड़े आते तो सूर्यका प्रकाश बिल्कुल नहीं दिखता और जब हल्के बादल आड़े आते तो कुछ-कुछ प्रकाश दिखता है । तो जैसे उन बादलोंमें कम घन, ज्यादा घन ऐसे अनेक भेद पड़े हैं, ऐसे ही जो उदयमें आ रहे कर्म हैं उन कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिका, अनुभागका ऐसा बहुत भेद पड़ा हुआ है । तो तब ही तो कहते हैं कि जैसा उदय होता है वैसे आत्माके परिणाम होते हैं । अगर इसको यों इस रूपमें निरखेंगे कि प्रतिफलन तत्त्व अनिवार्य चीज है याने जिस जातिका जितने अनुभाग वाला कर्म उदयमें आया तो उदयके आनेके मायने उन कर्मोंमें हो गड़बड़ी हुई, स्फोट हुआ, विकृतपना आया । अब उसकी झलक इस उपयोगमें हुई तो झलक तक, प्रतिफलन तक, तिरस्कार तक तो एक अनिवारित बात है ।

अब इसके बाद जीव तो अज्ञानी है, तो उस प्रतिफलनमें अपना लगाव बनायगा कि यह हूं मैं और उसके अनुसार फिर विषयोंमें प्रवृत्ति करेगा । और कोई ज्ञानी है तो वह जानता है कि जैसे दर्पणके सामने कोई रंग-बिरंगी चीज आयी और दर्पणमें प्रतिबिम्ब बना तो यह दर्पणमें प्रतिबिम्ब औपधिक है । दर्पणकी निजकी गाँठकी चीज नहीं है वह प्रतिबिम्ब । ऐसे ही मुझमें जो विडम्बना छा गई, जो विडम्बनाका प्रतिबिम्ब है वह मेरी गाँठकी चीज नहीं है, वह तो औपाधिक है, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अपने आपकी ओर उन्मुख रहता है, सावधान रहता है, अधीर नहीं होता, आकुलित नहीं होता, किन्तु जैसे कोई अचानक विपदा आ जाय मनुष्यपर तो वह एक साहस बनाकर उसको सहता है, ऐसे ही ज्ञानी जीव अन्तःसाहस बनाकर उस कर्मविडम्बनाको सहकर निकाल देता है । तो जो कर्मविपाक होता है, इस आत्मापर छा जाता है, बस वही जीव और अजीवके संघर्ष वाली बात है और इस संघर्षसे अजीवका तो कुछ बिगड़ता नहीं, क्योंकि वह अचेतन है ।

जैसे कोई पदार्थ जल जाय, राख हो जाय तो राख हो जानेसे उस पदार्थको क्या आकुलता होती ? न रहा पिण्ड, राख बन गया, कोई आकुलताकी बात तो नहीं है, क्योंकि अजीव है, उसका उत्पाद व्यय चल रहा है, मगर जीवमें जो विडम्बना बनती है, विकल्प बनता है, आकुलता होती है, लगाव चलता है, इससे तो जीवका बिगाड़ है । उसमें जीव ही दुःखी रहता है । इस कारणसे जीवको सम्हालनेकी सावधानी होनेकी आवश्यकता है, क्योंकि हम सावधान न हों तो, अपने स्वरूपकी सम्हाल न बनायें तो दुःखी हम होंगे । वेदना तो मुझे ही भोगनी पड़ेगी, दूसरा कोई मेरी वेदना न भोगेगा, मेरी वेदनाकी अनुभूति न करेगा । इस विकल्पकी अनुभूति इस जीवको ही करनी पड़ती है । तो मुझमें अनुभूतियाँ खोटी न बनें, मैं अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी ही अनुभूति किया करूँ, बस ऐसा पुरुषार्थ होना चाहिए और भीतरमें ऐसा उजेला होना चाहिए । भले ही नाना संग मिला है, मगर यह स्पष्ट ज्ञान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहे कि मेरा तो शरीर भी कुछ नहीं तो फिर अन्य पदार्थ मेरा क्या हो सकता है ? जब शरीरसे ही मैं जुदा हूं, मेरा शरीरपर अधिकार नहीं, शरीरका मुझपर अधिकार नहीं, दोनों स्वतंत्र वस्तु हैं, भले ही निमित्तनैमित्तिक योग है, मगर मौलिक स्वतंत्रता है, ऐसे ही समस्त अन्य जीव, समस्त अनन्तानन्त पदार्थ, सबसे मेरा कोई सम्बंध नहीं । मैं हूं ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दस्वभावी और अपनेमें औपाधिक परिणमन करता हुआ दुःखी होता हूं । औपाधिक परिणमनका फल समझ लें, उससे उपेक्षा करूँ और अपने ज्ञानानन्दस्वरूपके सम्मुख होऊँ तो सब आकुलता दूर हो जाती है । बस इसी सही उजेलेके लिए सबका प्रयास होना चाहिए ।

शान्त्यर्थ ज्ञातव्य तत्त्वोंका वर्णन—संसारके ये प्राणी जन्म-मरण, जन्म-मरण करते हुए जन्म-मरणके दुःख भोग रहे हैं और उसके बीच जो जीवन है उसमें भी दुःख भोग रहे हैं । उनका दुःख कैसे मिटे ? उसके उपायका वर्णन मोक्षशास्त्रमें किया है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र संसारके दुःखोंसे छूटनेका उपाय है । सम्यग्दर्शनका क्या अर्थ है ? निश्चय से तो यह है कि आत्माका जो एक सहजस्वभाव है उस रूपमें अपना श्रद्धान् होना, अनुभव होना, यह हूं मैं, सबसे बोलकर नहीं, किन्तु बिना शब्द ही बोले पर्यायाश्रित विधिसे अनुभव बने उसका नाम सम्यग्दर्शन है । अच्छा ऐसे सम्यग्ज्ञानको पानेके लिए क्या पौरुष करना चाहिए ? तो वह बताया है तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । तो परिचय हुआ तब ना श्रद्धान् हुआ । तो ७ तत्त्वोंका परिचय दूसरे अध्यायसे लेकर १०वें अध्याय तक है । तत्त्वार्थसूत्रमें ७ तत्त्वोंका परिचय बताया है । पहलेमें तो परिचय पानेके उपाय बताये हैं । प्रमाण नय और उनका विस्तार और दूसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका परिचय कराया है । वस्तुतः जीव तो अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव सहजचैतन्यमात्र है और फिर उसे विशेष रूपसे परिचय करते हैं तो जीवके ५ तत्त्व कहे हैं—औपशमिक भाव, क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव और पारिणामिक भाव ।

बीत रहे क्षायोपशमिक भावका परिचय—अभी क्षायोपशमिक भावका वर्णन चल रहा है । जो जीवपर गुजर रहा है उसकी बात चल रही है । सभी जीवोंपर प्रायः ये दो बातें गुजर रही हैं—क्षायोपशमिक और औदयिक । औपशमिक और क्षायिकके भाव सम्यग्दृष्टिमें ही होते हैं और ये दो भाव ज्ञानीके भी चलते, अज्ञानीके भी । तो क्षायोपशमिक भावमें क्या होता ? आत्माका स्वभाव तो ज्ञानानन्दका है, पर वह ज्ञान और आनन्द ढक गया, आवृत हो गया ।···किसके द्वारा ? विषयकषायोंके परिणामसे । और ये विषयकषायोंके परिणाम जीव में स्वत: नहीं होते । कर्मका उदय हुआ, उसका प्रतिफलन चला, बस वहाँसे प्रारम्भ होता है विकार ।

तो जीवका परिचय करना है कि मेरेमें क्षायोपशमिक भाव तो कुछ है और अन्य भाव कुछ है । क्षायोपशमिक भावका संक्षिप्त अर्थ यह लगायें कि जिसमें गुणोंका कुछ तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विकास है, बाकी विकास नहीं है। जैसे ज्ञान ४ कहे हैं—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान और (४) मनःपर्ययज्ञान। तो इनमें ज्ञानका विकास है, पर पूर्ण ज्ञानविकास नहीं है इनमें कोई। मतिज्ञान हम आपके होता है, इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर क्षयोपशमके अनुसार जीवमें ज्ञान प्रकट होता है। जैसे आँखें खोलीं और कुछ दीखा मतिज्ञान, हाथ से कुछ छूनेमें आया। जानकारी होना मतिज्ञान, सभी इन्द्रियोंके द्वारा और मनके द्वारा जो वर्तमान प्रारम्भिक बोध है वह मतिज्ञान है और मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें जो और विशेष जानना होता है अर्थान्तरका वह है श्रुतज्ञान। ये दो ज्ञान हम आपमें चल रहे हैं इस समय। इसका बोध करना कि हम क्या कर रहे बस ज्ञानका ऐसा हममें परिणमन चल रहा है। मैं क्या हूं, क्या करता हूं, कैसी स्थिति है ? इसका सही परिचय होना चाहिए। स्वभावसे तो मैं विशुद्ध चेतना मात्र हूं। सिद्धमें यह प्रकट है, मुझमें अभिभूत है, पर स्वभाव वही है जो प्रभुका है। अपने आत्माका महत्त्व जाने बिना यह इन असार बाहरी चीजोंमें उपयोग लगा कर दुःखी होता है और जो अपना महत्त्व समझमें आया, तो मैं तो सहज ही ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। इसमें क्या कमी है ?

अज्ञानजन्य दुःखके विनाशका उपाय ज्ञानाभ्युदय—देखो सारा दुःख मोहका है और कोई दुःख है ही नहीं जीवको। अगर घर गिरनेसे या किसीका वियोग होनेसे दुःख होनेका कोई कानून हो तो जगतके जो और अन्य मकान गिरते हैं या अन्य जीवोंका मरण होता है तो उनके प्रति क्यों नहीं दुःख मानते ? भिन्न तो जैसे और जीव हैं वैसे ही घरके जीव हैं। कोई फर्क नहीं है। जितने निराले दुनियाके जीव हैं उतने ही निराले घरमें रहने वाले स्त्री, पुत्र, मित्र, पति आदिक हैं। कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे अन्य जीव भी कर्मसे घिरे हैं और कर्मविपाक अनुसार उनका परिणमन चल रहा है यह ही बात तो कुटुम्बी जनोंकी है। कोई अंतर नहीं है भिन्नतामें। फिर आप कहेंगे, सोचेंगे कि और जीवोंके बिना तो काम चल जाता मगर घरके लोगोंके बिना तो काम नहीं चलता। तो काम चलना जिसे कहते हैं वह तो एक अपनी स्वार्थपूर्ति जैसी बात है, और फिर लौकिक काम अन्यके बिना नहीं चलते, ऐसे ही कुटुम्ब बिना नहीं चलते और निश्चयत: देखो तो जीवका काम अपनेमें अपने आप हो रहा है, इसमें किसी दूसरेका कुछ नहीं लगता। तो ये प्रकट भिन्न हैं मगर उनमें मोह लगा है, कल्पना जगती है कि ये मेरे हैं कुछ, बस इस कल्पनाने इस जीवको दुःखमें डाल दिया। एक द्वन्द्व है यहाँ गृहस्थको कि करे बिना सरता नहीं, करना सब पड़ रहा और अध्यात्मबोध यह बताता है कि तुम कुछ कर नहीं रहे। कैसी संघर्षकी स्थिति है कि करे बिना बनता नहीं और बाहर कर्म कुछ है नहीं। जीव तो एक ज्ञानानन्द स्वरूप है। वह अपने प्रदेशोंमें ज्ञान और आनन्दका परिणमन कर ले, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। अमूर्त है, क्या

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करेगा कुछ ? किसीको पकड़ नहीं सकता, कोई काम कर नहीं सकता।

बात तो यहाँ यों चल रही और बाहरमें यह दिख रहा कि करे बिना तो चलता नहीं। कौन करने आयगा ? सब काम करने पड़ते। ऐसी यह संघर्ष वाली स्थिति है। तो उसका समाधान क्या है कि अपनी ऐसी तैयारी ज्ञानकी बने कि मैं अमूर्त आत्मा किसी अन्य पदार्थमें कुछ कर ही नहीं सकता, और जो गुजर रहा है सो यह कर्मविपाकवश परिणति होती है, सो करना पड़ता है। जैसे कोई कैदी चक्की भी पीसता और जो-जो कुछ भी काम सिपाही लोग करायें वे सब करता, क्योंकि वह डंडे मारता है। तो करे बिना सरता नहीं और करना वह चाहता नहीं। जैसे किसी कैदीमें ये दोनों बातें एक साथ चल रही हैं—किए बिना सरता नहीं, करना कुछ चाहता नहीं। ऐसे ही ज्ञानी गृहस्थके दो बातें चलती हैं जो लोकमें हुआ ही करतीं। किए बिना सरता नहीं, करना कुछ चाहता नहीं। क्यों करे बिना नहीं सरता कि हीन संहनन है। त्याग बनता नहीं। यदि सबकी उपेक्षा करे और कुछ परवाह न करे, भूख-प्यास, ठंड-गर्मी या अन्य-अन्य सुविधायें कुछ न चाहे तो उसको फिर कोई दंद-फंद नहीं, कुछ करना न पड़ेगा, निराकुल बन जायगा, मगर ऐसा बना कहाँ जा रहा है ? ऐसा ही कर्मोदय है, विपाक है जहाँ यह जीव कायर है और महान् त्यागको यह नहीं कर सकता, ऐसी स्थितिमें ही कहा है गृहस्थधर्म। करना पड़ता है, मगर जानता सब है। एक द्रव्य दूसरेका कुछ परिणमन नहीं करता और बीत रहीं ये सब बातें। तो आत्मापर क्या बीत रही भीतर ? उन तत्त्वोंका यहाँ वर्णन चल रहा है, इसका ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान कभी हटता नहीं, निरन्तर जानता ही रहता है। तो अनन्ते जीव जुदे-जुदे ज्ञानमें लग रहे हैं, उनका ज्ञानपरिणमन जुदी-जुदी योग्यतानुसार चलता है। बस यह ही इसका उत्पादव्ययध्रौव्य है, दूसरे पदार्थसे संबंध नहीं, पर यह अधूरी, अपूर्ण, हल्की बात, विकारकी बात यों ही नहीं हो गई। उसके ही सहजस्वभावसे उसमें उपाधि है। उस उपाधिका क्षयोपशम हो तो क्षायोपशमिक भाव होता है। मतिज्ञान कैसे होता है ? वीर्यान्तरायकर्मका तो हो क्षयोपशम याने उससे सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभाव। कर्म हैं उनमें कुछ परमाणु सबको घात दें ऐसे हैं, और कुछ परमाणु एकदेश घात करें ऐसे हैं, तो सबको घात दें, ऐसे परमाणुका उदय हो जाय तो जीव जीव न रह सकेगा, जड़ हो जायगा। सो सर्वघाती स्पर्धकोंका उदय जीवके नहीं बनता। बनता है तो जैसे केवल ज्ञानावरणका उदय हुआ तो लो केवलज्ञान पूरा ढक गया। पर इस तरह सभी बातोंमें हो तो जीव फिर जीव न रहेगा, जड़ बन जायगा। तो अपनी बात देखिये भीतर में कि कर्मउपाधिका जितना क्षयोपशम है उसके अनुसार मुझमें विकास चल रहा है। लेकिन यह विकास आपेक्षिक है, औपाधिक है। यह स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक विकासमें सीमा नहीं होती। मगर ज्ञानकी सीमा चल रही है तो समझना चाहिए कि वहाँ उपाधिका प्रभाव बन रहा। तो मतिज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकका उदयाभाव और उपशम और देशघाती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्पर्धकका उदय, ऐसी स्थिति होनेपर आत्मामें यह मतिज्ञान चल रहा है। श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे श्रुतज्ञान चलता, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो तो अवधिज्ञान बनता, मनःपर्यय ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो तो मनःपर्ययज्ञान बनता। ऐसे ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं।

मिथ्यात्वके संगसे कुज्ञानोंमें विपरीतता—विपरीत तीन ज्ञानोंके भी क्षयोपशम है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। बुद्धि उल्टी हो जाय, मति उल्टी चले, खोटा ही दिखे, ये सब खोटे ज्ञान हैं। एक कथानक आया है—ऋषभदेवके पूर्व भवका। कोई एक अरविन्द नामका इनसे सम्बंधित राजा था, उसको एक बार ज्वर हुआ, और उस ज्वरकी हालतमें हुआ क्या कि कोई दो छिपकलियाँ ऊपर भींतपर लड़ने लगीं, उनकी पूछ टूट जानेसे खूनके कुछ बूँद अरविन्द राजाके शरीर पड़े। उससे राजाको बड़ा संतोष मिला। राजाके मनमें आया कि यदि इस खूनसे स्नान करूँ तो मुझे चैन मिलेगा। सो उसने अपने लड़कोंको यह आदेश दिया कि ऐ लड़कों! जावो कहींसे पशुओंका खून लावो, खूनकी बावड़ी भराओ, हम उसमें स्नान करेंगे तब बीमारीसे चैन मिलेगा। दोनों लड़के पिताकी बात सुनकर दंग रह गए, अरे इतना खून कहाँ से लाया जाय? व्यर्थ ही क्यों निरपराध जीवोंकी हत्या की जाय, पर राजाका आदेश टाल कैसे सकें? सो लड़कोंने पूछा—पिताजी! इतने पशु कहाँ मिलेंगे मारनेके लिए? सो राजाने अपने अवधिज्ञानसे बताया कि अमुक दिशामें अमुक स्थानपर एक जंगल है, उस जंगलमें अमुक जगह हिरण, खरगोश, स्याल आदि अनेक पशु मिलेंगे, उनको मारकर लावो। आखिर पिता की आज्ञा पाकर दोनों लड़के पहुंचे उस जंगलमें। वहाँ उन्हें एक मुनिराज मिले। मुनिराज अवधिज्ञानी थे, वह सब हाल जान गए और उन दोनों लड़कोंसे कहा कि ऐ लड़को! तुम्हारा पिता नरकगामी है, उसके पीछे तुम पाप मत करो। उसके जो ज्ञान है वह खोटा ज्ञान है, कुअवधिज्ञान है। तो लड़कोंने कहा—महाराज! कैसे आपने जाना कि खोटा ज्ञान है? तो मुनि महाराजने कहा कि देखो अपने पितासे जाकर पूछो कि जिस जंगलमें भेजा है उसमें और-और भी क्या है? देखो वह हमको भी बताता है कि नहीं। सो वे दोनों लड़के पहुंचे पिताके पास और पूछा कि पिताजी! आपने जिस जंगलमें हमें पशु मारनेके लिए भेजा उसमें और क्या-क्या है? तो उस राजाने अनेक पशुओंके नाम लिए, पर मुनि महाराजका नाम न लिया। अब वे दोनों लड़के मुनिराजके पास आये और बताया कि पिताजीने तो अनेक प्रकारके पशुओंके नाम लिए, पर आपका नाम नहीं लिया, तो मुनिराज बोले—देखो हम बताते थे ना कि तुम्हारा पिता कुअवधिज्ञानी (खोटा ज्ञानी) है, उसको अच्छी बातका ज्ञान नहीं, खोटी-खोटी बातोंका ही ज्ञान है। तुम यदि उसके आदेशमें चलोगे, पाप करोगे तो उसका फल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। लड़कोंकी समझमें आ गया। तो उन्होंने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीव जंतुओंको तो न मारा, पर और क्या उपाय किया कि लाखके रंगकी बावड़ी भरा दी। जब राजाने उस बावड़ीमें स्नान किया तो समझ गया कि यह खून नहीं है, यह तो कोरा लाल पानी है, रंग है। तो उसे लड़कोंपर बड़ा क्रोध आया और नंगी कटार लेकर उन्हें मारने दौड़ा। वे दोनों लड़के अपने प्राण बचाकर भागे। पीछेसे वह राजा मारनेके लिए दौड़ रहा था। कुछ दूर जाकर उस राजाको ऐसी ठोकर लगी कि वह जमीनपर गिर गया और उसकी ही कटारसे उसका पेट फट गया और मरकर नरक गया।

ज्ञानकी दिशाकी मोड़का कारण दर्शनमोह—अभी कुअवधिज्ञानकी बात कह रहे हैं कि जिसके कुअवधिज्ञान होता है उसको उल्टी ही बात सूझती है, हितकारी, सही, निष्पाप बात नहीं सूझती। इसी तरह सब कुज्ञानोंकी दशा है। तो ऐसा जो खोटा ज्ञान बनता है उसका भी कारण ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, मगर उल्टा ज्ञान बनता है, क्योंकि साथमें मिथ्यात्वका उदय है। जैसे नाव चलती है तो खेने वालेका काम तो बस नावको खेते रहना, आगे बढ़ाना है। पर किस दिशामें नाव ले जायें यह है पीछे बैठे हुए कर्णधारका काम है। नावमें पीछे जो एक सूप जैसा लगा रहता है उसको डंडेसे जैसा घुमावे उस दिशामें नाव चली जाती है। तो क्षयोपशमकी वजहसे तो एक जानकारी बनी, जान गए, पर मिथ्यात्वका उदय है तो वह दिशा बदल देगा। जैसे मां ने अपने बेटेकी आँखमें अंजन लगाया था, और और भी सेवायें किया था और मानो दुर्भाग्यसे वे दोनों मरकर नरक गए तो वहाँ वह बेटा सोचता है कि इस माँने तो मेरी आँखें फोड़नेकी चेष्टा की थी। वह यह न जानेगा कि इसने तो मेरी आँखोंमें सलाईसे अंजन लगाया था और हमारी सेवा की थी। वह तो उल्टा ही समझेगा। तो जब आवरणका क्षयोपशम है तो जानकारी तो बढ़ती है, पर मोह मिथ्यात्वका उदय है तो वह खोटी दिशाकी ओर मुड़ जाता है। तो ऐसा जो भी ज्ञान है, जो कुछ भी जानकारियाँ होती हैं, उनमें विकास तो है मगर अधूरापन है। और साथ ही हो मिथ्यात्वका उदय तो बिल्कुल उल्टी दिशा बन जाती है। मोहमें बेसुधी है, आत्माका भान नहीं है, केवल पर्यायका भान है। जो परिणति हो रही, जो अवस्था हो रही उसीमें यह मैं हूं, ठीक करता हूं, चतुराई करता हूं। जैसे जिसको क्रोध आ जाय तो उस क्रोधमें जो कुछ मनकी, वचनकी, कायकी चेष्टा करता है तो उस चेष्टाको करता हुआ अपनेको चतुर समझता है। मैं बिल्कुल ठीक कर रहा हूं, पर ठीक कहाँ कर रहा? क्रोधमें कभी काम ठीक नहीं हो सकता। क्रोधमें कहीं सच्चाई आ सकती है? मगर जब क्रोध आ रहा और उसमें जो कुछ भी बरबादीका यत्न कर रहा उसे समझता है यह क्रोधी मोही कि मैं सही काम कर रहा हूं, ऐसी ही मोहके उदयमें ये सारी प्रवृत्तियाँ बन रही हैं। घरमें लगाव रखना, हर एक सांसारिक चीजोंकी बढ़ोतरी करना और किसीको कुछ दगा देना, छल करना, रुपया अधिक कमा लेना या जो जो भी काम

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्रोधीमें चलते हैं उनको करता हुआ यह जीव मानता है कि मैं बहुत चतुराईका काम करता हूं, मगर यहाँ बात क्या हो रही कि जो पापका बंध हो रहा और भविष्यकाल तक अपनी उस करनी का फल भी पाना होगा। आत्माकी समझ बिना, आत्माके ज्ञान हुए बिना शान्ति का मार्ग पाया कैसे जा सकता है ?

शान्तिके इच्छुकका व शान्तिका सही परिचय कल्याणका आरंभक—भैया ! जिसको शान्त होना है उसका ही निर्णय नहीं है और शान्ति वास्तवमें क्या होती है उसका भी निर्णय नहीं है तो शान्तिकी ओर कदम कैसे बढ़ेगा ? इससे जो जितना क्षायोपशमिक ज्ञान मिला उस ज्ञानका हम सदुपयोग करें, अपने आत्माका परिचय बनायें। विशेष नहीं भी कोई प्रवृत्ति की, जानकारी की तो इतने ही ज्ञानबलसे अपना काम निकाल सकते हैं कि मैं क्या हूं ? मैं हूं एक ज्ञानमय पदार्थ और समस्त जीवोंसे न्यारा हूँ, शरीरसे भी न्यारा हूं। केवल अमूर्त एक ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र मैं अंतस्तत्त्व हूं—ऐसा निर्णय हो जिसके और इस ही में अपना ज्ञान बनानेका पौरुष करे तो उसको शान्तिका मार्ग मिलता है। धर्म कोई मन, वचन, काय की चेष्टा करनेसे नहीं होता, धर्म होता है आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमणसे। और जितने व्यवहार कार्य किए जाते हैं वे इस ही आत्मश्रद्धान, ज्ञान रमणका पात्र रहनेके लिए किये जाते। जैसे ६ आवश्यक कार्य हैं गृहस्थको—देवपूजा, गुरूपासना, गुरुवोंकी सेवा, स्वाध्याय करना, संयमकी प्रवृत्ति रखना, इच्छानिरोध रखना, यथायोग्य दान करना। तो ये ६ आवश्यक कर्तव्य क्यों धर्म कहलाते ? देखो इन सबका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे है। देवपूजा करेंगे तो सम्यग्दर्शनको ही तो पुष्ट करेंगे। भगवानका स्वरूप देखें, आत्माका स्वभाव जानें, इसीके मायने तो पूजा है। तो पूजामें इसने अपने सम्य-क्त्वका ही सम्बंध बनाया, गुरुवोंकी सेवासे इसने सम्यक्चारित्रसे अपना सम्बन्ध बनाया, क्यों कि गुरुवोंकी सेवासे गुरु जैसी ही बात मिलेगी। स्वाध्यायसे सम्यग्ज्ञानका सम्बन्ध, संयमसे चारित्रका सम्बन्ध, तपसे चारित्रका सम्बन्ध और दानका श्रद्धानसे सम्बन्ध। पूजा और दान श्रावकोंके ये दो मुख्य कर्तव्य बताये, सो इनका सम्बन्ध सम्यग्दर्शनसे है। श्रद्धा न हो तो दान नहीं कर सकते, श्रद्धा न हो तो पूजा नहीं कर सकते। तो जिन-जिन व्यवहारक्रियावोंमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका सम्बन्ध है वह तो है व्यवहारधर्म और जहां इस रत्नत्रयधर्मसे कुछ सम्बन्ध नहीं, केवल एक रूढ़ि और एक विरुद्ध ही दिमागी दौड़ बन गई, वहाँ धर्म नहीं है। धर्म मिलता है अपने स्वरूपमें अपने को अनुभव करें कि मैं सबसे निराला केवल चैतन्य-ज्योति स्वरूप हूं। मेरेको क्या करना है ? जैसा हूं वैसा ही अनुभव करना है। यह उपाय है संसारके दुःखोंसे मुक्ति पानेका।

क्षायोपशमिक दर्शनके भेद—आत्माका स्वरूप है चेतना अर्थात् यह चेतता है। कुछ

http://sahjanandvarnishastra.org/

न कुछ परखता है, जानता है, यह है जीवका स्वरूप। तो जो चेतना है वह दो तरहकी होती है—(१) सामान्यचेतना, (२) विशेषचेतना। जिस पदार्थकी जानकारी होती है, निर्णय है, यह अमुक पदार्थ है वह तो है विशेष चेतना और जहाँ मात्र पदार्थकी झलक भर आयी, उसके बारेमें निर्णय नहीं, जानकारी नहीं, सामान्य झलक है वह कहलाती है सामान्यचेतना याने दर्शन। तो जो सामान्यचेतना है, दर्शन है वह तो एक ही होता है, भेद तो जानकारी में होता है। इसे जाना, वह जाननेमें आया, जाननेमें बहुत भेद हैं, पर झलकमें क्या भेद ? एक सामान्य झलक है। तो झलकमें भेद नहीं है, फिर भी हम आप लोगोंके जब-जब भी जो-जो झलक आती है उसका फल है कि आगे जानकारीमें बढ़ना। तो जो भी जानकारी बनती है, जो भी ज्ञान बनता है उससे पहले जो झलक हुई उसका भी नाम जानकारीके नाम पर रख दिया जाता है। जैसे आँखें खुलीं, पदार्थ दीखा, रूपका ज्ञान हुआ तो चूँकि वह रूप का ज्ञान चक्षुइन्द्रियके निमित्तसे हुआ तो उस रूप ज्ञानसे पहले जो सामान्य झलक हुई थी उसका नाम है चक्षुर्दर्शन। आँखके सिवाय बाकी इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होता है उस ज्ञानसे पहले जो एक झलक बनती है उसका नाम है अचक्षुर्दर्शन। और अवधिज्ञान होनेसे पहले जो झलक बनती है उसका नाम है अवधिदर्शन। ये तीनों दर्शन क्षायोपशमिक हैं, और ये अपने-अपने आवरण कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं।

क्षायोपशमिक लब्धियां—अब लब्धियाँ सुनो—लब्धियाँ होती हैं ५—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। जीवकी परख करते जाइये अन्दरमें कि मुझ जीवकी क्या दशा हो रही है, कितना विकास है और कितना अधूरापन है ? यद्यपि दान, लाभ, भोग, उपभोग—ये चार कोई जीवके स्वभावकी चीज नहीं हैं, स्वभावकी चीज है वीर्य याने शक्ति। आत्मामें जो शक्ति है, गुण डटे हैं, पर्यायें होती हैं, इस तरहकी जो एक नियंत्रणा है वह वीर्यशक्तिके प्रभाव से है।

तो आत्मामें एक शक्ति नामक गुण है, उसीका ही सब विलास है और छद्मस्थ अवस्थामें कुछ भेद कर दिया, किस बातकी शक्ति ? दान देनेकी शक्ति। दान देनेके भाव होते हैं यह दानलब्धि है। लाभशक्ति—बाहरी पदार्थोंका लाभ मिल जाना, अपनी सुहावनी बात की प्राप्ति हो जाना, इसका भाव बने, शक्ति बने वह है लाभशक्ति। भोगशक्ति—जिस शक्तिसे किसी चीजको खा पी सके, भोग सके वह शक्ति है भोगशक्ति। उपभोगलब्धि—किसी बाहरी चीजको बारबार काममें ले सकें, ऐसी शक्ति हो, प्राप्ति हो तो वह है उपभोगलब्धि। और वीर्यलब्धि याने सामर्थ्य प्राप्त हो। तो ये ५ लब्धियाँ हम आपके क्षायोपशमिक हैं याने पूरी भी नहीं हैं, मिली हैं, और कुछ नहीं है, ऐसा भी नहीं है। कुछ हैं दान, लाभ, भोग, उपभोग आदिक और पूर्णतया हैं नहीं, तो ये क्षायोपशमिक भाव कहलाते हैं। और ये होते किस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तरह है कि आत्मापर जो कर्म लदा है, सत्ता है उसमें कई प्रकारके कर्म हैं। तो दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय—ये अन्तरायके ५ प्रकार है। तो दानान्तरायमें दोनों प्रकारके परमाणु हैं—(१) सर्वघाती स्पर्धक और (२) देशघाती स्पर्धक। सर्वघाती स्पर्धकके मायने हैं आत्माके गुणोंको बिल्कुल नष्ट कर देना और देशघाती स्पर्धकके मायने हैं कि पूरा तो नष्ट न करना, कुछ विकास रहे, कुछ अधूरापन रहे, तो दानान्तरायके जो सर्वघाती स्पर्धक हैं उनका उदय क्षय और उपशम हो और देशघाती स्पर्धकका उदय हो तो दानलब्धि मिलती है। इसी तरह ५ लब्धियोंमें समझना। भगवानके क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य है, जो कि हम आपके क्षायोपशमिक हैं, कुछ है, कुछ नहीं है। इस जीवको कहाँ क्लेश है कि कुछ इष्ट चीजें मिलीं, कुछ नहीं मिलीं। जितना मन है मनभर इष्ट मिले तो इच्छा खत्म हो या उसकी कल्पना ही जगे। मालूमात ही न रहे तो इच्छा न हो। यहाँ एक दुःख यह भी लगा है कि दान, लाभ, भोग, उपभोग कुछ प्राप्त होते हैं और बाकी उनकी इच्छा चलती है।

जीवके भावोंपर जीवके भवितव्यकी निर्भरता—जीवका जो कुछ भवितव्य है अच्छा बुरा यह सब इस जीवके भावोंपर निर्भर है। कैसा ख्याल बनायें कि क्लेश हो और कैसा ख्याल बनायें कि क्लेश न हो। बस यहाँ ही सब कुछ निर्भर है। बाहरी पदार्थोंके मिलनेसे यदि शान्ति मिलती होती तो आज दुनियाके जो बड़े नेता हैं, जो धनी मानी कहलाते हैं वे क्यों न शान्त हुए? तो शान्त होनेका यह मार्ग ही नहीं है कि बाहरी चीजें जोड़ लें, बहुत जोड़ लें तो शांति हो जाय। और उस जोड़नेका महत्त्व भी क्या? जब तक जीवन है, कल्पना है, मोह है तो मान-मानकर सुखी होते हैं। आखिर एक दिन होगा यह जरूर कि सब कुछ यहीं पड़ा रह जायगा, आत्मा अकेला जायगा। अब देखो कितना अन्तर है? मानो किसी मनुष्यकी दो मिनट बाद मृत्यु होना है और उसको कुछ पहलेसे पता नहीं है, हार्टफेल वगैरा कुछ ऐसी बीमारी हैं जिनमें अचानक ही मरण हो जाता, पहलेसे कुछ अंदाज नहीं रहता, तो मानो कोई दो मिनट बाद मृत्यु होना है तो देखो वह २ मिनट पहले कितना लगाव रख रहा है कि धन-वैभव परिवार, मित्रजन पार्टी आदिककी कितनी कल्पनायें बना रहा और दो मिनट बाद यहाँसे चला गया, कुछ भी न रहा, तो साराका सारा समागम एकदम छूट जाता है, यह तो स्थिति मंजूर करनी ही पड़ती है, चारा ही क्या है? मंजूर करें या न करें, सब कुछ एकदम छूट ही जाता है, मगर ज्ञानबलसे यहाँ जीवित अवस्थामें ऐसा निर्णय नहीं कर पाते कि मेरे आत्मस्वरूपको छोड़कर बाकी सब मेरेसे भिन्न हैं, पृथक् हैं। जब ऐसा निर्णय नहीं कर पाते तो चीज मिलती है तो दुःख मानते, नहीं मिलती है तो दुःख मानते। कुछ इष्ट समागम मिल गए, मित्र जन, धन-वैभव, परिजन आदिक अच्छे मिल गए तो क्या वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निराकुल रहता है ¿ उसके कल्पनायें नहीं चलतीं क्या ? कल्पनायें चलतीं, नाना तरहके भय भी चलते, शंकायें भी करता तो क्या सुखी हो गया ?

जगतके बाहरी पदार्थ अगर मनमाने भी मिल जायें तो क्या वह सुखी हो गया ? और मानो नहीं मिला कुछ तो क्या इसमें आत्माकी कौनसी बात घट गई ? आत्माका ज्ञान, दर्शन, चारित्र कौनसा गुण खत्म हो गया ? क्या प्रदेश मिट गए, क्या सत्ता मिट गई ? कौनसी यहाँ हानि हो गई ? तो बाहरी पदार्थोंपर सुख दुःख निर्भर नहीं, किन्तु अपने आपके ज्ञानकी कलापर सुख दुःख निर्भर हैं, फिर भी छद्मस्थ अवस्थामें यह जीव जब कल्पना कर रहा, अपना जो कुछ भी इसे मिल रहा वह सब व्यवस्था कर्मोंके उदयके अनुसार है। सो जब दानान्तराय आदिक प्रकृतियोंका क्षयोपशम होता है तो इस जीवको दान, लाभ आदिक की प्राप्ति भी होती है।

क्षायोपशमिक भावके अन्तिम ३ प्रकार—यह जीवके अन्तःस्वरूपकी निगरानी की जा रही है कि क्या-क्या जीवमें होता रहता है ? जीवमें सच्चे ज्ञानका परिणमन चलता, किसी जीवमें मिथ्याज्ञानका परिणमन है। जीवको सामान्य झलक हुआ करती है, जीवमें दान, लाभ, भोग, उपभोग शक्तिके प्रसंग आते हैं और इसके अतिरिक्त क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता। क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम—ये तीन चीजें क्या हैं ? आत्माका जो सम्यक्त्व गुण है यह इस समय इस जीवके विषयकषायोंकी शक्तिके कारण यह विपरीत चल रहा है, उसमें निमित्त है अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहका उदय। तो इन ७ प्रकृतियोंका जब क्षयोपशम हो याने कुछ प्रकृतियाँ नष्ट हों, उदयाभावमें आयें और कुछका उदय रहे तो ऐसी स्थितिमें यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इसमें मलिनता है थोड़ीसी, सम्यक्त्व है पूरा, देवशास्त्र गुरुकी सच्ची श्रद्धा, ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान्, आत्मा और अनात्माका भेद श्रद्धान् और अपने आपका सहज चैतन्यस्वभाव रूपमें अनुभव– ये सब बातें क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें हैं, किन्तु सूक्ष्म दोष भी साथ हैं चल, मलिन, अगाढ़, ऐसी क्षायोपशमिक जैसी स्थिति जीवकी होती है। क्षायोपशमिक चारित्र क्या ? जो मुनिराज महाव्रत पालन करते हैं उनके मंद कषाय हैं, उनके तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं हैं, शान्त हैं। शत्रु मित्रको एक समान देखते, शत्रुपर द्वेष नहीं, मित्रपर मोह नहीं। काया कंचन जिनके लिए समान हैं, जगतका सारा वैभव जिनके लिए तृणवत् है। जैसे जीर्ण-शीर्ण पुराने तृणसे आत्माको कोई हानि-लाभ नहीं होता, ऐसे ही जगतके इन सारे वैभवोंसे, जिसे लोग करोड़ोंकी माया कहते हैं उससे भी इस जीवको हानि-लाभ रंच नहीं है।

ये तो सब बाहरी पुद्गल हैं, अपनी जगहमें पड़े हुए हैं, उनका परिणमन उनके प्रदेशों में चल रहा है, उनका कुछ भी मेरे आत्मामें नहीं आता। फिर उससे लाभ क्या और हानि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्या ? कुछ भी लाभ हानि नहीं है इन बाहरी साधनोंसे। लेकिन जब जीवके अज्ञान रहता तो अपना महत्त्व तो सब भूल जाते और बाहरी पदार्थोंसे ही अपना बड़प्पन मानते हैं। मैं बड़ा हूं, मैं करोड़पति हूं, मैं बड़ा हूं, क्योंकि इस गाँवमें मेरी प्रतिष्ठा है, मैं बड़ा हूं क्योंकि अपनी समाजमें अपने आपका अच्छा स्थान है। इन बातोंसे तो अपनेको महान निरख लेते हैं, पर मैं सिद्ध भगवानके समान ज्ञानानन्दका पुञ्ज हूं, विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, अपने आपके सत्त्वसे ही मैं अपनेमें एक परमात्मस्वरूप हूं, यह है महिमा मेरी, यह इसकी दृष्टिमें नहीं है। तो जो चारित्रवान हैं, ज्ञानीजन हैं, साधुसंत हैं उनके लिए सारा वैभव भी जीर्ण तृणकी तरह लगता है। सब कुछ उन्होंने त्याग दिया।

क्षायोपशमिक संयमीके क्रोधकी मंदता—संयमी पुरुषकी कषाय भी मंद हैं– अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदिक ये १२ कषायें नहीं रहीं, सिर्फ संज्वलन कषाय है। जैसे क्रोध ४ तरहके होते हैं– अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। जैसे पानीमें लाठीसे एक लकीर खींची तो वह पानीमें लकीर खिर गई मगर कितनी देर रहती ? वह तो तुरन्त ही मिट जाती। लकीर रहती ही नहीं है। जिस समय खींच रहे उस समय थोड़ा मालूम होता कि रेखा खींच दी गई मगर पीछे कुछ पता नहीं पड़ता कि रेखा खींची गई। ऐसा तो होता है संज्वलन क्रोध। इतना क्रोध मुनियोंके रहता है। जैसे गाड़ी चलती है तो गाड़ीके पहियेकी लकीर मार्गपर बन जाती है, वह लकीर २-४-६ घंटे ठहरती है ना, कहो एक दो दिन भी ठहर जाय, तो ऐसा क्रोध होता है व्रती सम्यग्दृष्टि गृहस्थके, इससे अधिक नहीं होता। एक क्रोध ऐसा होता है कि जैसे मानो खेतमें हल जोता तो हल्की जो लकीर चलती है वह इस मार्गकी लकीरसे ज्यादा समय तक ठहरती है, कहो दो चार महीना भी ठहर जाय तो इस प्रकारका क्रोध होता है ज्यादासे ज्यादा अव्रती सम्यग्दृष्टिके, मगर जो मोही अज्ञानी हैं उनके तो इस जातिका क्रोध होता। जैसे दृष्टांतमें मान लो पत्थरमें जैसे लकीर खींच दी जाय तो वह सारे जीवन रहती है, तो ऐसी क्रोधकी डिग्रियाँ हैं। साधुओंमें संयमीमें क्रोध मंद है, संज्वलन क्रोध ही है।

संयमी पुरुषमें मान, माया, लोभकी मंदता—मानकी डिग्री भी बहुत हैं। एक ऐसा तीव्र मान होता, जैसे कि वज्र और पत्थर कठोर होते हैं। जरा भी नम नहीं सकता। एक ऐसा मान होता कि जैसे हड्डी अथवा काष्ठ होता है वह नम जाता है, एक ऐसा मान जैसे कि बाँस होता है, नम जाता है और एक बिल्कुल पतला बाँस होता है, हरा बाँस जैसा चाहे लपेट लें, गोल कर लें, तो जैसे इसमें कठोरता और नम्रताके दर्जे हैं, ऐसे ही चार प्रकारके कठोरता और नम्रताके दर्जे हैं। इनमें संयमीके मान मंद

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

डिग्रीका है । छल कपट भी चार प्रकारके होते हैं । जैसे दृष्टान्तमें लो—बाँसकी गाँठमें टेढ़ापन । बाँसमें बहुत टेढ़ होती है सबसे नीचे जड़में, तो इस वक्रतासे मतलब छल-कपट भाव लिया जाता है । टेढ़ेपनमें मायामें भी तो टेढ़ापन रहता । किसका दिल कितना टेढ़ा है जिसका दूसरेको कुछ पता ही न पड़ सके कि इसके मनमें क्या है ? कोई होता खुरपा जैसा टेढ़ापन, कोई होता वर्द्धामूतन जैसा टेढ़ापन । ऐसे टेढ़ेपनसे, वक्रतासे ये सब छल-कपट के दर्जे समझे जाते हैं । इनमेंसे संयमी जीवके अत्यन्त मंद मायाकषाय रहती है । लोभकी रंगसे उपमा देते हैं । किसीको ऐसा कठिन लोभका रंग चढ़ जाता है जैसे कि गाड़ीके चकेके अन्दर कजली होती है, जिसे कपड़ेमें लगा दिया जाय तो वह कालिमा तब तक नहीं छूटती जब तक कि कपड़ेकी जिंदगी न खत्म हो जाय, ऐसे ही लोभका रंग जो इसके हृदयसे निकले ही नहीं, कभी ऐसा भान नहीं कर सकता । अनन्तानुबंधी लोभी जिसे यह विदित नहीं कि मैं इस वैभवसे एक न्यारी सत्ता वाला पदार्थ हूं । वह तो इस बाहरी वैभवपर ही अपना जीवन समझता और बाहरी वैभव घट जाय, नष्ट हो जाय तो अपना मरण समझता, और ऐसा जीव अत्यन्त दुःखी रहता । जिनके ज्ञानबल है, जो सम्यग्दृष्टि जन हैं वे स्पष्ट जानते हैं कि मेरा मेरे आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त जगतमें कुछ भी नहीं है ।

तो जो अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं उनपर तृष्णाका इतना गहरा रंग होता है कि जैसे चाककी कजली कपड़ेपर लग जाय तो कभी नहीं छूटती । कुछ इससे हल्के रंग होते जो प्रयास करनेसे छूट जाते हैं । कुछ बिल्कुल हल्के रंग होते हैं, जैसे हल्दीके रंगसे रंगा कपड़ा जरासा पानीमें डाला और मल दिया तो रंग साफ हो जाता है या जैसे टेसू (पलास) का रंग जो कि होलीके समयमें गुलालके रूपमें खेला जाता है वह बिल्कुल ही हल्का होता है । उसे तो जरा सा धो दिया तो साफ हो जाता है, ऐसे ही लोभके रंग भी जीवोंपर नाना तरहके होते हैं । बिल्लीके कैसा लोभका रंग है कि यदि वह अपने मुखमें कोई चूहा आदिक खानेकी चीज दबा ले तो फिर उसे चाहे कोई लाठीसे भी पीटे, फिर भी वह नही छोड़ सकती और एक हिरण का कैसा लोभका रंग कि जैसे वह जंगलमें खूब अच्छी हरी-भरी घास खा रहा, पर कहींसे जरासी आहट आ जाय तो झट वह अपनी गर्दन ऊँची करके उस घासको छोड़कर बड़ी दूर भाग जाता है । संयमी पुरुषके सिर्फ संज्वलन लोभ है, उनके लोभकषाय मंद रहती है । अज्ञानमें लोभके नाना प्रकारके रंग इस जीवपर छाये हैं, जिनके कारण ये जीव दुःखी होते हैं ।

चारित्रमोहनीयके क्षयोपशमके अनुसार क्षायोपशमिक विरतिमें विशेषता—जीवके स्वरूपको देखो तो कोई भी जीव दुःखी नहीं है और अपने आप अपने स्वरूपसे स्वयं आनन्द-मय है । अपनेसे वास्ता रखें, बाहरी पदार्थोंसे लगाव न रखें, कुछ ख्याल भी न करें, सबसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भिन्न अपनेको पहिचाने, फिर इसको क्या कष्ट है? फिर यह अपने ही उपायोंसे कष्ट पाता रहता है। तो साधुसंत जन इन सब बाहरी पदार्थोंसे अत्यन्त विरक्त रहते हैं और अपने इस विविक्त ज्ञानस्वभाव अखण्ड चैतन्यस्वरूपकी आराधनामें रहा करते हैं, इसी कारण वे परमेष्ठी कहलाते हैं। एक भाव है संयमासंयम। यह होता है अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण इन ८ कषायोंके उदयाभावसे और उपशमसे और प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेपर और संज्वलन आदिकके उदय होनेपर एक इतनी डिग्रीकी मंदकषाय होती है कि जो अज्ञानीसे कम है, अव्रती सम्यग्दृष्टिसे कम है और इसी बलपर इस व्रतीके निरन्तर यथायोग्य कर्मोंकी निर्जरा चलती रहती है। जीवका वैभव है कषाय न करना और यथार्थ समझ बनाये रहना। अब यह परीक्षा कर लो कि हम इन दो वैभवोंको पाये हुए हैं या नहीं? जगतके अणु-अणु प्रत्येक जीव भिन्न स्वतंत्र दृष्टिमें आयें और सबसे निराला खुद मैं आत्मा हूं यह ज्ञानज्योतिस्वरूप अमूर्त, यह समझ रहे और कषायें मंद रहें तो समझो कि हमने अपना वैभव पाया, जो खास चीज है, जिसके लाभसे मेरा कल्याण है वह चीज मैंने पायीं और यदि ये दो चीजें न पायीं, जगतके अन्य बाहरी बाहरी कितनी चीजें पाते रहे तो उससे इस आत्मा का कुछ भी लाभ नहीं हैं। यह जीव सोचता है कि हम इन लोगोंके बीच अच्छे कहलायें, तो यह तो बताओ कि किन लोगोंके बीच अच्छा कहलवाना चाहते? ये दिखने वाले लोग कोई पवित्र हैं क्या, परमात्मा हैं क्या, प्रभु हैं क्या? क्या इनके हाथमें कुछ ऐसी डोर लगी है जो ये अच्छा कह दें तो मेरा भला जाय? कुछ सम्बन्ध है क्या? सारा जगत उल्टा बोले निन्दा करे, खुद भीतरमें सही हैं तो ये तो आनन्द पायेंगे। इस परनिन्दासे इस जीवका कोई नुक्सान नहीं है, फिर क्यों यह चाहता है कि मैं इस जगतके बीच कुछ अच्छा कहलाऊँ? अरे अच्छा कहलाऊं तो क्या, न कहलाऊं तो क्या? इस जीवपर तो वह बात बीतती है जो इस जीवकी करनी है। अच्छा मान लो कुछ भी हो रहा, जैसे आजकलके लोग समझते कि हमें वैभव सम्पदा मिली तो बताओ वह सम्पदा कितने दिनोंके लिए है? आप कहेंगे कि जब तक हमारा जीवन है तब तकके लिए है। तो भला बतलाओ यह १०–२०–५० वर्षका जीवन इस अनन्त कालके सामने कुछ गिनती भी रखता है क्या? कुछ भी तो गिनती नहीं रखता। भविष्यमें जो अनन्त काल पड़ा है उसमें हमारी क्या स्थिति रहेगी, इसकी तो कुछ भी फिक्र नहीं करते और न कुछ जैसे १०–२०–५० वर्षके जीवनके लिए इतनी-इतनी चिन्तायें लादे फिरते। जिन जिनसे मोह है उनके लिए अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्यौछावर करनेके लिए तत्पर रहते, यह कितना बड़ा अज्ञान है? तो जो ज्ञानी पुरुष हैं, सम्यग्दृष्टि हैं उनके इस प्रकारका अंधेरा नहीं रहता, वे वस्तुका सही स्वरूप समझते हैं और उसमें तृप्त रहा करते हैं। तो ये सब क्षायोपशमिक भाव हैं। ये हमें मिले है तो हमें चाहिए कि हम इनका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सदुपयोग करें। मन मिला है तो मनसे अच्छा चिन्तन करें, धर्मवर्द्धक चिन्तन करें, वचन मिले हैं तो धर्ममयी वाणी बोलें। शरीर मिला हैं तो ऐसी चेष्टा करें कि जिससे विषयोंमें आसक्ति न हो, दूसरे जीवोंको क्लेश न हो।

सत् साधनोंका धर्मलाभके कार्यमें सदुपयोग करनेका कर्तव्य—जो भी साधन मिला है इसका सदुपयोग कर लिया जायगा तब तो ठीक है और यदि दुरुपयोग करेंगे तो जिसे जितना जो कुछ मिला है सो भी न रहेगा। जैसे मानो हम आपको कान मिले हैं तो इनका सदुपयोग यह है कि धर्मकी वाणी सुनें, प्रभुका उपदेश सुनें, भजन सुनें, एक शान्तिके मार्गकी बात सुनें और अगर इनका सदुपयोग न कर सके और दुरुपयोग किया, रागकी वाणी सुननेमें और ऐसी गंदी ही बातें सुननेमें चित्त रमाया तो ये कान भी अब मिलेंगे नहीं। चार इन्द्रिय जीव तक ही रह पायेंगे। जब जो चीज मिले उसका सदुपयोग नहीं करते तो फिर यहाँ भी तो देखो पिता कोई चीज देता है पुत्रको और वह पुत्र उस चीजका दुरुपयोग करता है तो पिता फिर देना बन्द कर देता है तो ऐसी ही प्राकृतिक बात है। आँखें मिली हैं तो प्रभुमूर्ति के दर्शन करें, स्वाध्याय करें। अब यदि इन आँखोंका सदुपयोग न करें, बल्कि दुरुपयोग करें, गंदी चीजोंके देखनेमें उनका उपयोग करें तो फिर समझो कि ये नेत्र भी नहीं मिलनेके, फिर तो तीन इन्द्रिय जीव ही रहेंगे। नाक मिली है, जिह्वा मिली है तो इनका भी सदुपयोग करें। बोलें तो अच्छी हित, मित, प्रिय वाणी बोलें, अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन न करें। अगर इस जिह्वाका सदुपयोग न किया, यों ही अटपट बोलते रहे, अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन करते रहे तो इसका फल यह होगा कि यह रसनाइन्द्रिय (जिह्वा) भी न मिलेगी।

भला बताओ यदि कोई पायी हुई चीजका सदुपयोग न करे तो फिर उसके पानेसे क्या फायदा ? जब जिह्वा न मिलेगी तो बस वही एकेन्द्रिय जीव पेड़-पौधा, पृथ्वी आदिक रह गए। तो जो अपनेको एक अंतरंग साधन मिला है मन इन्द्रिय तो इसका सदुपयोग करना चाहिए, और इसका सदुपयोग यही है कि जिससे ज्ञान बढ़े, धर्म बढ़े, आत्मामें अपना रमण आये, अपनेमें संतोष रहे, ऐसा उपयोग बने तो जीवन सफल है और इन बाहरी पदार्थोंके लगावमें, मोहमें अपना मन लगाया तो जीवन बेकार रहा, क्योंकि अगला भविष्य तो कुछ खराब हो गया, इसलिए इस १०-२०-५० वर्षकी जिन्दगीके पीछे चिन्ताओंमें मत घुलें, किन्तु भविष्यका जो अनन्त काल पड़ा है वह शान्तिसे गुजरे, उसका भी कुछ ध्यान करना चाहिए।

सम्यग्मिथ्यात्व, संज्ञित्व व योगका क्षायोपशमिक भावके बताये गये भेदोंमें अन्तर्भाव—जीवमें क्या होता रहता है उसका परिचय कराया जा रहा है। जीवके साथ कर्म लगे हैं तो उनका उदय होनेसे क्रोध, मान, माया, लोभादिक भाव होते है। वे औदयिक भाव कहलाते हैं। उन कर्मोंका कुछ उदय हुआ, कुछ दबे, ऐसी स्थितिमें क्षायोपशमिक भाव कह-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लाता है। कर्म दब जायें, फिर जो भाव हो सो औपशमिक भाव कहलाता। कर्म बिल्कुल नष्ट हो जायें तब जो भाव हो सो क्षायिक भाव है, और अपने आप कर्मकी किसी भी स्थिति की अपेक्षा बिना जो भाव रहना है सो पारिणामिक भाव है। तो क्षायोपशमिक भावकी चर्चामें यह प्रश्न आ सकता है कि और-और तो क्षायोपशमिक भाव बताया, तीन चीजें छोड़ दीं, संज्ञित्व याने संगी (मन वाला) होता, यह भी तो कर्मके क्षयोपशमसे होता है और सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान याने मिश्रभाव, वह भी क्षायोपशमिक है और योग याने मन, वचन, काय का हलन-चलन पाकर जो आत्माके प्रदेश हिलते हैं वह भी तो मिश्र अवस्थाकी चीज है। इन तीनको क्यों छोड़ दिया ? तो उत्तर यह है कि इन तीनोंका अन्तर्भाव हो जाता है याने मतिज्ञानमें संज्ञीपना आ जाता है। मन और इन्द्रियसे जाना जाय सो मतिज्ञान। उसमें भी नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम चाहिए याने मनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानको आवरने वाला जो कर्म है उसका क्षयोपशम होता है, यह ही बात संज्ञीपनेमें है। सम्यग्मिथ्यात्वका ग्रहण सम्यक्त्व शब्दसे हो जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व कहनेसे उसका अंश भी ले लिया जाता है। जैसे लोग खीर बनाते ना तो उसमें कुछ पानी भी तो डालते हैं। मगर कहते हैं कि दूधकी खीर, और पानी वाली कोई बात नहीं कही। कह देवे पानीकी खीर। तो जो प्रधान है उसके नामसे अप्रधान भी ग्रहणमें हो जाता है। जैसे कहते घी की पूड़ी। अब अकेले घी से पूड़ी बन जायगी क्या ? अरे उसमें पानी भी तो डलता, पर उसे पानीकी कोई नहीं कहता। तो जो प्रधान चीज है नाम उसीका तो लिया जायगा। तो सम्यक्त्व प्रधान है उससे सम्यग्मिथ्यात्वका भी ग्रहण करना। तीसरी चीज कहा योग। तो योगका ग्रहण वीर्यमें याने क्षायोपशमिक शक्तिमें ग्रहण कर लेना चाहिए। इस तरह जीवके क्षायोपशमिक भाव बताये गए हैं। अब औपशमिक भाव कौन-कौनसे हैं, उनके लिए सूत्र कहते हैं।

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

गति, कषाय, लिंग व मिथ्यादर्शनकी औदयिकताका प्रकाश—औदयिक भाव—गति, कषाय, लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्ध और लेश्या—इन ८ प्रकारोंमें होता है, जिनके कि क्रमशः ये भेद हैं। गति चार होती हैं—(१) नरकगति, (२) तिर्यंचगति, (३) मनुष्यगति और (४) देवगति। ये गति नामकर्मके उदयसे होती हैं। नरकगति नामकर्म का उदय होनेपर जीवको नरकगति मिलती तो यह गति नामक नामकर्मके उदयसे गति होती है, इस कारण यह औदयिक भाव है। कषायें चार—क्रोध, मान, माया, लोभ। ये कषाय भी क्रोधादि कर्मके उदयसे होते हैं। क्रोधप्रकृतिका उदय होनेपर कषाय जगी, मानप्रकृतिका उदय होनेसे मान कषाय बनी, मायाप्रकृतिके उदयमें माया कषाय बनी, लोभप्रकृतिके उदयमें लोभ कषाय बनी। तो ये चार कषायें हैं औदयिक। देखो जीवकी इन भीतरी बातोंको सम-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर शिक्षा क्या लेना ? स्वभावका परिचय करनेकी शिक्षा लेनी। ये औदयिक भाव हैं, मेरे आत्माके स्वरूप नहीं हैं, कर्मके उदयका सन्निधान पाकर हुए, ये मैं नहीं। मैं इनसे निराला हूं एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप––यह बोध लेना है औपाधिक भावोंका परिचय करके। लिंग क्या है ? पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, ये वेद नामक मोहनीयके उदयसे होते हैं, इसलिए ये औदयिक हैं और द्रव्यवेद पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे होते हैं, सो वे भी औदयिक हैं। औदयिकका अर्थ यह है कि किसीके सन्निधानमें होने वाले विकारभाव हैं। जैसे दर्पण तो स्वच्छ होता और दर्पणके सामने रंग-बिरंगी चीज आ जाय तो दर्पणमें वह मलिनता जगती, तो वह मलिनता औदयिक है, नैमित्तिक है, यह दर्पणका स्वरूप नहीं है। ऐसे औदयिक भावों को जानकर यह उमंग लाना, यह दृष्टि बनाना कि यह भाव औदयिक है, मेरे आत्माका स्वरूप नहीं है। मिथ्यादर्शन मिथ्यात्व नामक मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्याभाव होता है, इसलिए मिथ्यात्व औदयिक है। आत्मामें अपने आप अपने ही स्वरूपके कारण तो सही बात सम्यग्दर्शन है, लेकिन विरुद्ध दूसरी चीजका सम्बंध है और अनादि संततिसे चला आया है तो उसका उदय पाकर जो मिथ्याभाव हुआ वह औदयिक भाव है।

जीवविभाव व कर्मबन्धकी संततिकी अनादिता––जीवके साथ कर्म अनादिसे लगे चले आ रहे हैं। यह जीव अनादिसे अशुद्ध है। कहीं ऐसा नहीं कि जीव पहले बड़ा निर्मल था, पीछे इसमें कर्म लगे और इस जीवको संसारमें घूमना पड़ा, किन्तु जबसे जीव है अनादिसे, तब ही से कर्मबन्ध है। जैसे जिस पृथ्वीमें से सोना निकाला जाता वह पृथ्वी तो देखनेमें पत्थर, मिट्टी जैसी है। कोई परख नहीं हो पाती विशेष कि इस मिट्टीमें सोना भी मिलेगा। बहुत बारीक परख करने वाले समझते हैं। मनों ढेर मिट्टीसे कोई बहुत थोड़ासा स्वर्ण प्राप्त होता है। तो अब उस मिट्टीमें जो स्वर्ण है तो इस तरह नहीं है कि पहले स्वर्ण शुद्ध था जैसा कि दूकानपर रहता है और पीछे वह अशुद्ध बन गया। सोनेकी यह तारीफ है कि निकला हुआ शुद्ध स्वर्ण है तो उसपर जंग नहीं चढ़ती, वह मिट्टी नहीं बनता चिरकाल तक। जैसे स्वर्ण पहले शुद्ध हो और पीछे मिट्टी बना हो, ऐसा नहीं है। ऐसे ही जीव पहले शुद्ध हो और फिर संसारी बना हो, ऐसा नहीं है, किन्तु अनादिसे ही मलिन है, कर्मबद्ध है, तिस पर भी यह पूछा जाय कि कर्म लगनेका कारण क्या है ? तो उत्तर होगा—कषायभाव, भावकर्म और फिर पूछा जाय कषाय होनेका कारण क्या है ? तो कहा जायगा कर्मका उदय। तो इन दोनोंका ऐसा सम्बन्ध बनाया कि कर्मका उदय होनेसे मलिन भाव होते और मलिन भाव होने से कर्म बंधता, तो कोई पूछ बैठे तो इन दो में से सबसे पहले क्या था ? या तो यह कहो कि जीवके परिणाम मलिन थे, निमित्त पाकर कर्म बंधा, फिर मलिनता, बंध, मलिनता बंध चलता रहा। या यह कहो कि पहले कर्म था, उसका उदय होनेसे भाव खोटे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हुए।

अब कर्मबंध, खोटे भाव, कर्मबंध– यों परम्परा चल गयी। सो अगर ऐसा कहा जाय कि जीव सबसे पहले मलिन था इसलिए कर्म बंध गए तो यह बतलावो कि जीव मलिन क्यों हुआ था ? तो उत्तर यही आयगा कि पहले बंधे कर्मका उदय होनेसे मलिनता आयी। और वे पहलेके कर्म कैसे बंधे ? मलिन परिणाम किया था पहले तब कर्म बंधे। यह संतति अनादिसे चली आ रही। जैसे बीज और वृक्षकी संतति कैसे चली ? आम जो फल है वह आम फल कहांसे हुआ ? वृक्षसे हुआ। वह वृक्ष किससे हुआ ? पहले आमके फलकी गुठलीसे, वह आम कहांसे आया ? पहले वृक्षसे। वह वृक्ष कहांसे आया ? पहले आमकी गुठलीसे। तो सबसे पहले क्या था सो बताओ ? कोई एक बात तो नहीं कह सकते। अनादि माना है। इसका काल बहुत लम्बा है, इस कारण कुछ समझनेमें अटपटा-सा लगता होगा, लेकिन युक्ति से देखो कि वास्तवमें यह संतति अनादिसे है।

अच्छा अब बाप बेटाकी बात लो। यह बेटा कहांसे आया ? बापसे पैदा हुआ और वह बाप कहांसे आया ? पहले बापसे। वह बाप कहांसे आया ? पहले बापसे। तो बतलावो क्या कोई बाप था ऐसा जो बिना बापका था ? कहांसे आया ? तो बापकी परम्परा अनादिसे है। वहाँ कोई एक बाप बिना बापका कायम नहीं कर सकते। यह बात सही तौरसे मालूम हो रही है कि बेटा बापसे हुआ। वह बाप और बापसे हुआ। इससे पहले भोगभूमि थी। वहाँ भी जब जुगुलिया भी उत्पन्न होते थे तो जुगुलिया बापसे ही तो हुए। भले ही पैदा होते ही माँ बाप मर गए। जैसे यहाँ किसी बच्चेके पैदा होते ही माँ बाप मर जायें तो बिना बापके तो न कहेंगे। मरते तो थे, मगर हुए माँ बापसे और वह पहले माँ बापसे तो यह परम्परा अनादिसे है। इसमें कोई बाधा नहीं आती। अनादिकालसे चला आया है। अब इतना लम्बा देखना होता है कि बुद्धि कुछ थोड़ी हैरानसी हो जाती है, लेकिन युक्ति बताती है, कायदा बताता है कि यह संतति अनादिसे है। ऐसे ही कर्मबन्धन और परिणामोंकी मलिनता इसकी संतति भी बराबर अनादिसे चली आ रही है। तो यह ही हो रहा। पहले बाँधे हुए कर्मका उदय आया, कषाय जगी, अब कषाय जगी तो इस ही वक्त कर्मबन्धन हो गया।

कर्म व कर्मफलका तथ्य जानकर उससे विरक्त होनेका कर्तव्य—देखो यह बात बिल्कुल सत्य है। आज जैसे परिणाम करते खोटे, अच्छे, तत्काल बंधन हो जाता और उस कर्मका उदय आयगा तो फल भोगना होगा। लोग ऐसी शंका करते कि आजकल जो लोग खोटे काम करते, बूचड़खाने खोलते, हिंसाका व्यापार करते वे आज बड़े मजेमें दिख रहे, धनी भी हैं और इज्जत भी होती है तो ऐसा कहाँ रहा कि जैसी करनी करे वैसा फल पाये ? मगर यह बात सही है। जैसी करनी करे वैसा फल पायगा। बात ऐसी होती है कि कर्म जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बंधता है सो जो अज्ञानी है, पानी है उसके आजके बँधे हुए कर्म बहुत दिन बाद उदयमें आते हैं। जो ज्ञानी पुरुष है उसके कर्मबन्धन होवे तो उसका जल्दी उदयमें आता। आप सोचते होंगे कि बात कुछ उल्टीसी कही जा रही, पर उल्टा कुछ नहीं है। उसकी विधि यह है कि कर्मकी स्थिति यदि लम्बी पड़ती है, बहुत बड़ी पड़ती है तो उसकी आबाधा बड़ी होती है, वह कुछ देर बाद उदयमें शुरू होगा और जिस कर्मकी स्थिति थोडी रहती है, ज्ञानी कर्म बाँधता है तो थोड़ी स्थितिका बाँधता तो उसकी आबाधा थोड़ी होती है और शीघ्र उदयमें आता है। तो जो मोही अज्ञानी कषायवान जीव हैं, खोटी करने वाले हैं, उनके खोटे भावसे बड़ी लम्बी-लम्बी कर्मस्थिति होती है, तो उसका उदय आनेमें थोड़ा बिलम्ब रहता है, पर जबसे उदय आता तबसे लगातार लम्बे समय तक दुःख भोगना पड़ता है। आजका बाँधा हुआ कर्म अभी फल न देगा, कुछ समय बाद देता है, और जो भी जीव आज कुछ लौकिक हिसाबसे सुखमें हैं वे जीव पुण्यके उदयका फल पा रहे हैं। तुरन्तका नहीं मिलता। तो ऐसी जिसको एक वस्तुस्वरूपपर अटल श्रद्धा हो, मैं हूं, जो है वह कभी मिटता नहीं, रहेगा हमेशा, मैं हूं तो मैं मिटता नहीं, रहूंगा हमेशा। अब किस स्थितिमें रहना पसंद करते हो? रहना तो अवश्य पड़ेगा ही, सत्ता तो रहेगी। जो सत् है उसका विनाश कभी नहीं होता। यह तो बिल्कुल सही बात है।

एक बैञ्च है, जल गई, राख हो गई तो बेंच पर्याय न रही, मगर क्या परमाणुकी सत्ता नष्ट हो गई? वह राख बन गई, मिट्टीमें उसके कण पहुंच गए, पेड़-पौधे बन गए, पर जो परमाणु है, जो द्रव्य है उसकी सत्ता कभी मिटती नहीं। मैं हूं या नहीं? हूं। जिसमें सुख दुःखका अनुभव है, जिसमें कल्पनायें जगती हैं वह ही तो मैं हूं, मैं सदा रहूंगा। तो अब १०-२० वर्षका ही कुछ मर्यादित चिन्तन मत करें, भविष्यमें भी हम किस तरह रहें उसके पुरुषार्थकी भी बात कर लें और वहाँ भी लौकिक बातोंमें ही रमे रहनेमें सुख नहीं मिलता। थोड़ा दिमागको विश्राम चाहिए, थोड़ा धर्मका प्रसंग चाहिए अन्यथा ऊब जायेंगे। थोड़ी देर को समझो कि खूब रात-दिन कमाई कमाई हो और अर्थसंग्रह ही संग्रह हो और ऐसा ही करता रहे तो वह ऊब जायगा। थोड़ा चाहेगा विराम, थोड़ा चाहेगा धर्मपालन। तो धर्म बिना तो गुजारा नहीं चल सकता। धर्मपालनसे ही शान्ति मिलती है, मगर धर्मपालन नाम किसका है कि आत्माका जैसा अविकार ज्ञानानन्दस्वरूप है उस रूपमें अपनेको अनुभव करना कि मैं यह हूं, इसमें है धर्मपालन। मैं मनुष्य हूं, मैं पुजारी हूं, मैं भक्त हूं, मैं उत्तम कुलका हूं—ऐसा भाव रखे कोई तो वह अधर्मपालन है। धर्म वहाँ नहीं मिलता। और देखो बात तो आती हैं यह सब, उच्च कुल है कि नहीं? है उच्च कुल, मगर अपनेको कोई ऐसा माने कि मैं तो इस कुल वाला हूं, तो उसने अधर्म किया। उच्च कुल होते हुए भी और उच्च कुल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जैसी बात बने भी, लेकिन श्रद्धामें यह लायें कि मैं इस कुल वाला हूं तो वह मिथ्यात्व है, क्योंकि आत्माका जैसा सही स्वरूप है, निरपेक्ष स्वरूप है, वैसा इसनेन सोचा—सोच डाला उसका उल्टा। मैं तो विशुद्ध चैतन्य प्रकाशमात्र हूं। ऊँच कुल, नीच कुल गोत्रकर्मके उदयका निमित्त पाकर होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। तो एक सहज चैतन्यस्वभावको छोड़कर किसी भी रूपमें अपनेको स्वीकार करे तो वह सब धर्म नहीं है।

अपना मूल स्वरूप जाने बिना धर्म व धर्मफलके लाभकी असम्भवता—मूल बात यह है। जिसने मूल बात पकड़ ली, जान ली उसका तो अर्थ सिद्ध होता है और जिसने मूल बात न जानी वह सफल नहीं हो सकता। एक सही घटना है, शायद ललितपुर (बुन्देलखण्ड) की है कि कोई दो तीन बंजारे बाजारसे सामान लेकर अपने गाँवको जा रहे थे। जाड़ेके दिन थे। देर हो जानेसे उन्हें रास्तेमें एक जगह रातको रुकना पड़ा। एक पेड़के नीचे ठहर गए। अब ठंडीसे बचनेके लिए सोचा कि कहींसे लकड़ियाँ तोड़कर लायें, जलायें और तापकर रात बितायें। सो वे पास-पड़ौसके खेतोंसे लकड़ियाँ बीन लाये, उस पेड़के नीचे रातभर खूब जला-जलाकर तापा और सवेरा होते ही अपने गाँव चले गए। यह सब दृश्य उस पेड़के ऊपर बैठे हुए बंदर रात भर देखते रहे। उन बंदरोंने आपसमे सलाह की कि देखो अपन जैसे हाथ-पैर वाले तो वे भी थे, जो इस पेड़के नीचे बैठकर अपनी ठंड मिटाकर आरामसे रहे, अपन लोग भी क्यों न वैसा ही करें और ठंडसे बचें····। ठीक है। सभी बंदर दौड़े, पास पड़ौसके खेतोंसे लकड़ियाँ बीन लाये, एक जगह इकट्ठा किया। तापने बैठे तो ठंड मिटी नहीं। बंदर बोले कि अभी तो ठंड मिटी ही नहीं। तो उनमें से एक बन्दर बोला—अरे ऐसे ठंड कैसे मिटेगी ? उन्होंने तो कोई लाल-लाल चीज इन लकड़ियोंमें डाली थी तब ठंड मिटी।···· ठीक है। अब वहाँ बहुतेरे जुगुनू (पटबीजनायें) उड़ रही थीं, वे भी तो लाल रंगकी होती हैं सो उन्हें पकड़-पकड़कर लकड़ियोंमें डालने लगे। जब तापने बैठे तो ठंड मिटी ही नहीं। फिर बंदर बोले कि अभी भी सो ठंड नहीं मिटी। तो उनमेंसे एक बन्दर फिर बोला—अजी इस तरहसे ठंड कैसे मिटेगी ? उन्होंने तो मुखसे फूंक भी लगाया था। अपन लोग भी वैसी ही फूंक लगायें तो ठंड मिटेगी। सभी बंदरोंने खूब मुखसे फूंक लगायी, पर ठंड न मिटी····अब क्या करें ? तो एक बंदर फिर बोला—अजी इस तरहसे ठंड न मिटेगी। वे लोग तो इस तरहसे झुककर, पैरोंकी गाँठोंमें अपने दोनों हाथ रखकर कुकड़ू जैसे बैठे थे तब उनकी ठंड मिटी थी। सो सभी बंदर कुकड़ू जैसे बैठ गए, फिर भी ठंड न मिटी। तो सारे प्रयत्न कर लिये, फिर भी ठंड न मिटी तो उसका मूल कारण क्या था कि जो मूल चीज अग्नि है उसका उन्हें ज्ञान न था। तो जैसे मूल चीज अग्निका ज्ञान न होनेसे वे बंदर अपनी ठंड न मिटा सके, ऐसे ही जो अज्ञानी जन हैं, जिन्हें आत्माके सहजस्वरूपका परिचय नहीं है। जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस देहको ही मानते हैं कि यही मैं हूं—गृहस्थ मैं हूं, पुजारी मैं हूं आदिक, तो सारे क्रियाकाण्ड करनेपर भी उनको धर्मपालन न होगा। तो धर्मसाधनाके लिए मूल बात यह है कि आत्माके सहजस्वरूपका परिचय करना चाहिए।

सहजात्मस्वरूपकी विधिनिषेधगम्यता—अच्छा देखो अब, सहजस्वरूपका परिचय दो प्रकारसे होता है, एक तो विधि द्वारा कि यह हूं मैं और एक निषेध द्वारा कि यह नहीं, यह नहीं। उसीके साथ-साथ यह भी ज्ञान होता कि यह हूं मैं। जैसे चावल शोधने वाले लोग एक थालमें चावल धर लेते और चावल शोधते हैं तो कैसे शोधते कि यह आगे धरें इसे उठाकर फेंकें। जो कूड़ा है, कंकड़ है, छिलका है, जो चावल नहीं है, अचावल है उसे दूर करें और चावलको आगे करें, अपनी ओर करें, ये दो ही तो प्रक्रिया हैं उनकी। तो जिनको चावल और अचावल दोनोंका ज्ञान है वही तो चावलको ग्रहण कर सकता। तो ऐसे ही जीव और अजीव दोनोंका जिसको सही परिचय है वही तो अजीवसे हटकर जीवको ग्रहण करेगा। वह अपने लिए सोचिए कि आपका जीव क्या है और आपके लिए अजीव क्या है? आपका जीव है सहज चैतन्यस्वभाव, जो आत्माका अभिन्न परिणाम है, अनादिसे है, स्वरूप है, ऐसा जो चैतन्यज्योति प्रकाश है वह तो मैं जीव हूं, और इसके अतिरिक्त जो परिवारके और जीव हैं वे भी मेरे लिए जीव नहीं। मेरेको तो वे भी अजीव हैं और जितने वैभव ठाठ हैं वे सब तो प्रकट अजीव हैं ही और कर्म अजीव हैं और रागद्वेष क्रोध भाव ये भी अजीव हैं। ये जीव नहीं हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। ये पौद्गलिक कर्मके उदयका सन्निधान पाकर हुए हैं, ये मैं नहीं, जड़ वैभव मैं नहीं, परिवार मैं नहीं, शरीर मैं नहीं, कर्म मैं नहीं। कर्मके उदयसे जो कषायादिक भाव हैं वे मैं नहीं और कर्मके क्षयोपशमसे जो कुछ छुटपुट अधूरा मेरा विकास है वह भी मैं नहीं। मैं तो एक परमपारिणामिक ध्रुव सहज चैतन्यप्रकाश हूं—ऐसा जो निरख लेगा उसको यह कल्पना नहीं बनती कि यह मेरा पुत्र है, स्त्री है, पिता है। मैं मैं हूं, ये ये ही हैं। मेरा जगतमें कहीं कुछ नहीं है। किसीका मैं कुछ नहीं, ऐसा बोध सम्यग्ज्ञानी जीवमें होता है। तो इसी बोधके लिए जीवकी अन्दरकी सब बातोंका परिचय करना चाहिए। यहाँ औपाधिक अथवा औदयिक भावकी चर्चा चल रही है। ये सब अज्ञान मिथ्यादर्शन आदिक औदयिक भाव हैं। अज्ञान भी औदयिक भाव है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जितने अंशमें ज्ञान नहीं प्रकट हो रहा उतने अंशमें अज्ञान है। ये औदयिक भाव मैं नहीं। यह शिक्षा लेनी है जीवके औदयिक भावोंका परिचय पाकर। जितने भी उपदेश होते हैं सबका प्रयोजन एक ही है कि मैं विकारभावोंसे तो हट जाऊं और अपने निज सहजस्वभावमें लग जाऊँ। यह ही बात इस सब उपदेशको सुन करके अपनेको प्राप्त कर लेनी चाहिए।

गति, कषाय, लिङ्ग नामक औदयिक भावोंकी अहितरूपता—जीवमें औदयिकभाव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किस किस प्रकारके होते हैं उसकी चर्चा चल रही है। यह जीवके भावोंकी बात कही जा रही। और भी शेष औदयिक हैं जो शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं, उनकी यहाँ चर्चा नहीं, क्योंकि जीवके स्वतत्त्व कौन हैं इस प्रतिज्ञापर यह प्रसंग चल रहा है। गतियाँ नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ये औदायिक भाव हैं। कर्मके उदयका निमित्त पाकर होते हैं। जीव यहाँ जिस शरीरको पाते हैं उस शरीरमें ही रम जाते हैं। शिक्षा यहाँ यह लेनी चाहिए कि यह शरीर रमने लायक नहीं, यह पर्याय रमने लायक नहीं, क्योंकि ये औदयिकभाव इस जीवके स्वरूपकी चीज नहीं हैं। लोकमें भी तो कहते हैं कि जो अपना घर है उसमें रहो, दूसरेके मांगे हुए घरमें कब तक रहोगे ? शल्य रहेगा। ऐसे ही यहाँ भी तो तको। जो अपना निजस्वभाव है उस घरमें रहो। जो कर्मके उदयसे मिला है उसमें कब तक रमोगे ? परमें रमनेमें कोई लाभ नहीं है।

औदयिक भावकी चर्चा सुनकर यह शिक्षा लेनी है कि ये सब भाव रमने लायक नहीं हैं। रमने लायक भाव तो मात्र एक आत्माका सहज चैतन्यस्वभाव है। कषाय भी औदयिक भाव है, क्योंकि चारित्र मोहनीयकर्मके उदय होनेपर उनके विपाकका जो प्रतिफलन होता है उससे उपयोग तिरस्कृत हो जाता है और अविभूत होकर यह उपयोग इन्द्रियके विषयोंमें जुड़ता है और इस तरह इसके विकार प्रकट होता है। ये कषाय रमनेकी चीज नहीं, इनको तो विपत्ति मानना चाहिए। कभी चित्तमें क्रोध आये तो तुरन्त सम्हल जावो और मान लो कि यह क्रोध मेरा बैरी है। इससे किसी दूसरेका नुक्सान न होगा, खुदका ही नुक्सान होगा। नुक्सान क्या है ? पवित्रता बिगड़ जाना, आकुलता आ जाना, यह ही तो नुक्सान है। तो कषायभाव जगा, क्रोध हुआ, घमंड आया, अपनी किसी कलापर घमंड आ जाय, अपने किसी उच्च बर्तावपर घमंड आ जाय तो यह घमंड इसे डुबा देगा, क्योंकि संसार है, परिभ्रमण है, जन्म-मरण है, कर्मबन्धन है, ये सारी विडम्बनायें तो लगी हैं इसमें, जब मान कषाय चित्तमें आया तब समझो कि हम विपत्तिमें पड़ गए। उससे उपेक्षा करना और आत्माके स्वभावमें उपयोग लगाना, इसी प्रकार मायाका बर्ताव छल कपट, यह बर्ताव इस जीवकी बरबादीके लिए है। यह किसी दूसरेका नुक्सान नहीं, मगर दूसरा कोई तो अपने ही कर्तव्यके अनुसार लौकिक सुख दुःख पायेगा। पर यहाँ मायाचार करके स्वयंको बरबाद कर लिया जायगा। लोभ कषाय—अत्यन्त भिन्न परपदार्थोंपर उनको अपनानेकी क्यों भावना जगी ? यह तो जीवपर बहुत बड़ा भारी जुल्म है। कैसा भयंकर उदय है कि बैठे ही बैठे ठलुवा दुःखी हो जाता है यह जीव। क्या प्रयोजन है इसका कि किसी परपदार्थमें लगाव रखे, क्या हक है ? जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न-भिन्न हैं, किसीका किसी अन्यमें प्रवेश नहीं है। सभी द्रव्य खुदमें परिपूर्ण हैं। फिर अचेतन तो उत्पात करते नहीं, ये ही चेतन अपने आपमें अपनेको

http://sahjanandvarnishastra.org/

कल्पनासे रगड़कर अपनेमें उत्पात किया करते हैं।

तो औदयिक भावकी जानकारीसे यह ही शिक्षा लेनी है कि मैं तो सहज ज्ञानस्वरूप हूं, जितने अन्य परभाव हैं, कर्मविपाक हैं, वे मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं तो अपने स्वरूपमें लगाव रखूंगा। विभावोंसे मेरा कोई लगाव न रहेगा। औदयिक भावोंका परिचय कराकर आचार्य संतोंने जीवोंका महान् उपकार किया है। जिसमें रमते थे उन भावोंको असार दिखा देना, बेकार बनाना, यह समझ बना दी जाय, यह कितना बड़ा भारी उपकार है? तो कषाय जीवका स्वरूप नहीं है। इसमें रमना संसारके क्लेशका ही कारण है। लिंग, ये भी कषायके ही रूप हैं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, कामपरिणाम ये सब भी जीवपर विपत्ति हैं। जीव विकार न करे, अपने अविकार चैतन्यस्वरूपमें रमण करे तो इस जीवका कल्याण है, पर अनन्त जीव संसारमें हैं और रहेंगे, बिरले ही भव्य जीव अपने आपका विकास पाकर संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय बनाते हैं। यह सारा संसार विडम्बनासे डूबा हुआ है। विडम्बना क्या है कि बाह्य पदार्थोंमें प्रीतिका परिणाम होता है।

मिथ्यादर्शन नामक औदयिक भावकी अहितरूपता—मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है तो दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होनेपर एक ऐसा प्रतिफलन होता है उपयोगपर कि यह उपयोग बेसुधीमें आ जाता है। इसको अपना कोई होश नहीं है, और जैसे कोई शराब पिया हुआ मनुष्य अपना होश भूलकर बाहरी बातोंमें कुछसे कुछ अटपट कहा करता है, ऐसे ही यह अज्ञानी जीव अपना होश छोड़कर बाहरी पदार्थोंमें अटपट विकल्प बनाये रहता है। यह मिथ्यादर्शन सर्व विडम्बनाकी जड़ है। अब लोग अपना रोज हिसाब तो यह लगाते हैं कि मेरेको इतना घाटा हुआ, इतनी प्राप्ति हुई, ऐसा परिवार मिला, पर इस विकल्पमें जिसका उपयोग घूम रहा है वह गरीब है, संकटमें है। अज्ञानी है, बेसुधी है, सच्ची सुध नहीं है। और इन सब बाहरी चेतन अचेतन परिग्रहोंका विकल्प छोड़कर एक अपने आपके सहजस्वरूपका भान करें तो वह सच्चा अमीर है। जो वास्तविक वैभव है उसकी तो सुध नहीं, जो मिथ्या माया है, उसमें लिपटाव बन रहा, इससे बढ़कर जीवपर विडम्बना और क्या कही जा सकती है?

अज्ञान नामक औदयिक भावकी अहितरूपता—अज्ञान भाव भी औदयिक भाव है। अज्ञानका अर्थ है—जितना ज्ञान नहीं उत्पन्न हो रहा, जैसे एकेन्द्रिय जीवके रसना इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, कर्णइन्द्रिय और नोकर्म, इनसे उत्पन्न हो सकने वाले ज्ञानका आवरण है इसलिए दूसरे तीसरे आदिक इन्द्रियसे ज्ञान एकेन्द्रियके हो ही नहीं सकता। तो इस इन्द्रियका ज्ञान न हो पाना इन्द्रिय ही नहीं है। इतना ज्ञान न हो सकना यह अज्ञान है और यह औदयिक भाव है। जितना उसके ज्ञान प्रकट हुआ है वह तो कुज्ञानरूप अज्ञान है याने खोटा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञान। और जो ज्ञान हो ही नहीं सकता, जिसका कोई साधन ही नहीं है, क्षयोपशम ही नहीं है वह अज्ञान औदयिक अज्ञान है। इसी प्रकार दोइन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसनाइन्द्रिय सम्बंधी तो ज्ञान चलता है तो वह कुज्ञान है, और तीसरा, चौथा, ५वाँ इन्द्रियज्ञान उसके नहीं हो सकता। क्षयोपशम ही नहीं है। बाह्य साधन भी नहीं है। तो जो ज्ञान नहीं हो सकता ऐसा ज्ञान उनका औदयिक अज्ञान है। तीनइन्द्रिय जीवके नेत्र कर्ण और मनके निमित्तका ज्ञान न बन पायगा, क्योंकि क्षयोपशम नहीं, साधन नहीं तो उसे ज्ञान नहीं होता, औदयिक अज्ञान है। चारइन्द्रिय जीवमें कर्ण और मन सम्बंधी ज्ञान नहीं बन सकता, इसलिए वह ज्ञान औदयिक अज्ञान है।

अब पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें भी तो तिर्यञ्च अक्षर नहीं बोल सकते। कुछ पक्षी तो हैं जैसे सुवा, मैना वगैरा ये अक्षर बोल लेते हैं, सिखायेसे बोलें सही, पर सारे पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ये कुछ अक्षर नहीं बोल सकते। गाय, घोड़ा, बैल, भैंस आदिक पशु चीत्कार करेंगे, पर अक्षररूप भाषा न निकलेगी। और कोई मनुष्य ऐसे हैं जो अक्षर बोल ही नहीं सकते, गूंगे हैं, ऐसे ही पञ्चेन्द्रिय हैं। जिनके अक्षर श्रुतज्ञानावरणका उदय है और उनके अक्षरात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। अतः अक्षरात्मक ज्ञान न होना यह औदयिक अज्ञान है, इसी प्रकार जिनके मन नहीं है, ऐसे सभी जीव, उनके मन सम्बन्धी ज्ञान नहीं बन सकता। हित अहित की परीक्षा उनसे नहीं बन सकती, इस कारणसे इनका ज्ञान न होना औदयिक अज्ञान है। इससे हम यह सीख पाते हैं कि जो ज्ञान प्रकट नहीं हो पा रहा है वह औपाधिक दोष है। मनुष्योंके भी जिनके अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान नहीं, तत्सम्बंधी अज्ञान है वे औदयिक हैं। बड़े मुनिराजके जिसके केवलज्ञान नहीं हुआ, १२वें गुणस्थान तक केवलज्ञानावरणके उदयसे अज्ञान बना हुआ है यह औदयिक अज्ञान है। तो आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है। इसका स्वरूप ही है कि ज्ञानका विकास होना, मगर अनादि बन्धन ऐसा लगा है ऐसा निमित्तनैमित्तिक प्रसंग है कि उस प्रसंगमें यह जीव अपने आपकी कमजोरीसे, योग्यतासे अज्ञानरूप बन रहा है। यह अज्ञान औदयिक भाव है। यह कोई मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो समस्त सत् पदार्थोंको एक साथ ले जानेका है।

यद्यपि ज्ञानी जीवको मैं समस्त सत्को जान जाऊँ ऐसा कोई व्याहमोह नहीं है। मुझे सबको जाननेका क्या प्रयोजन? ज्ञानीको तो केवल निराकुलताका प्रयोजन है। ज्ञान हमारा बने न बने, पर इतना ज्ञान रहे कि मैं अपने वास्तविक ज्ञानस्वरूपको जानता रहूं, बस यही मेरी निराकुलताका साधन है। सो चाहता तो नहीं कोई कि मैं जगतके सारे पदार्थोंको जान लूं ऐसा ज्ञान बने, लेकिन ज्ञानकी प्रकृति ही ऐसी है, स्वभाव ही ऐसा है कि वह निरावरण रहे, पवित्र हो तो नियमसे जो भी सत् है वह सत् इस ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होता है अर्थात्

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है। तो ऐसा केवलज्ञान इस जीवकी एक विशुद्ध पवित्र अवस्था है। हम प्रभुको क्यों पूजते हैं कि उनके सर्व पवित्रता प्रकट हो गई। आनन्द पवित्रतामें है, अपवित्र रहनेमें आनन्द नहीं। अपवित्रता तो संसारकी जननी है। तो प्रभुके स्मरणसे अपनेमें उत्साह जगता है कि मेरा भी यही स्वरूप है फिर मैं क्यों अपवित्रता करूँ ? मैं तो अपनेमें तृप्त रहूंगा। यह सब शिक्षा इस औदयिक भावके परिचयसे प्राप्त हो रही है। यह हो रहा है निषेध मुखेन परिचय अपने आपका।

असंयम—असंयम भी औदयिक भाव है क्योंकि चारित्रमोहनीय कर्मका उदय होता है तो असंयम बनता है। जो कर्म उदयमें आते हैं वे कर्म क्या हैं ? कर्मपरमाणुओंका पिण्ड। उनमें कई स्पर्धक ऐसे हैं, कई परमाणु स्कंध ऐसे हैं जो जीवके गुणका पूरी तरह विघातके कारण बनते हैं और कुछ स्कंध ऐसे हैं जो जीवके पूरी तरह विघातके कारण तो नहीं बनते, किन्तु एकदेश विघात करते हैं, कुछ विकास बना रहने देते हैं। तो असंयम भाव चारित्रमोहनीयके सर्वघाती स्पर्धकके उदयसे होता है, अन्यथा बात क्या होती कि प्राणियोंका घात करने से हटे ऐसा उसमें परिणाम नहीं जगता। इन्द्रियविषयोंसे हटे, ऐसा उसमें भाव नहीं बनता। तो ऐसा जो असंयम भाव है याने इस जीवकी जो एक स्वच्छंद प्रवृत्ति है, जैसी मोहने प्रेरणा दी, जैसा कषायने आदेश दिया वैसा ये विकार चलने लगे। हिंसा करें, अन्य अन्य बातें, कुभावनायें करें, तो यह सब एक असंयम भाव है। यह असंयम भाव औदयिक भाव है। जो जो औदयिक भाव होते हैं वे वे इस जीवके आरामके लिए नहीं होते, बल्कि विपत्तिके लिए होते हैं। जैसे दर्पणके सामने कोई रंग बिरंगी चीज रखी हो तो वहाँ दर्पणपर एक अविघातसा है, दर्पणका जो स्वच्छ स्वरूप है, स्वच्छता है वह नहीं रहती, वहाँ रंग-बिरंगा चित्रण बन जाता है। ऐसे ही इस चारित्रमोहनीय कर्मका अनुभाग आया, उदय आया और इस उपयोगपर छा गया। वहाँ उपयोग ऐसा मलिन बना कि इसको निवृत्ति, वैराग्य, यह रंच भी नहीं सुहाता। राग प्रवृत्ति इनमें ही आसक्त हो जाता है। तो ऐसा असंयम भाव औदयिक भाव है, पर आप देखो मनुष्य हुए तो यह जीवन ही तो चलाना है। किसके लिए जीवन चलाना कि आत्माकी सुध हो, धर्मसाधन हो, अगला भविष्य मेरा सही बने और मैं जल्दी कर्मोंसे मुक्त हो जाऊं, इसके लिए यह जीवन है। अन्य बातोंके लिए जोवन न समझिये। अन्य बातें तो एक सांसारिक चीजें हैं, विडम्बना हैं।

तो लो धर्मके लिए हमें जिन्दा रहना चाहिए ना। असमयमें मर जायें, खोटे मरणसे मरे तो उससे तो आगे कोई सुधार नहीं है। तो धर्मके लिए हमें जिन्दगी रखनी है, पहले तो यह उद्देश्य बनायें और कामके लिए यह जीवन नहीं, क्योंकि निर्णय कर लें और कामोंके लिए जीवन मानेंगे वे सब बेकार बातें हैं। मैं बहुत-बहुत बिल्डिंग बना जाऊं, यह ही जीवन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का उद्देश्य है क्या ? क्या होगा अन्तमें छोड़ना तो पड़ेगा ही। छोड़ करके जैसी करनी की जीवने, जैसा बंध किया था उसके अनुसार गतिमें जायगा। वहाँ कोई मददगार न होगा। यहाँ लाखों करोड़ोंका वैभव जोड़ जाऊँ, इसके लिए जीवन है क्या ? क्या करेंगे जोड़कर ? क्या लाभ पायेंगे बहुत सा धन जोड़कर ? छूटेगा। जैसा बंध किया, जैसी करनी की, उसके अनुसार आगे फल भोगेगा। परिजनोंके लिए जीवन है क्या ? स्त्रीको, पुत्रको मैं प्रसन्न बनाये रहूं, इनका बहुत-बहुत सुखमय जीवन बने, ऐसा मैं उद्देश्य बनाऊँ, इतने मात्रके लिए जीवन है क्या ? एक तो आपके वशकी बात नही है कि जैसा चाहें वैसा हो जाय और कदाचित् उनका उदय अनुकूल है और ऐसी बात बन जाय तो इतनेसे आपने क्या लाभ पाया ? मरण होगा, सब छूट जायगा। जैसी करनी की। जैसा बंध किया वैसा आगे फल भोगना होगा। तो यह मनुष्य वर्तमान की १०—२० वर्षकी बातोंके लिए तो बड़ा महत्त्व देता है, सब कुछ यह ही है। इसके बिना बेकार है। यों कुबुद्धि लाते और स्वयं अनन्त काल तक तो रहेंगे ना, कितने अनन्त वर्षों तक ? उस समयके लिए मैं क्या रहूं, कैसा रहूं, क्या ढंग हो, इसमें उनकी बुद्धि नहीं जाती। तो यह ही सब औदयिक भावोंका नजारा है असंयम भाव।

मानवजीवनका उद्देश्य धर्मलाभ मानकर आत्मसंयत होनेके प्रयत्नका कर्तव्य—जीवन धर्मके लिए है, तो जीवन कितना खानेसे बनेगा ? जब मनमें आया, घंटे घंटेमें जैसा चाहे खाया, इसकी जरूरत क्या है ? जिन्दगी रखनेके लिए, बल्कि यह तो स्वास्थ्यमें घातक है, दो बार खाना, तीन बार खाना, खा लीजिए। नियंत्रण तो रखें कि हमको इतनी ही बार खाना है। कमसे कम बार रखें, इतना ही आपका संयम है, रातको खाये बिना क्या मरण होता ? मगर विशुद्ध श्रावक कुलमें उत्पन्न हुए लोग भी इस बातको सुनकर एक ऐसा महसूस करते कि कैसे चलेगा ? अजी दिन भर वहां काम करते, रातको आते, कैसे चलेगा ? और जब पापका उदय आयगा, जब अन्न भी न मिलेगा तो वहाँ कैसे चलेगा ? नरकगतिमें जन्म हुआ तो वहाँ सागरों पर्यन्त दाना नहीं मिलता और भूख इतनी कि सारा अन्न खा लें तो भी पेट न भरे, वहाँ कैसे चलता ? अरे यहाँ आप लोगोंका कमसे कम एक बार तो मिल ही जाता है। नहीं मिल सकता लगातारमें तो उससे क्या जीवन बिगड़ता है ? मगर असंयम की इतनी प्रवृत्ति है कि यह जीव इन लौकिक सुखोंके लोभमें अपने जीवनको बरबाद कर रहा है। अनाप-सनाप चीजें खा लेना, अभक्ष्य चीजें खा लेना, ऐसी कुबुद्धि जगी है यह असंयम है ना। क्यों हुआ यह असंयम ? चारित्रमोहका ऐसा ही उदय है, ऐसा ही एक बादल छाया है कि इसको अपना कुछ होश नहीं, अपनी सुध नहीं और मनमानी प्रवृत्ति करके अपने आपको सुखी रखना चाहता।

यह असंयम भाव औदयिक भाव है। इससे हमें शिक्षा लेनी चाहिए कि असंयम मेरे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लाभकी नहीं, बरबादीकी चीज है। आखिर सर्वसंकटोंसे मुक्ति कब होगी जब कर्मोंसे छुटकारा होगा। कर्मोंसे छुटकारा होनेपर इस जीवकी क्या स्थिति होती ? अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें रत बना रहना, वहाँ फिर कभी भूख ही न आयगी, कभी भोजन ही न होगा, सदाके लिए भोजन छूट जाय, ऐसी स्थिति की चाह करें। जो ऐसी अवस्था की इच्छा रखता हो कि यह भोजन दुःख है, क्लेश है, यह सदाके लिए छूट जाय, बस यह स्थिति मुझे चाहिए, ऐसी भावना जिसके जगे वह क्या घंटे घंटेमें खाता ही फिरता रहेगा ? क्या रात दिन खाता ही रहेगा ? उसकी तो संयम रूप प्रवृत्ति होगी। स्थिति तो यह चाहिए कि सदाके लिए भोजन छूट जाय और यहाँ भोजनमें आसक्ति रहे तो उसकी भावना व्यर्थ है, झूठ है, चाहता नहीं है वह ऐसा। तो यह असंयम भाव जीवका औदयिक भाव है, यह बरबादीके लिए है। प्रयत्न यह करें व्रत लेकर, संयम लेकर कि हम कमसे कम बार खायें, कमसे कम मेरेको दोष रहे। अभक्ष्यका बिल्कुल त्याग रहे और और भी संयम बनायें, इच्छाका निरोध करें, अपने ज्ञान स्वभावको निरख-निरखकर, इस महान् विभूतिको देख-देखकर अपनेमें गुप्त तृप्त रहें, यह हमको शिक्षा मिलती है औदयिक भावोंका परिचय होने से।

असिद्धत्व भावकी औदयिकता—असिद्धत्व भी औदयिक भाव है। असिद्धत्वके मायने सिद्ध न होना। कहाँ तक है यह असिद्धत्व भाव ? निगोदिया जीवसे लेकर। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, बड़े बड़े मुनिराज अरहंत भगवान यहाँ तक असिद्धपना है। यद्यपि अरहंतदेव सकलपरमात्मा हैं। घातिया कर्म जिनके नहीं रहे, अनन्त चतुष्टय प्रकट हुआ है। भव्य जीवोंके आराध्य हैं, मुनिजनोंके मनमें निरन्तर उनकी उपासना चलती है। ऐसे पूज्य पवित्र है अरहंतदेव, लेकिन अघातिया कर्म उनके लगे हैं। उन अघातिया कर्मोंके उदयकी वजहसे उनमें सिद्धत्व प्रकट नहीं होता। तो जितना भी असिद्धत्व भाव है वह सब औदयिक भाव है। यह संसारी जीवोंके तो ८ कर्मोंकी अपेक्षा असिद्धत्व है। हम आपके अष्टकर्मोंका उदय चल रहा है, ऐसा विकट असिद्धत्व है और जहाँ दर्शनमोहनीय कर्म नहीं रहा, चारित्रमोह कर्म भी नहीं रहा, ऐसे उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय नामके ११वें, १२वें गुणस्थानवर्ती जीवोंके असिद्धत्व ७ कर्मोंकी अपेक्षासे है। मोहनीय न रहा, पर ७ का तो उदय चल रहा। जब तक कर्मोदय है थोड़ा कैसा ही हो, तब तक असिद्धत्व भाव है। भले ही उपशान्त कषाय है, उसी भवमें गिरेगा, उसके मोहका उदय होगा, पर जितनी देरको वह उपशान्त कषाय है उतनी देरको मोहनीय कर्मकी कुछ भी मलिनता नहीं है, लेकिन ७ कर्मोंका उदय छाया है, असिद्धत्व भाव है। १२वें गुणस्थानमें यह जीव क्षीणकषाय बन गया, मोहनीय रंच न रहा और न कभी मोहनीयका उदय आयगा, लेकिन ७ कर्मोंका उदय है तो उसे मुक्त न कहेंगे। सिद्धत्व नहीं आया। अरहंत भगवानके चार अघा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तियाका उदय है, सिद्धत्व नहीं आया, अयोगकेवली भगवान जो कि सिद्ध होनेमें सम्मुख हैं, ५ ह्रस्व अक्षरोंके जल्दी बोलनेमें जितना समय लगता है उतना ही समय इसका काल है। उसके बाद नियमसे सिद्ध होते हैं। ४ अघातिया कर्मोंका विनाश हो जायगा, सिद्ध हो जायेंगे परन्तु जब तक १४वाँ गुणस्थान है, वहाँ तक ४ अघातिया कर्मोंका उदय है, इस कारण वह सिद्ध नहीं कहलाते।

तो अपने आपमें देखो सिद्ध होना तो मेरे स्वरूपकी चीज है। कोई नई चीज लेकर भगवान नहीं बनते, किन्तु जो मेरा स्वभाव है उस स्वभावका आवरण करने वाले, विकार करने वाले जो कुछ विभाव हैं वे हट जायें, भगवान तो हम अपने स्वरूपमें ही बने हुए हैं। तो यह सिद्धत्व मेरे स्वरूपकी चीज है, पर आज कर्मोदयका ऐसा घटाटोप है कि असिद्धत्व है और विकट असिद्धत्व है, आकुलित होते हैं। तो आकुलताका जो मूल है अज्ञान, मिथ्यात्व, उसे दूर करना है, औदयिक भावसे हटना है और स्वभावभावमें अपनी धुन बनाना है। इस पुरुषार्थसे कल्याण होगा, सदाके लिए संकट टल जायेंगे। इस मनुष्यभवके १०—२० वर्षके जोवनके लिए कुछसे कुछ विकल्प बनाकर इस जीवनको व्यर्थ खोदेनेमें कोई बुद्धिमानी नहीं है।

अपवित्र भावोंसे दूर होनेके लिये अपवित्र भावोंका परिचय—मोक्षशास्त्रके सूत्रोंमें मोक्षमार्गकी बात कही गई है। जिसका प्रथम प्रतिज्ञा वाक्य है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि-मोक्षमार्गः। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है। तो सम्य-ग्दर्शन क्या है? इस वर्णनमें सबका वर्णन आ जाता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका भी वर्णन आ जाता है सम्यग्दर्शनके स्वरूपका स्पष्ट विवरण करनेसे, क्योंकि सम्यग्दर्शनके विवरण में ७ तत्त्वोंका स्वरूप बताया गया है। जीव अजीवके सब द्रव्य आ गए। आस्रवबंध संसारके भाव आ गए, संवर, निर्जरा सब चारित्रका वर्णन इस तत्त्वमें आ जाता है और मोक्षका भी वर्णन आ जाता है।

सर्व प्रथम जीवतत्त्वकी बात कही जा रही है। जीवके स्वतत्त्व ५ हैं याने इन ५ बातोंको देखकर जीवका परिचय मिलता है—औपशमिक भाव, क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव और पारिणामिक भाव। इनमेंसे अभी वर्णन चल रहा है औदयिक भाव का। कर्मका उदय आनेपर जीवमें क्या-क्या भाव बनता है, जीवकी क्या स्थिति बनती है? उसका परिचय है इस सूत्रमें और औदयिक भावका परिचय मिलनेसे स्वभावदर्शनके लिए बहुत मदद मिलती है, क्योंकि हम पद छाये हुए हैं ये सब औदयिक विकार और जब यह समझमें आ जाता कि यह समस्त औदयिक विकार जीवका स्वरूप नहीं हैं, स्वभाव नहीं हैं, किन्तु कर्मके उदयका सन्निधान पाकर जीवमें ऐसा परिणमन हुआ है। तो यह परिणमन है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो जीवका, लेकिन जीवका स्वभाव नहीं है। स्वभाव इससे न्यारा है, वह है चैतन्यस्वरूप। तो निज स्वभावकी दृष्टिको उमंग जगती है तब इस औदयिक भावका सही परिचय मिल जाता है। संसारके प्राणी जो संसारमें रुल रहे हैं उनको अब तक औदयिक भावका औदयिक रूपसे परिचय नहीं हुआ। बस सीधा यही जानने कि यह ही तो हुआ मैं, जिस गतिमें गए उसीको मानते हैं कि मैं तो यह ही तो हूं, मैं नारकी ही तो हूं, मनुष्य ही तो हूं, तिर्यञ्च ही तो हूं। जिस भवमें गए उस रूप अपनेको माना। तो उसका यही मतलब रहा ना कि इस जीवको औदयिक भावोंका परिचय नहीं हो पाया, उसीको सर्वस्व मानता है, तो आचार्य महाराज करुणा करके उनके अपवित्र भावोंका भी वर्णन कर रहे हैं कि यह जीव अपवित्र कैसे होता है? औदयिक भाव हैं—४ गति, ४ कषाय, ३ लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धपना और लेश्या।

लेश्याभावकी औदयिकता—अब वर्णन चल रहा है लेश्याका। लेश्यायें ६ प्रकारकी हैं—(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या, (३) कापोतलेश्या, (४) पीतलेश्या, (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ललेश्या। जिनका चित्रण नक्शोंमें भी मिलता है। मंदिरोंमें अनेक जगह देखनेको मिलता है कि कोई ६ मुसाफिर कहीं बाहर जा रहे थे तो रास्तेमें उन्हें भूख लगी और एक आमका पेड़ भी दिख गया। खूब आम लगे थे उसपर, पके हुए भी थे, तो उन छहोंने सोचा कि पहले आमके फल खायें फिर आगे चलें। छहोंकी राह वही थी। तो वे छहों किस तरह फल खानेको दौड़े? उसका चित्रण किया है कि एक मनुष्यने तो यह सोचा कि नीचे बहुतसे फल पके हुए पड़े हैं, उनको ही उठावें और खावें। दूसरेने सोचा कि आमके पेड़पर चढ़ें और मनमाने पके फल तोड़कर खा लें। तीसरेने सोचा कि हाँ आमपर चढ़ें और वहीं डालियोंसे गुच्छे तोड़-तोड़कर खूब आम खायें। चौथा ऊपर चढ़ा और छोटी-छोटी डालियां तोड़-तोड़कर उनमेंसे पके-पके आम खाने लगा और ५वें ने क्या किया कि उस पेड़ पर चढ़ गया और जो उसकी शाखायें थीं उनको कुल्हाड़ीसे काटने लगा, सोचा कि जब ये शाखायें नीचे गिर जायेंगी तो खूब पके-पके आम तोड़कर खायेंगे। छठेने सोचा कि हम इस पेड़पर भी क्यों चढ़ें, इस पेड़को ही नीचेसे काटकर जमीनपर गिरा दें, फिर मनमाने फल खायेंगे। सभीने अपने-अपने भावोंके अनुसार कार्य किया। तो ऐसे ६ आदमियोंके भावोंकी तुलना की है। कुछ लोग तो ऐसे होते कि जो मंद कषाय वाले हैं, जैसे कि एकने सोचा कि नीचे फल पड़े हैं उनको ही उठा-उठाकर खायें तो यह शुक्ललेश्या है। एकके कुछ उससे विचित्र भाव बनते हैं, जिसे कहते है पद्मलेश्या, जैसे कि पेड़पर चढ़कर हो फल तोड़कर खाया है। एक होती है पीतलेश्या, जो उन सभी शुभ लेश्याओंमें सबसे जघन्य लेश्या है। एक होती है कापोतलेश्या, जैसे कि शाखायें तोड़-तोड़कर फल खा रहा। एक होती है नीललेश्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और एक कृष्णलेश्या। तो इन ६ लेश्यावोंसे ये सारे संसारी जीव भरे हुए हैं। कभी इस जीवको शुक्ललेश्या भी हो तो भी भला न हो सका सम्यग्दर्शन न होनेसे।

अनात्मभावसे हटकर आत्मस्वभावमें ज्ञानकी पहुंच बनानेमें धर्मपुरुषार्थ—जीवकी भलाई है सम्यक्त्व पानेमें। थोड़ा अपने-अपने बारेमें सोचो, जितना यह मनुष्यजीवन है १०-५ वर्षका, कुछ इतने ही दिनों तक ही तो आपकी सत्ता नहीं है ना? आप तो आगे भी रहेंगे ना। हम सब आत्मा अनन्तकाल तक रहेंगे, मिटेंगे नहीं। नाश नहीं होगा, सत्ता रहेगी। हम क्या, जो भी पदार्थ हैं वे सदा रहते हैं, तो क्यों नहीं ऐसी बुद्धिमानी की जाती कि सदाके लिए हमारे संकट मिटें तो भला है। जरा भूख प्यासकी वेदना मिटानेका अच्छा इन्तजाम कर लिया तो उससे क्या पूरा पड़ता है? मान लो कुछ वर्ष अच्छे निकल गए, आखिर मनुष्यभव छूटेगा, आगे जन्म होगा। फिर यहांका जुड़ा हुआ आरम्भ परिग्रह समागम यह तो कुछ मदद न देगा—सोचना चाहिए। कोई ऐसा उपाय बनावें कि जिससे सदाके लिए संकट हमारे टल जायें उसी उपायका वर्णन इस मोक्षशास्त्रमें किया है।

सम्यक्त्व प्राप्त करें, कैसे करें? दो बातें हैं– (१) आत्मामें स्वभाव भाव है और (२) विभाव है। इसी विभावकी चर्चा है इस सूत्रमें– औदयिक भाव, विकार है, सो औदयिक भावसे तो उपेक्षा करें, यह मेरा स्वरूप नहीं है। इस रूप अपनेको न मानना और जो सहज चैतन्यस्वरूप हैं उस रूप अपना प्रत्यय बनावें। देखो भीतर एक सच्चे निर्णयके कर लेनेसे अनन्त कालके संकट दूर होनेका उपाय बन जाता है और जो समागम मिला है उस समागम से ही अपना बड़प्पन समझनेसे चिरकालके लिए संकट मोल ले लिए जाते हैं। हैं दोनों बातें एक अपने विचार और निर्णयके आधीन। अब यह मर्जी है, भवितव्य है कि कौन अपना क्या निर्णय बनाता है। समागमसे मेरा बड़प्पन है– यह निर्णय बनाता है या मेरा जो सहज स्वरूप है उसका ज्ञान, श्रद्धान आचरण होनेसे मेरा बड़प्पन है—यह निर्णय बनाता है। हैं दोनों निर्णय एक अपने विचारके आधीन। पैसेकी कहीं अपेक्षा नहीं है। मित्रपार्टीकी कहीं अपेक्षा नहीं है। कोई कहे कि हमारी परिस्थिति खराब है, हम कैसे सम्यक्त्व पैदा करें तो कोई खराब नहीं है परिस्थिति। क्या खराब हुई? कदाचित् भीख माँगकर भी पेट भरना पड़े तो उसे भी खराब नहीं कहते। किसके आगे कि अपने स्वरूपकी रुचि, श्रद्धान आचरण चल रहा है, उसकी सुध हो रही हो तो उसका सब भला है। और बड़ा ठाट-बाट भी कर लिया जाय और एक स्वरूपकी सुध नहीं, श्रद्धा नहीं अंधेरा पड़ा है तो उसका सब खराब है। तो बुद्धिमानी बनावें कि घरमें जो लोग आये हैं वे सब अपना-अपना भाग्य लेकर आये हैं, सबके साथ अपने-अपने कर्म हैं। और उसीके अनुसार उनकी बात बनती है। वह चिन्ता की चीज नहीं है। जैसा उनका सुयोग है, पुण्य योग है उसके अनुसार आपके थोड़े श्रमसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

काम बन जायगा। चिन्ता इस बातकी न करें, क्योंकि यह तो सब पुण्य-पापके अनुसार होता है, उसमें तो कोई हमारा अधिकार नहीं, पर चिन्तन इस बातका करें कि मेरेको वह उपाय बने कि जिस उपायसे सदाके लिए हमारे संसारके संकट मिट जायें। यह उपाय बनावे तो वह अमीर है और यदि यह उपाय न बना सका तो कुछ भी वैभव रहे, कुछ भी सुविधा रहे उससे इस आत्माका पूरा नहीं पड़ता। तो इस स्वभावके आश्रयके लिये विधिमुखेन भी वर्णन होता है, याने आत्माका जो स्वरूप है उसका वर्णन करना, जो कि पारिणामिक भावके भेद प्रभेदके समय वर्णन होगा और यह औदयिक भावका वर्णन चल रहा। यह मैं नहीं हूं, यह मैं नहीं हूं, यहाँ निषेधमुखेन शिक्षा लें।

लेश्याका संक्षिप्त स्वरूप—लेश्या क्या चीज है? लेश्याको बताया है कि जो पुण्य पापसे लिपा देवे, पुण्य पापमें लगा देवे, पुण्य पापके बंधनको करा देवे उस परिणामका नाम है लेश्या। वह परिणाम क्या है? कषायके उदयसे सहित जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है, आत्माका प्रदेश परिस्पंद है उसका नाम है लेश्या। लेश्या दो प्रकारकी कही गई है—(१) द्रव्य-लेश्या और (२) भावलेश्या। द्रव्यलेश्या तो शरीरका रंग है। कोई कृष्ण (काला) है, नील है, कापोत है, पीत है, पद्म है, शुक्ल है और भावलेश्या है कषायसे सहित योग प्रवृत्ति। तो यहाँ जो औदयिक भावोंको लेश्या कहा जा रहा है सो यद्यपि द्रव्यलेश्या भी औदयिक है, भाव लेश्या भी औदयिक है, मगर प्रयोजन तो जीवके परिचयका है, जीवके स्वतत्त्व कहे गए हैं, तो यहाँ भावलेश्याका ग्रहण करना। यह भावलेश्या है, कषायका उदय होनेपर योगप्रवृत्ति का नाम है, सो वह औदयिक भाव ही है। हाँ लेश्याकी बात चल रही है। लेश्यामें परिणाम अशुभ और शुभ होते हैं।

कृष्णलेश्याका परिचय—कृष्णलेश्यामें क्या परिणाम होते? कृष्णलेश्या वालेका इतना दुष्ट परिणाम है कि वह बैरको नहीं तज सकता, किसीकी प्रतिकूल चेष्टा हुई हो, किसी के प्रति किसी वक्त क्रोध हुआ हो तो ऐसा बैर बन जाता है कि वह बैरको नहीं तज सकता। जैसे कमठके जीवने पार्श्वनाथके भवमें बैरको नहीं तज पाया, बैर निभाता रहा और जब पार्श्वनाथ प्रभु तीर्थंकर हो गए तो बालब्रह्मचारी, छोटी अवस्था, विरक्त हो गए, तब उस घनश्यामपर, प्रभु पार्श्वनाथको घनश्याम भी कह लो याने तेज घन बादलकी तरह श्याम जिनका रङ्ग, उस पार्श्वनाथ प्रभुपर उस कमठके जीवने जो ज्योतिषी हुआ वहाँ पर भी उप-सर्ग किया। चाहिये तो यह था कि उनके चरणोंमें आकर पूर्वके किए पाप धो डालता और अपना भवितव्य सुधारता और कहाँ उसने तीर्थंकर प्रभुपर घोर उपसर्ग किया, तो यह है कृष्णलेश्या जैसी बात। नरकगतिमें बैरको नहीं तजता।

बहुतसे मनुष्य भी ऐसे हैं जो यहाँ बैरको नहीं तजते। कोई कारणसे बैर हो गया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चाहे १० वर्षोंसे उनको मार न सका, पर १० वर्षों तक इन्हें कैसे मारें, कैसे मारनेका मौका पाऊं, अनेक तरकीबें लड़ाना, इसी धुनमें रहता है। तो कृष्णलेश्या वालेका यह लक्षण है, जो प्रचंड होता है और बैर नहीं तज सकता। दूसरा लक्षण है गाली-गलौज करनेकी उसकी आदत होती है और उसके हृदयमें दया नहीं रहती। कृष्णलेश्या ही तो है। उसके हृदयमें करुणा नहीं है। भला बतलावो अनेक लोग अपना मन बहलानेके लिए चूहे पकड़ते हैं, चूहे की पूंछ डोरसे बाँध देते हैं और आगके सामने उसे दिखाते हैं, कुछ आगसे छुवा भी देते हैं, वह बेचारा तड़फता है। देखिये—क्या हालत हो रही उस चूहेकी, मगर वह पुरुष उसके साथ इस तरहका खेल खेलता है, हँसता है, मौज मानता है। दया धर्म उसके हृदयमें नहीं रहता। तो जिनके हृदयमें कृष्णलेश्या है उनके हृदयमें धर्म नहीं रहता। इतनी दुष्टता उसमें होती है कि वह किसीके वशमें नहीं है। कोई कितना ही समझाये, मगर वह किसीके वश नहीं होता, वह स्वच्छन्द विचरता है। वह तो मनमें तो मानता है कि मैं राजा हूं, मैं बहुत बुद्धिमान हूं, जो चाहूं सो कर डालता हूं, मगर कितनी विडम्बनामें फंसा है? कैसा कर्मबन्धन उसके हो रहा है उसका फल वही भोगेगा। ऐसे कृष्णलेश्याके लक्षण होते हैं जिनमें आप जानेंगे कि कैसी कषायकी तीव्रता है।

नीललेश्याका परिचय—कृष्णलेश्यासे कम संक्लेश वाला है नीललेश्या वाला जीव। वह कार्य करनेमें मंद रहता है, बुद्धिविहीन रहता है। उसमें विरक्ति नहीं पायी जाती है। विषयोंमें वह आसक्त रहता है। घमंड करे, मायाचार करे, परनिन्दामें उसका समय जाता है। यद्यपि कृष्णलेश्यासे नीललेश्या कुछ हल्की कषाय है, मगर हल्की भी क्या है? यह भी तीव्र ही कषाय है। दूसरेकी निन्दा करनेमें इसको मौज आता है। अब देखिये कितना बेहोश है यह जीव? क्या मिलता है परनिन्दासे? सोचो, पर इसको कैसा कर्मका उदय है कि यह परनिन्दामें कुछ मौजसा मानता है और उससे लाभ क्या है सो तो बताओ। अपना दिल खराब करना, उपयोग खराब करना, कर्म बन्ध करना, आगामी कालमें संकट सहना। वह लोगोंकी दृष्टिमें गिर जाता है जिसको परनिन्दाकी आदत रहती है। सब समझ जाते हैं लोग कि यह तो बेकारसा अज्ञानी आदमी है। इसकी तो आदत खराब है, तो ये नीललेश्याके लक्षण हैं। दूसरोंकी निन्दा करना, दूसरोंको ठगनेमें अपनी चतुराई मानना, किसीको धोखा दिया तो उसकी डींग मारना, मैंने वहाँ ऐसा किया, अपनेको चतुर समझना, ये सब नीललेश्या के लक्षण हैं। इस नीललेश्यामें भी बहुत विकट कर्मबन्ध चलता है, किन्तु यहाँ रागद्वेषकी बहुलता बराबर पायी जाती है। वह नीललेश्याका चिन्ह है। जहाँ धन वैभवके प्रति बड़ी आसक्ति रहती है। बस कमाई करना, संग्रह करना और उसे देख-देखकर खुश होना, यही जिसकी वृत्ति चल रही है वे सब नीललेश्याके लक्षण हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कापोतलेश्याका परिचय—नीललेश्यासे कम संक्लेश वाला है कापोतलेश्या। कापोतलेश्यामें इस जीवकी कैसी प्रवृत्ति होती है कि वह रूठ जाता है, निन्दा करता है, दूसरोंको दूषण लगाता है और इसमें भय, शोक ये अधिकतया पाये जाते हैं। दूसरोंसे ईर्ष्या करता है, यह क्यों बढ़ गया, यह क्यों प्रतिष्ठा पा गया, क्यों विशेष धनी हो गया ? यों ईर्ष्या करता है, दूसरेका अपमान करता है, अपनी बहुत-बहुत प्रशंसा करता है। यह ही धुन सवार रहती है कि लोग मुझे बड़ा अच्छा समझें। अपनी प्रशंसाकी बात चित्तमें रहती है, यह है कापोतलेश्या। कषायोंकी तीव्रता और मंदताके अनुसार इस जीवके योग प्रवृत्ति जो होती है बस उसका नाम लेश्या है। कापोतलेश्या वालेको किसीका विश्वास नहीं रहता है, क्योंकि धन वैभवमें उसकी विशेष आसक्ति है और तब ही वह दूसरेका विश्वास नहीं रखता। कोई स्तुति करे, प्रशंसा करे तो उसको बहुतसा धन भी देता है। यह सब कापोतलेश्याकी बात कही जा रही है।

जैसे मानो आजकल कोई थोड़ी-थोड़ी घटनापर लाखोंका दान बोलता है तो ठीक है उसका धन उपयोगमें तो आया, मगर उसके परिणामोंमें यदि यह बात है कि इससे मेरी प्रतिष्ठा बढ़ेगी, लोग हमारी प्रशंसा करेंगे तो वे सब कापोतलेश्याके लक्षण हैं। वह विवेक पूर्वक दान नहीं है, क्योंकि अपनी स्तुतिके एवजमें वह दान हुआ। तो जो कापोतलेश्या वाला पुरुष है उसका ऐसा चिन्ह होता है कि उसका कोई स्तवन करे, प्रशंसा करे तो वह उसको सब कुछ धन भी अर्पण कर देता है और रणोंमें जो लोग युद्ध करते हैं और इतना तक भाव रखते हैं कि मरण हो तो हो जाय पर ऐसी विजय करेंगे, उस मरणकी प्रार्थना भी करते कि मेरा रणमें मरण हो तो अच्छा है, क्योंकि भाव वही लगा हुआ है कि प्रशंसा होगी, लोग समझेंगे, मुझे शहीद मानेंगे, हमारा लोग नाम लेते रहेंगे, ऐसा जो परिणाम होता है ये सब कापोतलेश्याके लक्षण हैं। इस लेश्यामें यह जीव कार्य अकार्य कुछ भी नहीं गिन रहा।

उत्पातग्रस्त होनेकी विधि और उत्पातसे हटनेकी भावना— ये सब उपद्रव कैसे आये ? इस प्रकार आये कि हमने खोटे भाव किये, उस समय कर्मबन्ध हुआ, उस प्रकारका प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग बन्धन हुआ, अब उनका उदयकाल आया, ऐसे उदयकालमें गड़बड़ी हुई, कर्ममें विकार आया। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं करता। यह वस्तु स्वयं सत् है और उसकी वही कला है, पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जिसके बलसे संसार टिका हुआ है। कर्म अनुभाग आया, उदयमें विपाक हुआ तो उपयोगस्वरूप इस जीवमें उसका प्रतिफलन होता और उससे घबड़ाकर, उससे तिरस्कृत होकर यह जीव उसे अपना मानता है और विषयोंमें प्रवृत्ति करता है। इस तरह होते हैं ये सब लेश्या आदिक औदयिक भाव। तो उनसे यह शिक्षा लेनी है कि ये औदयिक भाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। मेरा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वरूप तो वह है जो मेरी ही सत्ताके,कारण अनादि अनन्त अहेतुक मुझमें नित्य अन्तःप्रकाशमान है। वह स्वभाव 'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।' देखो टटोलो अपने भीतरकी बात। इस दृश्यमान समागमको ही सब कुछ न समझो। इसके लिए ही हमारा जीवन है, सब कुछ मरना पचना है, यह एक आस्था छोड़ दें और यह ध्यानमें लायें कि धर्मके लिए मनुष्य जीवन मिला है, अन्य कामोंके लिए नहीं, क्योंकि अन्य काम संसारमें अनेक भवोंमें पशु-पक्षी होकर भी सब कुछ कर डाला। तो यह मनुष्यभव हमें मिला है तो उसमें मैं आत्मा को जानूं, आत्माकी श्रद्धा करूं, आत्मामें ही तृप्त होऊँ, सबसे निराले ज्ञानज्योतिर्मय अपने अंतस्तत्त्वको देखूं, बस इस मनुष्यभवका कल्याण है, उद्धार है जीवका, जीवनकी सफलता है और बाहरी समागमोंके लिए ही अपना सारा सर्वस्व अर्पण करना यह कोई बुद्धिमानी नहीं है। कषायकी मंदतामें ऐसी ये तीन अशुभ लेश्यायें ही होती हैं।

पीतलेश्याका परिचय—अब इसके बाद है शुभलेश्या। तो शुभलेश्यावोंमें जो कम शुभलेश्या है उसका नाम है पीतलेश्या। देखिये—कषायोंका उदय चल रहा है सबके साथ और उसी प्रेरणासे ये सब विचित्र बातें चल रही हैं। पीतलेश्यामें यह जीव कार्य अकार्यको समझता है। यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है; यह सेवन करने योग्य है, यह सेवन करना योग्य नहीं है, ऐसा उसके विवेक रहता है। और यह सबको समताके रूपसे तत्त्वको देखता है। एक जीवकी अपने-अपने होनहारकी बात है। कोई जीव प्रकृत्या उदार होता है, सबमें समान बुद्धि रखता है, सबको एकसा समझता है। 'अपने घरमें अनेक भाई हैं, उनकी संतान हैं। जैसे अपनोंके लिए वैसा सबका भी बराबरका बर्ताव रखते हैं। सुखमें दुःखमें यह पक्ष नहीं रहता कि ये मेरे बच्चे हैं और ये मेरे चाचाके बच्चे हैं। ज्ञानी पुरुष इस तरहका भेद नहीं डालते। पीतलेश्या वाला व्यक्ति सबमें समताका व्यवहार रखता है, वह दया और दानमें रत रहता है। उसके हृदयमें दया भरी है। कोई दुःखी जीव हो, मनुष्य हो, तिर्यञ्च हो, यदि अपनेमें सामर्थ्य है कि उसका दुःख दूर करें। कोई धर्मका कार्य हो, प्रसंग हो तो जितनी सामर्थ्य है सब शक्ति लगाकर उस कार्यको करें। तो पीतलेश्या वाले पुरुषके हृदयमें दयादानका भाव रहता है, कोमल परिणाम रहता है। ये हैं पीतलेश्या वालेके परिणाम। ये औदयिक भाव हैं, मेरे आत्माके स्वरूप नहीं हैं, पर कर्मके कैसे-कैसे विचित्र उदय हैं कि जिसके सन्निधानमें यह जीव अपनेमें अपनी परिणति इस इस प्रकार बनाता है। यहाँ औदयिक भावका परिचय कराया जा रहा है, जिसका प्रयोजन है इन औदयिक भावोंसे प्रीति हट जाय और अपने स्वभावमें प्रीति जग जाय।

पद्मलेश्याका परिचय—लेश्या कहते हैं उसे जो आत्माको कर्मसे लिपा है अर्थात् कषायसे सहित जो मन, वचन, कायकी क्रियासे होने वाला आत्माके प्रदेशोंका परिस्पंद है

Version 1

वह कर्मसे लिपाया करता है। तो ऐसी लेश्यायें जो ६ प्रकारकी कही गई हैं वे संक्लेश और विशुद्ध परिणामके तारतम्यसे बताई गई हैं। शुभ परिणामोंमें पीत, पद्म, शुक्ल—ये तीन लेश्यायें होती हैं। कम शुभ हो तो पीतलेश्या है, अधिक विशुद्ध परिणाम हो तो पद्मलेश्या है। पद्मलेश्यामें इस जीवके ऐसे भाव होते कि बाह्य पदार्थोंका यह त्याग करता है। व्रत, तप, संयमकी ओर इसकी वृत्ति चलती है, इसके परिणाम भद्र होते हैं, यह बहुत प्रकारके कर्मोंका क्षय करता है। देखिये यद्यपि मिथ्यात्व अवस्थामें भी छहों लेश्यायें सम्भव हैं, शुक्ल-लेश्या हो और मिथ्यात्व हो यह भी सम्भव है, फिर भी मिथ्यादर्शनको लिए हुए शुक्ललेश्या हो तो वहाँ परिणाम विशुद्ध रहते हैं और सम्यक्त्वके होनेपर तो विशुद्ध परिणामोंकी बहुलता होती ही है। जिस ज्ञानी पुरुषने समस्त जीवोंको स्वतंत्र-स्वतंत्र समझ लिया, सबके अपने-अपने कर्म लगे हुए हैं। कोई जीव किसी दूसरे जीवमें सुधार-बिगाड़ नहीं करता, खुद ही यह जीव अपने आपके परिणामोंमें विकार बनाकर खुदका ही बिगाड़ करता है, ऐसा जिसका निर्णय हो गया वह सहज विरक्त हो जाया करता है। राग और वैराग्य—रागमें तो झूठा आनन्द होता है और वैराग्यमें आत्मीय सत्य आनन्द होता है। आनन्द किसी बाहरी पदार्थसे नहीं मिलता, किन्तु बाहरी पदार्थमें जो राग है, जो कि आत्माकी विकारी पर्याय है उस रागमें ज्ञानकी एकाग्रता करनेसे रस मिलता है, सुख मिलता है, मौज होता है। कहीं यह मौज भी किसी बाहरी पदार्थसे निकलकर नहीं आया, किन्तु आत्माने अपने रागपरिणाममें एकाग्रता की, वहाँ उपयोग जुटाया, वहाँसे रस निकला सब कुछ, पर बाहरी पदार्थोंसे कभी भी रस प्राप्त नहीं होता, सुख प्राप्त नहीं होता। जिसने ऐसा निर्णय कर लिया है वह सब जीवोंपर क्षमाभाव रखता है। उपसर्ग करने वाला भी हो कोई तो भी वह जानता है कि इसका आत्मा सहज पवित्र है, विशुद्ध है, चैतन्यस्वरूप है। इसका यह स्वरूप उपसर्ग नहीं कर रहा, किन्तु इसपर अज्ञानका रस चढ़ गया, बेहोशी इसपर लद गई, इसलिए यह स्वच्छंद अटपट प्रवृत्ति कर रहा, ऐसा जानकर उपसर्ग करने वालेपर भी ज्ञानी पुरुष क्षमा करता है। तो जिसके ये शुभ लेश्यायें होती हैं उसका ऐसा ही परिणाम होता है। यह पद्मलेश्या वाला त्यागी है, भद्र है, बहुत प्रकारके कर्मोंका क्षय करने वाला है। साधुजनोंकी, गुरुजनोंकी पूजा में इसका चित्त रहता है। साधुकी पूजा क्या है? उसके प्रति नम्र होना, उसके गुणोंको निरख करके मनमें हर्ष करना, ये सब निर्मल परिणाम इस लेश्यामें होते हैं। एक तो ज्ञानी की गुणदृष्टिकी प्रकृति होती है। प्रत्येकमें गुणको देखेगा। दोष भी हैं, एक बार ज्ञानमें तो आ जायेंगे, मगर उनके दोषोंको वह अपने हृदयमें न रखेगा, क्योंकि जैसा ज्ञान करेगा वैसा ही इसपर प्रभाव पड़ेगा। अगर हम गुणोंको दृष्टिमें लेंगे तो हमारे गुण भी विकसित होते जायेंगे और दोषोंपर हमारी दृष्टि रहेगी तो हम कुंठित हो जायेंगे। तो जो ज्ञानी विवेकी पुरुष हैं

http://www.jainkosh.org

उनकी प्रकृति होती है गुणदृष्टिकी और इस गुणदृष्टि वालेको सर्वजीवोंमें समता और क्षमाका भाव होता है। यह पद्मलेश्या वाला जीव साधुपद क्रियामें रत रहता है, गुरुकी पूजामें रत रहता है, देवकी पूजामें रत रहता है, ये सब चिह्न पद्मलेश्या वालेके होते हैं। यहाँ कषायोंकी मंदता है और योगीकी सभी प्रवृत्तियाँ हैं, ऐसी स्थितिमें यह लेश्या बनती है जिससे इस जीव के विशेष पुण्यरस बढ़ता है और पापरस घटता है।

शुक्ललेश्याका परिचय—इन सब लेश्यावोंमें सर्वविशुद्ध लेश्या शुक्ललेश्या है। इन लेश्योंओंके नाम रंगपर यों रखे गए हैं कि उन रंगोंमें लोग तुलना करते हैं बुरे और अच्छे की। स्वच्छ सफेद रूप एक सगुन और प्रिय माना जाता है तो यह लेश्या भी शुक्ल है याने यहाँ रागद्वेष मोह इतना मंद हैं कि जिनका व्यवहारमें कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। यह शुक्ललेश्या वाला जीव पक्षपात नहीं करता, न इसके लिए कोई पक्ष है, न इसका कोई विपक्ष है। किसी पुरुषमें इसके न रागकी विशेषता है, न द्वेषकी विशेषता है। पक्षमें गिरनेके दोनों कारण हैं, किसी प्रकारका राग और किसी प्रकारका द्वेष, पर रागद्वेष दोनों अत्यन्त मंद होने से यह शुक्ललेश्या वाला जीव पक्षपात नहीं करता। भविष्यके लिए निदान भी नहीं करता। मैं राजा बनूँ, मैं धनी बनूं, मुझे मरकर इन्द्रादिक पद मिलें आदिक किसी भी प्रकारका निदान नहीं करता, निदान तो अज्ञानी जन करते हैं। जैसे एक अपने ही जीवनसे सोचो—आज हम कुछ ज्ञान बढ़ाते हैं, कुछ विवेक निर्णय सही है, आज भाव नहीं होता कि मैं इन्द्रादिक बनूं, मगर बहुत पहले समयमें जब इतना ज्ञान न पाया था तो कुछ बात मनमें आ ही जाती थी कि मैं मरकर देव होऊँ, इन्द्रादिकके पद पाऊँ, पर शुक्ललेश्या वालेके चित्तमें ये भाव उत्पन्न नहीं होते, निदान नहीं होता। वे सब जीवोंमें समान वृत्तिसे रहते हैं। इनकी दृष्टिमें सब समान हैं। कौन अपना, कौन गैर ? जिन्हें रागी मोही जीव अपना समझते हैं वे हैं कहाँ मेरे ? भिन्न पदार्थ हैं, अपने जन्मसे आये, अपने मरणसे जायेंगे। अपने कर्मानुसार अपनी प्रवृत्ति करते हैं, और कौन इनके लिए गैर हैं ? वैसे गैर सभी हैं, मगर एक ऐसा गैर मानना कि जिसमें दूसरोंको अपना माना जा रहा है उस तुलनामें गैर मानना, ऐसा गैर वे किसीको नहीं मानते। सबको अपने स्वरूपके समान देखते हैं। इस जीवके रागद्वेष मोह नहीं हैं अथवा अति मंद हैं, ऐसा शुक्ललेश्यामें कषायोंके अत्यन्त मंद होनेकी स्थिति है।

औदयिक भावसे हटकर पारिणामिक भावका आश्रय लेनेका कर्तव्य—ये सब लेश्यायें औदयिक भाव हैं, जीवके स्वरूप नहीं हैं। जीवका स्वरूप तो एक अखण्ड चैतन्यस्वरूप है। मेरा वह स्वरूप है जो अनादि अनन्त अहेतुक है। अगर मेरे स्वरूपकी आदि है तो वह स्वरूप नहीं, वह तो पर्याय है। यदि मेरे स्वरूपका अन्त है तो वह स्वरूप नहीं, वह पर्याय है। यदि मेरा स्वरूप किसी कारणसे बनता है, अहेतुक हो, किन्हीं साधनोंसे बन गया

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वरूप। जैसे कि चार्वाकके लोग कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये चार मिल जायें तो चेतन बन जाता है, ऐसा यदि स्वरूप किसी कारणसे बना करे तो वह स्वरूप नहीं है। वह तो कोई पर्याय है। स्वरूप तो अनादि अनन्त अहेतुक होता है। लोग कह बैठते हैं कि अग्निका स्वरूप गर्मी है तो प्रथम तो अग्नि कोई वस्तु नहीं। अग्नि पुद्गल स्कंधोंकी एक पर्याय है, वह द्रव्य नहीं है, और फिर उष्णता तो पुद्गलका स्वभाव नहीं, वह पर्याय है। अग्नि मिट जाय तो पुद्गल नहीं मिटता। यहाँ आत्मामें चैतन्यस्वभाव है। जो लेश्या है, संक्लेश हो, विशुद्ध हो, क्षोभ हो वह सब औदयिक भाव है। कर्मउपाधिका उदय हो उस सन्निधानमें यह छाया पड़ती है। ये सब जड़के स्वामी हैं। मेरे आत्माका जो सत्य स्वरूप है वह इनका स्वामी नहीं। उस आत्मस्वरूपको जो भूल गया वह बाह्यपदार्थोंमें रागद्वेष बुद्धि करता और अपनेको हैरान बनाये रहता। उसका फल क्या है कि वर्तमानमें भी कष्ट और जो कर्मबन्ध होता है उसका उदय आयगा तो उस समय भी कष्ट। इस जीवका कल्याण है अपने आपके स्वरूपका मनन करे इसमें। बाहरी भिन्न चेतन अचेतन पदार्थोंमें कुछ लगाव रखे, कुछ कल्पनायें करे, कुछ द्वेष करे, राग करे, ये सब खुदकी बरबादीके ही काम हैं। औपाधिक भावोंका परिचय हमको यह शिक्षा देता है कि कर्मकी प्रेरणामें कुछ भी अपनेपर बीते उसे समतासे सह लें, पर वहाँ रागद्वेष मत करें, क्योंकि ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। जो परभावमें उलझेगा वह उलझता ही चला जायगा और जो स्वस्वभावकी ओर आयगा वह ही सुलझ सकेगा। यह लेश्या कर्म कषायके उदयसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्तिमें होती है।

लेश्याओंके परिचयसे कषायकी तीव्रता व मंदताका परिचय—यहाँ एक आशंका हो सकती कि लेश्या तो इस तरह बनी ना कि कषाय भी साथ है और मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति भी चल रही तो ये जब दो चीजें हो गईं– जो योग प्रवृत्ति है मन, वचन, कायकी चेष्टा होनेसे आत्माके प्रदेशोंमें जो प्रकम्पन है वह तो है योग्य, सो वह तो एक वीर्यका परिणमन है शक्तिका परिणमन है। जैसे—क्षयोपशमलब्धिमें बताया दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य और वीर्य नामक जो लब्धि है वही है योग, उससे अलग कोई योग नहीं है और कषाय है सो वह औदयिक भाव है। तो योग तो कोई अलग चीज न रही। कषायमें कषाय है, योगमें योग है। तो उसका उत्तर यह है कि लेश्या बतायी जाती है यह समझानेके लिए कि कषायों की ऐसी तीव्र मंद प्रवृत्ति हुआ करती है। तेज कषाय हो तो तेज कषाय भी चलती है और उस समय कृष्णलेश्या होती है। उसकी मंदतामें नीललेश्या है, कापोतलेश्या है। शुभ परिणाम हो तो पीतलेश्या है, मंदकषाय है। और भी मंद हो तो पद्मलेश्या, और भी मंद हो तो शुक्ललेश्या है। तो ये लेश्यायें होतीं तो हैं मंदकषायमें, फिर भी ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। ये सब पुद्गलकर्मके उदयका निमित्त पाकर होते हैं। इनको निश्चयसे आत्माका नहीं कहा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाता, वे पुद्गलके परिणाम कहलाते हैं।

कषायरहित योग वाले जीवमें भी उपचारसे लेश्याकी सिद्धि—अब इस प्रसंगमें एक आशंका यह हो सकती है कि शास्त्रोंमें बताया है कि शुक्ललेश्या १३वें गुणस्थान तक होती है। अरहंत भगवान, जिनके घातिया कर्मोंका विनाश हो गया, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द जिनके प्रकट हो गया उनके शुक्ललेश्या कही गई है। सो यह बात तो जरा जंचती नहीं है। कषाय तो १०वें गुणस्थान तक है। ११वें, १२वें, १३वें गुणस्थानमें कषाय नहीं है, फिर वहाँ शुक्ललेश्या कैसे कहलाती? क्योंकि सभी लेश्यावोंका यह लक्षण किया गया है कि कषायके उदयसे रंजित जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है उसको लेश्या कहते हैं।

समाधान इसका यह है कि वास्तवमें तो वह लेश्या नहीं है, ११वें, १२वें, १३वें गुणस्थानमें जहाँ कषाय नहीं है, लेश्या नहीं कहलाती, मगर योगप्रवृत्ति तो है नहीं। लेश्या के स्थान दो हैं—कषाय और योग। कषाय तो न रही, मगर योग तो है ही। शास्त्रोंमें भी कहा है कि भगवानका विहार होता, किन्तु योग बिना तो नहीं होता याने चलनेमें शरीरकी क्रिया भी है, आत्माके प्रदेशोंका परिस्पंद भी है, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है तो वचनकी क्रिया भी है और उसके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका परिस्पंद भी है, तो योग तो है ही। अब जो योग रह गया वह योग उस ही लेश्याका उपचार करता है। तो जो योग पहले कषाय से सहित हुआ करता था अब कषाय नहीं है तो भी योग सामान्यसे तो यह ही कहा जायगा कि वही तो योग है जो पहले कषाय सहित हुआ करता था। इस तरह कषायसहित जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है वह तो योग है सो सही है, पर कषाय छूट गई हो, न रही हो और योग रह गया हो तो उस योगमें भी लेश्याका उपचार किया जाता है।

औदयिक भावोंकी दुःखरूपता होनेसे हेयता—यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि जीव के औदयिक भाव कौन-कौनसे होते हैं? गति, यह औदयिक भाव है, जीवका स्वरूप नहीं। औदयिक भावोंमें रमना न चाहिए। आज मनुष्य हुए हैं, कुछ योग्यता पायी है, कुछ कला प्राप्त की, कुछ वैभव प्राप्त किया, बुद्धि प्राप्त की तो यह अभिमान की जानेकी चीज नहीं। यह तो कर्मकी लीला है, कर्मका स्वांग है। मैं तो ज्ञानस्वभावी परमात्माकी तरह स्वच्छ एक स्वरूप रखने वाला व्यर्थमें एक फंसा हुआ हूं, उसे निरखना चाहिए और गतिमें हमको मोह नहीं रखना है। कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ जब ये उत्पन्न होते हैं तब ऐसा लगता है कि यह ही मेरी ठीक चीज है, इसमें तो मेरा ही बड़प्पन है, मगर बड़प्पन तो क्या, हमारी बरबादी ही है। कोईसी भी कषाय जगे उसमें इस जीवको निराकुलता नहीं रहती, ऐसे ही लिंग, कामविकार, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धपना और लेश्या—ये सभीके सभी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवके खोटे परिणाम हैं, औदयिक भाव हैं। इनसे निराला मैं कोई एक विशुद्ध चैतन्य प्रकाश मात्र हूं, ऐसा दृष्टिमें लेना चाहिए।

अदर्शन, निद्रा, सुख, दुःख आदिका औदयिकके सूत्रोक्त भेदोंमें अन्तर्भाव— औदयिक भाव बहुत बता दिया, मगर एक आशंका यहाँ यह होती है कि बताओ जैसे अज्ञानको औदयिक कहा, यहाँ एकेन्द्रिय जीवके रसनाइन्द्रियजन्य ज्ञान तो नहीं है, रसना ही नहीं है, घ्राणेन्द्रियजन्य ज्ञान तो नहीं है, वह निकट ही नहीं है। तो जैसे एकेन्द्रिय जीवके रसनाका ज्ञान नहीं तो यह अज्ञान कर्मके उदयसे है। तो जैसे अज्ञान औदयिक भाव है, ऐसे ही अदर्शन भी तो औदयिक है। दर्शन मायने हैं वस्तुका सामान्यप्रतिभास होना, और वह न हो, वह अदर्शन है तो वह भी तो औदयिक है, उसको इसमें क्यों नहीं गिना ? औदयिक भाव २१ कहे गए, मगर ये २१ के अलावा और भी तो औदयिक भाव हैं, उनको भी तो शामिल करना था। निद्रा आयी, निद्रामें कुछ दिखता नहीं तो वहां जो न दिखा, जो अदर्शन है वह भी तो अहेतुक है। सुख-दुःख होना, यह क्यों होता है ? वेदनीयकर्मका उदय होनेसे। तो यह भी तो औदयिक भाव हुआ। हँसी आयी, प्रीति जगी, द्वेष बना, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा— ये भी तो औदयिक भाव हैं। चारित्रमोहनीय कर्मका उदय होनेपर हुए हैं, उनको भी यहाँ ग्रहण करना था, लेकिन इस सूत्रमें अनेक औदयिक भाव छोड़ दिए गए, इनमें शामिल नहीं किए, इसलिए यह सूत्र सही नहीं है, यह अधूरा सूत्र है, ऐसी एक आशंका होती है।

समाधान इसका यह है कि जो शंकाकारने अनेक औदयिक भाव रखे हैं उनमें कुछ तो हैं पौद्गलिक परिणाम और कुछ हैं आत्मीय परिणाम। तो पौद्गलिक परिणामका तो यहाँ जिक्र है नहीं अथवा हो तो वह गतिमें अन्तर्भूत हो जाता है, क्योंकि गतिभाव जो होता है वह अघातिया कर्मके उदयसे होता है। नामकर्म अघातिया कर्म है। और भी जो पौद्गलिक परिणाम हैं वे अघातिया कर्मके उदयसे होते हैं। अब रहे शेष जो जीवके परिणाम हैं सो उनका भी इसी तरह अन्तर्भाव है। मिथ्यादर्शनमें अदर्शनका अन्तर्भाव है। मिथ्यादर्शन का अर्थ है—उल्टा देखना। अब उल्टा देखना न देखने को भी कहते हैं और दिख नहीं रहा यह भी उल्टी बात। चीज है और तरफ, देख रहे और तरफ यह भी उल्टी बात। तो मिथ्यादर्शन एक सामान्य शब्द है, उसमें उल्टा दिखना भी है और न दिखना भी है। और ये अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। न दिखना भी एक अधूरी बात है और उल्टा दिखना भी अधूरी बात है, सो यह सब मिथ्यात्वमें शामिल होता है। हास्य, रति, अरति आदिक नहीं कहा तो न सही, किन्तु लिङ्ग तो कहा है। यहाँ गति, कषाय, लिङ्ग, वेद ये नोकषायोंमें आते हैं। तो जब नोकषायोंके ये तीन भेद ग्रहण कर लिये तो उपलक्षणसे बाकी ६ भी ग्रहणमें आ जाती हैं। इस तरह जो औदयिक भाव और नहीं कहे गए, शेषके हैं, उनका इसमें अन्तर्भाव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होता है, ऐसा इस सूत्रमें औदयिक भावका वर्णन किया।

औदयिक भावोंका तथ्य जानने वालेके अद्‌भुत धीरताका अभ्युदय—उससे एक निर्णय, एक शिक्षा यह लेनी है कि कर्मके उदयका सन्निधान पाकर आत्मामें जो-जो गड़-बड़ियाँ, विकार, क्षोभ जो भी उत्पन्न होते हैं, उनसे अधीर न होना, उनको यों जानना कि कर्मके उदयके ये सब स्वांग हैं, मेरा स्वरूप तो विशुद्ध चैतन्यभाव है, उसमें कोई परिणमन नहीं कर पा रहा। मुझ चेतनको कोई अचेतन नहीं बना सकता। रहा यह ऊपरी औदयिक भाव, जो यह कर्मोपाधि डाला है इससे हमको घबड़ाना नहीं है, किन्तु ज्ञानका बल बढ़ाकर उनको सहन करनेकी शक्ति उत्पन्न करना है। आज हम संसारमें हैं, अनेक बातें अनुकूल मिलेंगी अनेक प्रतिकूल, इसे कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि राग साथ लगा है। परिणाम हमारे अपवित्र हैं इसलिए अनुकूल प्रतिकूल बातें हुआ करती हैं। यदि हमारा परिणाम पवित्र हो, निर्मल हो तो अनुकूल प्रतिकूल कुछ नहीं है। परिणामोंकी गंदगीके कारण कुछ बात अनुकूल जंचती, कुछ बात प्रतिकूल जंचती। तो अनुकूल प्रतिकूल चीजोंका मिलना और उस के अनुसार विकल्प होना इसीका नाम तो संसार है। यह संसार दुःखमय है।

तो हमको यहाँ यह सोचना चाहिए कि कोई भी पदार्थ न तो अनुकूल होता, न प्रतिकूल होता, यह सब औपाधिक भावोंका स्वांग है, कर्मोंका नाच है। जैसा उदय आया वैसा प्रतिफलन हुआ। वहाँ यह जीव बहक गया। अब मैं इन औदयिक भावोंमें न बहूं और अपना जो यह पारिणामिक भाव है, चैतन्यस्वरूप है। उसमें ही यह मैं हूं, यह मैं हूं, ऐसा अनुभव बनाऊँ और मैं इन समस्त औदयिक भावोंके झंझटसे छूट जाऊं, ऐसी प्रेरणा लेनी है इन औदयिक भावोंके परिचयसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके उपायमें प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोंका वर्णन मोक्षशास्त्रमें किया गया है। द्वितीय अध्यायमें जीव तत्त्वका वर्णन है। जीवके स्वतत्त्व क्या हैं? तो बताये गए औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक—इन ५ प्रकारके भावोंमें शुरूके ४ प्रकारके भाव नैमित्तिक भाव हैं याने कर्मके उपशमसे हुए, क्षयसे हुए, क्षयोपशमसे हुए, उदयसे हुए, ये सब भाव जीवके स्वरूप नहीं हो सकते। हैं जीवकी ही पर्यायें, पर स्वरूप तो अनादि अनन्त अहेतुक हुआ करता है। ये भाव जीवके स्वरूप नहीं केवल पारिणामिक भाव हैं। जो शुद्ध जीवत्व है वह है जीवका स्वरूप। तो अब अवसर आया है पारिणामिक भावका वर्णन करनेका तो इस पारिणामिक भावके कितने प्रकार हैं, इस प्रकारसे इस सूत्रमें शुरू करते हैं।

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

पारिणामिक भावके प्रकार—पारिणामिक भाव तीन हैं—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व। जीवत्व नाम है चैतन्यस्वरूपका। जो जीवे उसका नाम है जीव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और जीवका भाव है जीवत्व। और भव्यत्व नाम है उसका कि जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्यायसे होने योग्य हो, ऐसा जिस जीवमें धर्म हो उसे कहते हैं भव्यत्व। और जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे परिणम नहीं सकता, ऐसी जहाँ बात हो वहां कहेंगे अभव्यत्व। ये तीन भाव पारिणामिक हैं अर्थात् न तो ये कर्मके उपशमसे होते, न कर्मके क्षयसे होते, न कर्मके क्षयोपशमसे होते, न उदयसे होते, किन्तु द्रव्यके ही हुए रूप परिणाम वाले हैं अर्थात् जीवत्व रूपमें जीव रहता है, भव्यत्व रूपमें यह जीव है, अभव्यत्व रूपमें यह जीव है। पारिणामिकका अर्थ परिणमन नहीं, किन्तु परिणाम याने स्वभाव ही जिसका प्रयोजन है अर्थात् अनादि द्रव्यकी सत्ता रूपसे होने रूपसे जिसका सम्बंध बना है, ऐसा परिणाम है जहाँ, स्वभाव है जहाँ उसे कहते हैं पारिणामिक भाव। जीवमें जीवत्व है, वह क्या किसी कर्मके उदयसे है? नहीं। जीव है तो स्वयं जीवत्व है। जीवका स्वरूप जीवमें स्वयं है। अपने आपके सत्त्वके कारण है। किसी दूसरे पदार्थसे जीवत्व नहीं आता। मैं हूं, अपने आप हूं, जैसा मेरेमें स्वभाव है उस रूपसे मैं होता रहता हूं—यह है जीवका जीवत्व। भव्यमें यह जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्यायरूपसे होने योग्य है। होने योग्य रहना यह न कर्मके उदयसे होता, न उपशमसे, न क्षयसे, न क्षयोपशमसे। वह तो अनादि द्रव्यके ऐसा ही होनेका स्वभाव है। देखो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तो क्षयसे होंगे। वे पारिणामिक नहीं हैं, मगर इन पर्यायों रूपसे होनेके योग्य होना, यह पारिणामिक है। इसमें कर्मकी बात नहीं बनती। वह तो इस जीवका उस प्रकारका स्वभाव है।

जीवत्व भावकी शुद्ध पारिणामिकताका शंकानिवारण द्वारा समर्थन—यहाँ कोई शंकाकार कहता है जीवत्व नाम तो उसका है कि आयुकर्मके उदयसे यह जीव जीवित रहता है, सो पारिणामिक तो न ठहरा, क्योंकि आयुकर्मके उदयकी अपेक्षा रखता है जीवत्व। सो इसे औदयिक कहना चाहिए। जब तक आयु है तब तक जीवत्व है, जीवन है, आयु न मिले तो जीवन नहीं रहता। तो ऐसा जीवत्वभाव, जिन्दगी ये तो औदयिक हैं, इसे पारिणामिक नहीं कह सकते, ऐसी एक शंका है। इस शंकामें मुख्य क्या बात कही गई कि पुद्गल द्रव्यका सम्बंध होनेपर जीवत्व आता है, इस कारण पारिणामिक नहीं, किन्तु औदयिक है।

समाधान इसका यह है कि जीवमें जो जीवत्व है वह पुद्गल कर्मके सम्बंधसे नहीं। अगर पुद्गल द्रव्यका सम्बंध होनेपर जीवत्व आने लगे तो पुद्गल द्रव्यका सम्बंध तो सब पदार्थोंके साथ है। बंधनरूप न सही, मगर सभी पदार्थ एक जगह मौजूद हैं और वहाँ पुद्गल कर्म भी मौजूद है। तो धर्म अधर्म आदिक द्रव्योंमें जीवत्व क्यों नहीं हो जाता? तो पुद्गल द्रव्यका सम्बंध होनेपर अन्य द्रव्यमें तो जीवत्वका सामर्थ्य नहीं आता। आकाश, काल, पुद्गल इनमें क्यों नहीं जीवत्व आता? इससे यह सिद्ध है कि जीवमें जीवत्व पुद्गल-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

द्रव्यके सम्बंध होनेपर नहीं, किन्तु स्वयं अपने आप स्वभावसे है और यह दस प्राणरूप जीवत्व नहीं, किन्तु चैतन्यस्वरूप है। यह सब जीवकी पहिचानकी बात चल रही है और बहुत उपयोगी ज्ञातव्य विषय है। जीवमें, मुझमें, स्वयंमें अन्तर क्या हो रहा है, क्या स्वरूप है, क्या ढंग है, यह बात जब समझमें न हो तो मोक्षमार्ग कैसे मिलेगा ? संसारके संकटों से छुटकारा पानेका उपाय बस आत्मतत्त्वका परिचय है। उसका यहाँ परिचय चल रहा है। और-और भाव तो नैमित्तिक थे, पर यह चल रहा है पारिणामिक भावका कथन। बहुत उपयोगी है, आत्माके स्वरूपकी बात है। उदय आदिककी अपेक्षा न लेकर होने वाली बात है। इसी कारण मानो और-और भावोंकी बात निपटा लेनेके बाद पारिणामिक भावका कथन आता है। मेरा स्वरूप क्या है, इसका सही परिचय इस जीवत्व नामक पारिणामिक भावके परिचयमें मिलता है। मैं क्या हूं, इसका निर्णय हुए बिना यह कुछ भी अपना कल्याण नहीं कर सकता। बस ज्ञानका और अज्ञानका या कहो कषायका बस संघर्ष है। ज्ञानबल नहीं है तो कषाय हावी हो बैठते हैं। ज्ञानबल बना हुआ है तो कोई कुछ भी उपद्रव न कर पायगा। आत्मज्ञान सर्वोपरि वैभव है। कितना उत्कृष्ट वैभव है ? तीन लोककी सारी सम्पदा भी आ जाय, इकट्ठी हो जाय तो वह इस आत्मज्ञान सम्पदाके बराबर तो क्या, एक रंचमात्र तुलनाकी कोटिमें भी नहीं आ सकता। मैं जीव हूं, चैतन्यस्वभावसे रहता हूं, इसके अतिरिक्त आगे और मैं कुछ नहीं हूं—ऐसा निर्णय बने, श्रद्धामें आये तो इस जीवका भला है। जितने भी धार्मिक कार्य किए जाते हैं उनका उद्देश्य न भूलना। सब कुछ किया जाता है एक इस अविकार संकटरहित सहज आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिए। मनुष्यको एक आदत पड़ गई है चिन्ता करनेकी, और चिन्ता किए बिना रहता नहीं यह, लेकिन चिन्तासे कुछ होता नहीं, होता वही है जैसा कि उन जीवोंका भाग्य है। परिजनका, बच्चोंका, बच्चियोंका सबका अपना-अपना भाग्य है। उस भाग्यके अनुसार सांसारिक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। उसमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है दूसरेका। तो फिर चिन्ता न करें और एक अपने आपके स्वरूपके ध्यानकी भावना रखें तो यह बहुत सम्भव है कि चिंताकी बातें भी सुगमतया हल हो जाती हैं।

गोरखधंधेमें न उलझकर निर्द्वन्द्व अन्तस्तत्त्वमें रहनेकी शिक्षा—यहाँ तो एक गोरखधंधाका जैसा हिसाब है। गोरखधंधेमें कोई इस प्रकारका तार गूँथा जाता कि जिसमें कोई एक छल्ला डाल दिया। अब उसे भीतरसे निकालना है तो उसके लिए बड़ी दिमागपच्ची करनी पड़ती है, ऐसे ही संसारके जो कुछ भी समागम हैं, संग हैं, करतूत हैं वे सब गोरखधंधा हैं और जैसे-जैसे यह भावना बनती जाती है कि पैसा होनेसे हमारी महिमा है, सम्पदा होनेसे हमारी महिमा है, वैसे ही यह अज्ञानमें बढ़ता है और अपना कुछ कल्याण नहीं

http://sahjanandvarnishastra.org/

करता। एक ऐसा अहाना है कि आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास याने जन्म तो लिया है मनुष्यभवका एक धर्मसाधनाके लिए, प्रभुकी उपासनाके लिए, मगर यहाँ कपास ओटने लगे। कपास ओटने में फिर भी कुछ लौकिक हल हो जाता है, मगर आत्मस्वभावको छोड़कर अन्य बातोंमें दिल फंसानेपर तो इसका कुछ भी उद्धार नहीं। जैसे कपास ओटते हैं, दिन भर ओटा, परन्तु फल कितना मिला ? थोड़ीसी रुई निकल आयी, ये बिनौले अलग हो पायें, तो काम ज्यादा नहीं बनता और दिन भर लगा रहता। पर यहाँ तो कुछ भी नहीं मिलता और निरन्तर चिन्ताशील रहा करते।

देखो सामूहिक धर्मभावना हो, इसपर अपना कुछ वश नहीं, अपने आपमें अपने पर धर्मप्रभावना हो यह साध्य बात है। इसको महत्त्व दीजिए तो। अपना परिचय रुचिपूर्वक करना है, क्योंकि अन्य उपायोंसे अपना पूरा नहीं पड़नेका। अपना पूरा पड़ेगा अपने आपके विशुद्ध परिणामोंसे। तो खोज लो मुझमें क्या-क्या होता है, उसका क्या-क्या प्रभाव पड़ता है, उससे हम कितना बरबादीकी ओर जाते हैं ? ये सारी बातें समझ लीजिए। हमारा शरण है एक चैतन्यस्वरूप भगवान आत्माका आश्रय। जैसे एक छोटे बच्चेको शरण है अपनी माँकी गोद। माँकी गोदमें छिप गया बस बच्चा निर्भय हो जाता। ऐसे ही संसारमें रुलने वाले हम आप जीवोंको वास्तवमें शरण है तो आत्मस्वभावका आश्रय करना शरण है और चूंकि आत्मस्वभाव सिद्ध भगवंतोंने प्रकट कर लिया है, अरहंतदेवने प्रकट कर लिया है सो उनकी उपासना, उनकी भक्ति भी हमको व्यवहारमें शरण हैं।

अनादि अनन्त अहेतुक अन्तस्तत्त्वरूप जीवत्व भावकी शुद्ध पारिणामिकता—पारिणामिक भावकी चर्चामें इस शंकाका समाधान किया गया है कि आयुकर्मके उदयसे जीवत्व है तो इसको औदयिक क्यों नहीं कहते ? उत्तर दिया है पुद्गलद्रव्यके सम्बंधसे जीवमें जीवत्व नहीं है, अगर सम्पर्कसे जीवत्व बना तो उसका सम्पर्क तो छहों द्रव्योंके साथ है, ५ द्रव्योंके साथ है। जो बाकी बचे उनमें क्यों नहीं जीवत्व आता ? दूसरी बात—अगर आयुकर्मके उदय से जीवत्व माना जाय तो सिद्ध जीव तो फिर अजीव रह जायेंगे, वहाँ आयुकर्म है ही नहीं, इसलिए जीवका जीवत्व किसी द्रव्यके सम्बंधसे नहीं, किन्तु स्वयं अपने आपके स्वभावसे प्रकट हुआ है। अपने स्वभावकी महिमा जानें। कितनी ही चिन्तनीय परिस्थितियाँ हों, कैसी ही परिस्थितिकी उलझन हो, कैसी ही कोई विडम्बना आ पड़ी हो, कुछ भी विपत्ति हो, हर अवस्थामें इस जीवको शरण है तो शुद्ध चैतन्यस्वरूपका स्मरण शरण है। तो वह शुद्ध जीवत्व क्या है, चेतना क्या है ? आत्माके स्वभावसे ही प्रकट हुआ है। उसे अगर आयुकर्म के उदयसे जीवत्व है ऐसा मानेंगे तो सिद्ध जीव फिर जीव न रह पायेंगे।

अब शंकाकार कहता है कि हम जीवत्वका यह अर्थ कर दें तो कि जीवित है, जीवित

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

था, जीवित रहेगा वह सब जीव है, और उसे जीवत्व कहते हैं तो सिद्धमें भी यह बात घट जायगी। उससे जीवित है, यह बात तो न घटेगी, पर जीवित था यह बात तो प्रकट है। उत्तर देते हैं कि यह तो रूढ़ि शब्द है। रूढ़ि शब्द केवल निष्पत्तिके लिए होता है। अगर शब्दके अर्थके अनुसार शब्दका वाच्य माना जाय तो बतलावो गाय किसे कहते हैं? शब्दमें से अर्थ निकालो। गाय गो शब्दका रूप है। गौ कैसे बना? तो गच्छति इति गौ, जो जाये, चले उसका नाम गौ है। जब नहीं चल रही गाय तब तो फिर गाय न रहनी चाहिए। तो शंकाकार तो शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार उसमें अर्थ अर्पित करता है। तो कई शब्दोंमें वही अर्थ पड़ा है और कई शब्द तो रूढ़िसे बन जाते हैं, इस कारण जीवत्वका यह अर्थ न करना कि जो १० प्राणों करके जीवित हो सो जीव, किन्तु जीवत्वका अर्थ है चेतन। मेरा स्वरूप विशुद्ध चैतन्यभाव है। ऐसा जीवत्व भाव पारिणामिक है, वह न कर्मके उदयसे है, न क्षयसे, न क्षयोपशमसे।

भव्यत्वभाव व अभव्यत्वभावकी पारिणामिकता—कुछ पारिभाषिक शब्द हैं, पर कठिन कुछ नहीं। कर्म इतने छाये हैं कि कर्मका कहीं उदय है, कहीं उस कर्मका उदयाभावी क्षय है, कहीं दबा है तो ऐसी स्थिति जब निमित्तकी हुई तो वहाँ अपनी योग्यतासे ये अनेकों भाव परिणम जाते हैं। परन्तु जीवत्वका अर्थ है चैतन्य, यह नैमित्तिक नहीं। भव्यका अर्थ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणामसे जो हो जायगा, होगा, उसे भव्य कहते हैं। और जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणाम रूपसे न बन सकेगा उसको अभव्य कहते हैं। ये दोनों भाव भी पारिणामिक हैं। भव्य और अभव्यका यहाँ यह अर्थ है कि जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप परिणमनेकी शक्ति है वह भव्य है, जिसमें इन रूप परिणमनेकी शक्ति नहीं, सम्यग्दर्शन आदिक रूप नहीं बन सकता वह अभव्य है। अब देखिये—जीवोंको चार रूपोंमें बांट लीजिए—(१) निकटभव्य, (२) दूरभव्य, (३) दूरानदूरभव्य और (४) अभव्य। निकट-भव्यके मायने जो निकटकालमें मोक्ष जायगा। दूरभव्य—जो बहुत काल बाद मोक्ष जायगा और दूरानदूर भव्य वह है जो कभी मोक्ष जायगा ही नहीं।

तो यहाँ यह शंका बनती है कि जो कभी भी मोक्ष न जायगा उसे भव्य क्यों कहते, अभव्य क्यों नहीं कहते? पर उसका उत्तर यह है कि न जायगा कभी फिर भी उसका भव्य राशिमें अन्तर्भाव है। जैसे एक दृष्टान्त लो—आगामी काल, जो काल आगे आयगा उसे कहते हैं आगामी काल। क्या सभी काल गुजरनेमें आ जायगा? आगे क्या कोई ऐसा काल नहीं बचता है कि जो कभी आयगा ही नहीं, मगर आगामी कहते हैं। एक युक्तिसे विचार लो—आगामी मायने आने वाला काल (समय)। तो आने वाला सब आ चुके, ऐसा नियम तो नहीं है। अगर आने वाला सारा काल आ चुकता है तो फिर काल ही न रहेगा कुछ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो जो काल कभी आयगा भी नहीं उसे आगामी ही तो कहेंगे। आने योग्य काल कभी आयगा नहीं, फिर भी आने योग्य है, ऐसे ही जो कभी सम्यग्दर्शन, चारित्र रूपसे होगा ही नहीं, फिर भी होने योग्य है, ऐसा प्रभुके ज्ञानमें झलका, उसे कहते हैं दूरानदूर भव्य। न सही रत्नत्रय परिणाम, वैराग्य, मगर होने योग्य तो है। जिसको बंध्या स्त्री कहते, डाक्टर लोग भी जिसे कह दें कि इसके कभी बच्चा हो ही नहीं सकता, तो ऐसी बंध्या स्त्रीको भी "बच्चा होने योग्य नहीं है" यह नहीं कहा जा सकता। बच्चा होनेकी उसमें योग्यता है, पर होगा कभी नहीं। आप कहेंगे कि कैसे कहते हो कि बच्चा होने योग्य है ? तो स्त्री है, इसलिए यह बात कहनी ही पड़ेगी, अन्यथा वह स्त्री नहीं रह सकती। तो ऐसे ही भव्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणामसे होने योग्य है, यह कह दिया। चाहे वह कभी यह परिणाम को पाये नहीं, मगर समस्त भव्य रत्नत्रयको पा लें तो कोई समय ऐसा आ पड़ेगा कि जब कोई भव्य ही न रहेगा। सब मोक्ष चले जायेंगे। अगर यह अर्थ किया जाय कि भव्य तो उसे कहते हैं जो रत्नत्रय परिणाम रूप हो सके, हो जायगा तो फिर सब हो जायेंगे। भव्य कभी रहेंगे ही नहीं, और रहते हैं हमेशा, इससे जो दूरानदूर भव्य हैं वे भी भव्यराशिमें शामिल हैं। इस तरह इस सूत्रका व्याख्यान किया जा रहा है कि पारिणामिक भाव तीन प्रकारके हैं—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व।

सूत्रोक्त पदके बहुवचनान्त प्रयोगका तथ्य—अब सूत्र-रचनाको देखकर एक शङ्काकार कहता है कि सूत्रको यों न बनाना चाहिए था— "जीवभव्य भव्यत्वानि च।" अच्छा, तो कैसा बनता ? यों बनता—जीवभव्याभव्यत्वं, क्योंकि द्वन्द्व समास है, एकवचन हो जाना चाहिए था, समाहार है और व्याकरणरचना वाले सूत्रमें जितने कमसे कम अक्षर रख सकते हैं उतने कम अक्षर रखते हैं और उसमें अपनेको बड़ा समारोह मनाते हैं। ज्ञान होनेका जो आनन्द है वह आनन्द तो किसी भी पदार्थमें नहीं है। पञ्चेन्द्रियके विषयोंके भोगमें यह आनन्द नहीं मिल सकता, जो कि एक सच्चा ज्ञान पानेमें आनन्द होता। एक दृष्टान्त ले लो किसी बालकसे कोई सवाल पूछा गया, मानो यह ही पूछा गया कि बताओ १३ × ८ = कितने होते हैं ? तो अब वह इस सवालको सुनकर उसे तुरन्त उत्तर न आया तो कुछ विचार में पड़ गया। उस समयकी उसकी मुखमुद्रा देखिये—कितना वह आकुलित हो रहा एक समस्याके हल करनेके लिए और जिस समय उसे याद आ जाय कि १३ × ८ = १०४ तो ऐसी याद आते ही उसके मुखकी मुद्रा देखो कितना आनन्द टपकता है। न उसे कुछ खाने को दिया गया, न कोई चीज दी गई फिर भी इतना आनन्द हुआ। तो वह किस बातका आनन्द है ? वह आनन्द है ज्ञानका। जो आनंद ज्ञानमें आता वह खाने पीने, विषयभोग आदि के प्रसंगोंमें नहीं आ सकता। तो आत्मीय आनन्द हो, आत्मीय ज्ञान ही वास्तविक आनन्द

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। आत्मज्ञान नहीं है तो कहीं भी चले जावो, कुछ भी कर डालो, बस परेशानी ही रहेगी। उसमें अपनी समस्यावोंका हल नहीं हो सकता।

तो यहाँ आत्मा की ही बात चल रही है। परिचय कराया जा रहा है कि आत्माके पारिणामिक भाव याने निरपेक्ष भाव ये तीन हैं—जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व। तो इसमें यह शंका चल रही है कि जब समास हो गया तो एकवचन हो जाना चाहिए। तो उत्तर देते हैं कि ये भाववान् अनेक सिद्ध हो रहे हैं द्रव्यके भेदसे। जीवका भाव जीवत्व, जीवत्व प्रत्येक जीवके जीवत्व तो चूंकि प्रत्येक जीव न्यारे-न्यारे हैं तो जीवत्व भी अनेक बन गए। भव्यत्व, अभव्यत्व भी और इसमें बहुवचनका प्रयोग बन गया। तब सूत्र सही रहा—जीव भव्याभव्यत्वानि च। बहुवचन रखनेसे मिथ्या अद्वैतवादका निराकरण हो जाता है, यह रहस्य है। इसके पारिणामिक भाव तीन प्रकारके हैं—(१) जीवत्व, (२) भव्य, (३) अभव्य। इनमेंसे जो शुद्ध चैतन्य है, शुद्ध जीवत्व है उसका आश्रय करें, उसकी जानकारी करें। उसका ही जब कब दर्शन किया करें तो यह संसारसंकटोंसे पार हो जानेका एक अमोघ उपाय है। अपने स्वरूपको पहिचानें उस ही में 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव बनावें और सदाके लिए संकटोंसे दूर होवें।

जीवके सहज स्वतत्त्वके परिचयका प्रसंग—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोंका परिचय करानेके लिए मोक्षशास्त्रकी रचना हुई है। उन ५ तत्त्वोंमें प्रथम तत्त्व है जीव और जीवतत्त्व है प्रधान। इसलिए सर्वप्रथम जीवतत्त्वका वर्णन किया। जीवतत्त्व बतलाये हैं ५—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, जिनमें पारिणामिक भावका वर्णन चल रहा है। शेष भाव तो नैमित्तिक हैं, कोई निमित्तके उदयसे हैं, कोई क्षयरूप निमित्तसे हैं, कोई उपशमरूप निमित्तसे हैं और ये पारिणामिक भाव कर्मके उदय उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदिक किसी की भी अपेक्षा नहीं रखते। द्रव्यके होनेके सम्बन्धसे जो परिणाम है, स्वभाव है उसका वर्णन करते हैं। तो पारिणामिक भावमें तीन भाव हैं—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व, (३) अभव्यत्व। जीवत्व मायने चैतन्यस्वरूप। जो आत्मामें अपने आप अपने सत्त्वसे है, अनादि अनन्त अहेतुक है, जिसमें किसी की भी अपेक्षा नहीं है वह है पारिणामिक भाव। इसे परमपारिणामिक भाव भी कहते हैं। जिसके आश्रयसे सम्यक्त्व होता, रत्नत्रयका विकास होता.वही एक परमपिताका रूप है जो अपने आपकी रक्षा करता है, यही शरण है। भव्यत्व और अभव्यत्व भी पारिणामिक हैं, मगर वे शुद्ध भाव नहीं हैं, अर्थात् जीवके सत्त्वसे, अनादि अनन्त अहेतुक सहज भाव नहीं है कुछ ऐसा और अभव्यत्व अनादि अनन्त है, मगर वह एक भाव है, एक पर्याय योग्यता है वह जीवके सत्त्व की चीज नहीं है, स्वरूपकी चीज नहीं है। ऐसा जो हो सकने योग्य है सो भव्य और जो न होने योग्य है सो अभव्य। तो योग्य और अयोग्यसे तो पर्यायका संकेत हुआ। शुद्ध भाव है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवत्व भाव।

कर्मनिरपेक्ष अस्तित्व, अन्यत्व आदि अनेक भावोंको पारिणामिक भावोंकी संख्यामें बढ़ाने और नाम कहनेकी एक आशंका—पारिणामिक भावके इस प्रकरणमें एक शंका होती है कि पारिणामिक भाव तो उस ही का नाम है ना कि जो कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखे, किन्तु द्रव्यमें द्रव्यके ही सत्त्वके कारण हो, तो ऐसे पारिणामिक भाव तो हैं अनेक, फिर ३ ही क्यों कहे? कैसे हैं अनेक? अच्छा बताओ। अस्तित्व भाव यह कोई कर्मके उदय आदिकसे होता है क्या? अस्तित्व मायने सत्ता। तो जीवकी सत्ता क्या किसी अन्य द्रव्यके कारण है? तो अस्तित्व भी पारिणामिक हुआ ना? फिर ३ ही क्यों कहते? ऐसे अनेक पारिणामिक हैं, अन्यत्वभाव याने पदार्थका अन्य पदार्थसे जुदा बना रहना यह वस्तुका स्वरूप हैं। जब पदार्थ सत् है तो नियमसे वह अन्य पदार्थोंसे निराला है। तब ही तो वह सत् कहलाता है। तो अन्यत्व भाव याने अन्य द्रव्यसे पृथक् बना रहना यह एक कर्मके उदयसे है या उपशमसे है? किससे है? किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। वस्तुका सत्त्व ही इस ढंगका है कि वह अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता। तो यह अन्यत्व याने पृथक् रहना, कोई भी वस्तु अन्य सब वस्तुवोंसे पृथक् है याने उसके सत्से निराली है, किसीके सत्त्वमें मिला-जुला कोई नहीं होता। ऐसा जो वस्तुका अन्यत्व स्वरूप है यह भी तो पारिणामिक है। तो पारिणामिक भाव तीन ही क्यों कहे? अच्छा और भी देखो एक कर्तृत्व भाव। निश्चयसे तो प्रत्येक पदार्थ अपने आपको परिणतिको करने वाला है। ऐसा कर्तृत्व क्या किसी परद्रव्यकी अपेक्षासे है? याने पदार्थमें जो यह कला है कि वह प्रतिसमय परिणमे और परिणमनेका ही नाम कर्तापन है तो परिणमता ही रहे याने कर्तृत्व चलता ही रहे, यह जो एक स्वरूप है, वह क्या पारिणामिक नहीं है? वह तो किसी कर्मके उदयादिकसे नहीं होते तो फिर इसे भी शामिल करो। इसी प्रकार भोक्तृत्व भाव। प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्यायको भोगने वाला होता है। जीवके अनुभव बनता है, अजीवके अनुभव नहीं होता, पर प्रत्येक पदार्थ अपनी ही पर्यायको भोगा करते हैं और उनका भोग यही है कि वे सदा बने रहते हैं। अगर पदार्थमें पर्याय न हो तो सत्ता नहीं रहती, फिर भोक्तृत्वभाव भी तो पारिणामिक है। और भी सुनो—पर्यायवत्व प्रत्येक पदार्थ पर्याय वाला है कि नहीं? प्रत्येक सत्में प्रतिसमय नई नई अपूर्व अपूर्व अवस्थायें होती हैं तो ऐसा पर्यायवान होना क्या किसी अन्य पदार्थकी दयापर है? कर्मके उदय उपशम आदिकके कारण है क्या? नहीं। यह तो पदार्थका स्वरूप है। पदार्थ किसी न किसी पर्यायमें रहेगा। तो पर्यायवान होना यह भी तो पारिणामिक भाव है। तो इसे भी उसमें शामिल कर दें। और भी देखो—प्रत्येक पदार्थ असर्वगत है, मायने कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें नहीं मिला, सबमें नहीं मिला, अपने ही प्रदेशोंमें रहता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सबमें बात पहुंचे ऐसा भी तो स्वरूप है पदार्थका। तो यह स्वरूप क्या किसी कर्मके उदयसे होता है ? सभी पदार्थोंमें स्वरूप है, अचेतनमें भी है, जीवमें भी है।

तो यहाँ जीवके जब भाव बताये जा रहे हैं तो इनको भी शामिल करो पारिणामिक भावकी संख्यामें तो दो संख्या तो ठीक नहीं हैं। यह सब एक आशंका चल रही है कि पारिणामिक भाव जब जीवके बताये हैं तो कुछको क्यों छोड़ दिया ? और भी पारिणामिक भाव इसमें शामिल करना था और भी देखो प्रत्येक पदार्थ और प्रकृतिमें जीव ले लो, यह अनादिसंतति बंधन बद्ध है, मायने अनादिकालसे अपनी पर्यायमें बंधन चलता रहता है। तो यह भी तो पदार्थका स्वरूप है, कर्मोंके उदय आदिकसे नहीं होता। ये भी पारिणामिक भाव मानो। जीव प्रदेशवान है, क्यों है प्रदेशवान ? क्या कर्मके उदयसे या उपशम, क्षय आदिकसे ? नहीं नहीं, यह तो स्वरूपकी बात है। प्रत्येक पदार्थ अपना स्वरूप लिए हुए है। सभी पदार्थ प्रदेशवान हैं। जीव प्रदेशवान है। तो जीवमें प्रदेशवत्व भाव है, धर्म है, यह क्या कर्मके उदयसे है ? अरे किसी अन्य द्रव्यसे नहीं, तब पारिणामिक भाव रहा ना ? तो इसे भी शामिल करते, फिर तीन ही भाव क्यों कहे जा रहे कि जीवके साथ जीवत्व, भव्यत्व और अन्यत्व हैं। ये तो बहुतसे भाव निकल रहे हैं जो जीवके पारिणामिक हुआ करते हैं और भी देखिये अरूपी होना। जीवमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक नहीं हैं, अमूर्त है, तो ऐसा अरूपी होना क्या जीवमें किसी कर्मने किया है या उदय आदिकसे हुआ है ? अरे स्वरूप है जीवका ऐसा कि उसमें रूपादिक नहीं होते। चेतनमें ज्ञान, दर्शन होते हैं। तो रूप न होना, अरूपी होना यह भी तो पारिणामिक ही रहा। कोई कर्मके उदय आदिकसे तो न रहा, फिर इसे भी ग्रहण करते। और भी देखो जैसे नित्यत्व भाव। जीव नित्य है, सदा रहता है, अपनी पर्यायोंको ग्रहण करता जाता और पर्यायें कभी नष्ट नहीं होतीं अर्थात् ऐसा समय नहीं आता कि लो अब पर्यायें होना बंद हो गईं। चाहे सिद्ध भगवान भी हो जायें, पर पर्यायें तो द्रव्यके नियम रूप हैं। तो नित्यत्व होना भी तो पारिणामिक भाव हुआ, ऐसे अनेक भाव हैं, उन भावोंको इस सूत्रमें क्यों नहीं ग्रहण किया ? यह एक आशंका है।

अस्तित्व, अन्यत्व आदि भावोंका 'च' शब्दके ग्रहण तथा अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाने के पारिणामिक होनेपर भी असाधारणताके अभावसे प्रधान रूपसे सूत्रमें अनिर्देश बताते हुए उक्त शंका का समाधान—तो उक्त शंकाके उत्तर दो हैं—प्रथम उत्तर तो यह है कि जीव भव्याभव्यत्वानि च, इस सूत्रमें जो 'च' शब्द दिया है उससे ये सब भाव ग्रहण कर लो जीवत्व, भव्यत्व, अन्यत्व। 'च' मायने और, इसके मायने यह हैं कि अभी कुछ और कहना था। कुछ और भी भाव है। तो जो भाव शङ्काकार बता रहा है कि इसे पारिणामिक कहना

http://sahjanandvarnishastra.org/

चाहिए, सो उनको ग्रहण कर लिया जाय। तब शङ्काकार कहता है कि अच्छा ग्रहण तो किए लेते हैं, पर तुमने 'च' शब्दसे क्यों ग्रहण कराया ? उन तीनोंमें क्या पक्षपात था जो तीनका तो नाम लिया जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व और बाकी ये पारिणामिक ठीक नहीं हैं। क्या जो तुमने 'च' शब्दसे ग्रहण किया ? जैसे किसी विषय समारोह, आयोजनमें बड़े-बड़े धनिकों को या किसीको नाम लेकर कहते कि भाई अमुक साहबको भोजन करा देना और सबको करा देना तो और सबको करा देना इतनेमें ही सब गौण हो गये। अमुकको भोजन करा देना, सबको भोजन जरा देना। अरे जब नाम लेते तो सबका नाम लेते, न लेते तो किसीका न लेते। तो 'च' शब्दसे अन्य पारिणामिकको ग्रहण करना और नाम लेकर सूत्रमें नहीं बोलते इसका कारण क्या है ? इस आशंकाका समाधान यह है कि हैं तो ये सब पारिणामिक, जितने शङ्काकारने कहा, मगर ये ऐसे पारिणामिक हैं कि ये जीवमें भी रहते और अन्य पदार्थोंमें भी रहते। जीवके असाधारण भाव नहीं है। जैसे अस्तित्व जीवमें रहता सो ठीक है, अगर जीवमें ही अस्तित्व रहता हो तब तो हम पारिणामिकमें नाम ले दें। जैसे तीन भाव कहा जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, ये जीवमें ही हैं अन्यमें नहीं, इसलिए नाम लिया गया, किन्तु जो और पारिणामिक भाव बताये जा रहे हैं, शङ्काकार कह रहा है तो उन पारिणामिक भावोंका नाम लेकर सूत्रमें इस कारण ग्रहण नहीं किया कि वे अन्य द्रव्यमें भी पाये जाते हैं, इसलिए गौण रूप करके 'च' शब्दसे ग्रहण करना। होता है ना ऐसा कि कोई यदि अनन्य मित्र है, एक उस ही व्यक्तिसे घनिष्ट मित्रता है तो उसका आदर विशेष करता है और भी तो मित्र आये हैं, मगर वह सभीसे दोस्ती रखता, कोई अनन्य नहीं है तो उनकी बात और ढंगकी होती है। तो यहाँ अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व आदिक ये सब अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं इसलिए सूत्रमें नाम नहीं लिया। अच्छा इसका विवरण सुनो—कैसे पाये जाते हैं अन्यमें और क्यों इनको गौण कर दिया, प्रधान रूपसे नाम नहीं लिया। तो देख लो—

अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व भावका पारिणामिक होनेपर भी अन्य द्रव्योंमें पाया जानेसे जीवके स्वतत्त्व पारिणामिक भावके सूत्रमें नामरूपमें अनिर्देश—अस्तित्व जीवमें ही क्या—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सभी द्रव्योंमें रहता है। तो यद्यपि कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशमकी अपेक्षासे नहीं है यह अस्तित्व इसलिए पारिणामिक तो है, मगर अन्य द्रव्यमें भी पाया जाता, इसलिए गौण करके 'च' शब्दसे ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार अन्यत्व भाव याने पृथक् रहना, जीवका अन्य पदार्थोंसे अलग बना रहना, अलग रहता कि नहीं, सभी जीव अन्य सबसे अलग हैं। तो ऐसा अन्यत्व यद्यपि कर्मके उदय आदिकसे नहीं है, इसलिए पारिणामिक तो है, लेकिन सभी द्रव्योंमें अन्यत्व पाया जाता है। क्या परमाणु अन्य सब द्रव्योंसे जुदा नहीं है ? तो वह भी एक अन्यत्व वहाँ भी रहा और साधारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होनेसे 'च' शब्दसे ही ग्रहण कर लिया गया। सूत्रमें इसका नाम नहीं लिया गया। इसी प्रकार कर्तृत्वभाव पारिणामिक भाव है, परका कर्ता है—यह बात नहीं कही जा रही, किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी पर्यायोंका सर्जनहार है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ क्रियाकी उत्पत्तिसे स्वतंत्र रहा करता है इसलिए कर्तृत्व साधारण है, अतएव 'च' शब्दसे ग्रहण किया है। सूत्रमें नाम नहीं लिया, क्योंकि कर्तृत्व सब पदार्थोंमें पाया जा रहा। अच्छा बताओ धर्मद्रव्यमें क्या कर्तृत्व है ? आकाशमें क्या कर्तृत्व है ? थोड़ा जीवमें समझ तो आ जाती है, पुद्गलमें भी समझ बन जाती कि हाँ यह पदार्थ अपनी परिणतिका कर्ता है, पर धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें क्या बात है, कैसा कर्तृत्व है ? तो भाई वह पदार्थ है ना, तो पहले तो वह है, तो है भी तो एक क्रिया है अस्ति। वाक्यमें क्रिया बोली ही जाती है। तो उस क्रियाके विषयमें तो उसकी स्वतंत्रता है, उसीका ही कर्तृत्व बन गया और प्रत्येक पदार्थ अमूर्त भी, धर्मादिक भी अपनेमें अवस्था बनाता है। यदि उत्पाद न हो तो उसकी सत्ता ही नहीं है, इसलिए कर्तृत्वभाव साधारण है, सो कर्मोदयकी अपेक्षा न रखनेसे पारिणामिक तो है मगर अन्य द्रव्य में साधारण है, इस कारण नामका उल्लेख नहीं किया, किन्तु 'च' शब्दसे ही ग्रहण कर लिया गया।

प्रदेशपरिस्पंदरूप योगमें पारिणामिता न होनेसे योगका सूत्रमें अग्रहण—क्या प्रकरण चल रहा है ? कोई कठिन बात नहीं चल रही। जीवमें स्वभावतः क्या रहता है इसका वर्णन चल रहा है। तो उस वर्णनमें तीन तो नाम ले लिये, बाकीके नहीं लिए जा रहे। शेषके जो अन्य पारिणामिक भाव हैं वे अन्य द्रव्यमें भी रहते, इस कारण उनका नाम नहीं लिया गया। 'च' शब्दसे ग्रहण किया। तो यहाँ यह शङ्का बनती है कि आत्माके प्रदेशों का जो परिस्पंद हुआ याने योग प्रदेशमें जो प्रकम्पन होता है वह भी तो एक कर्तृत्व है। आत्मा अपने प्रदेश परिस्पंदको करता है, तो यह कर्तृत्व तो साधारण नहीं है, बतलाओ अन्य किस परिणतिमें प्रदेश कँपते हैं ? आकाश कँपा क्या ? काल एकप्रदेशी है, वह कँपता क्या ? धर्म, अधर्म सारे लोकमें व्यापक हैं, क्या ये कँपते हैं ? पुद्गल परमाणु कँपता है क्या ? एक परमाणु हैं, एक प्रदेशी है। कँपना तो अनेकमें बनता, अगर एक यहाँसे वहाँ हो गया तो गति हो गई उसकी। कँपना तो नहीं कहलाया। तो प्रदेश परिस्पंद अर्थात् योग, उसका तो कर्ता है जीव और वह है असाधारण। अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जाता, तब फिर कर्तृत्वका नाम तो लेते सूत्रमें। वह तो असाधारण हुआ ना, प्रदेश परिस्पंदका करणहार होनेसे।

इस शङ्काका उत्तर यह है कि आत्माके प्रदेशोंका जो परिस्पंद है वह पारिणामिक नहीं है, किन्तु क्षायोपशमिक है। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है, मन, वचन, कायकी परिणति है, योग बन जाता है। तो जिस योगको तुम असाधारण कह रहे हो वह योग पारिणामिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं है और जो कर्तृत्व साधारण है, पारिणामिक है वह असाधारण नहीं, इस कारणसे सूत्र में उक्त ३ ही भाव जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व ऐसे हैं जो जीवमें ही पाये जाते, अन्यमें नहीं।

पुण्य पाप आदिके कर्तृत्वमें पारिणामिकताका अभाव होने से सूत्रमें अग्रहण— अच्छा उक्त शङ्का समाधानका उत्तर यह भी कहा जा सकता है कि जीव पुण्य पापका भी कर्ता है! पुण्यभाव हुआ, पापभाव हुआ, राग है, द्वेष है, क्रोध है, कषाय है उसका करनहार है, यह बात तो साधारण नहीं है, याने अन्य द्रव्यमें तो नहीं है, जीवमें ही है। कहते हैं कि हाँ है तो जीवमें ही, मगर वह पारिणामिक नहीं है। यहाँ तो चर्चा पारिणामिक भावकी चल रही है। जो भी पारिणामिक भाव हैं वे अगर जीवमें ही पाये जाते, उनका नाम तो सूत्रमें लिया है और जो जीवके अतिरिक्त अन्यमें भी पाये जाते बस वे साधारण हैं, इसलिए 'च' शब्दसे ग्रहण किया है, क्योंकि पुण्य पाप तो उदयसे क्षयोपशमसे हुआ करते, औदयिक हैं, पारिणामिक नहीं है।

यदि शङ्काकार इस विषयमें ऐसी आशंका रखे कि भले ही पुण्य पाप मिथ्यात्वादिक कर्मके उदय, क्षयोपशम आदिकसे बनते हैं, मगर बनते तो चेतनके ही सन्निधानमें ना। कहीं और जगह तो नहीं बन रहे। तो जब एक चेतनके सन्निधानमें ही पुण्य पापका कर्तापन बन रहा तो उसको पारिणामिक क्यों नहीं मान लेते? कहते हैं कि नहीं। भले ही जीवमें ये सब हो रहे लेकिन ये औदयिक आदि हैं। यदि पारिणामिक होते तो सदा ही जीवमें रहना चाहिए। क्रोध कहाँ जीवमें सदा रहता? संसारमें भी सदा नहीं रहता। क्रोध मिटा, मान हो गया, मान मिटा माया हो गई। यों कषायें बदलती रहती हैं, सर्व काल नहीं रहतीं और सिद्धमें कहाँ रहतीं? तो इस कारणसे ऐसे पारिणामिक भावको ग्रहण करें जो सदाकाल रहे और किसी अन्य द्रव्यकी अपेक्षा न रखे।

भोक्तृत्वसामान्यभावका अन्यद्रव्यमें भी पाया जानेसे सूत्रमें नामका अग्रहण— शङ्काकारने जिन-जिन भावोंको पारिणामिक बताकर सूत्रमें ग्रहण करना चाहिए, ऐसा प्रश्न किया था, उनका उत्तर चल रहा है। एक भाव है भोक्तृत्व, मायने अपनी पर्यायको भोगना। जीव अपनी ही पर्यायको भोगता है, दूसरीको नहीं भोगता। जिन लोगोंका ख्याल बन गया कि भोजन भोगा, वस्त्र भोगा, वैभव भोगा तो यह उनका गलत ख्याल है। जीव किसी भी परद्रव्यको भोग नहीं सकता, किन्तु परद्रव्यके बारेमें जो ख्याल बना, राग बना, विचार बना, उसमें अपने उपयोगको एकाग्र करके भोगता है। किसे भोगता है? अपनी परिणतिको भोगता है। तो ऐसा जो भोक्तृत्व भाव है इसे क्यों नहीं सूत्रमें बताया? उसका कारण यह है कि ऐसा भोक्तापन तो सभी द्रव्योंमें है। सभी पदार्थ अपनी पर्यायको भोग रहे हैं, उनमें पर्यायें घटती हैं, गुजरती हैं, यह ही उनका भोगना है। अचेतनामें चेतना नहीं है इसलिए

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अनुभव तो नहीं बनता, मगर पर्यायें आती हैं, उनको आत्मसात् करता है और पदार्थ अपनी सत्ता कायम रखता है तो यह ही भोगना कहलाता है। तो भोक्तृत्व अन्य द्रव्यमें साधारण है इस कारणसे इसे इस सूत्रमें 'च' शब्दसे ही ग्रहण किया, नाम लेकर बात नहीं कही गई। यहाँ भोक्तृत्व साधारण भोक्तृत्व लेना है। यदि पुण्य पापका, अन्य सुखोंका भोक्ता है, ऐसा भोक्तृत्व लगे तो वह पारिणामिक नहीं है, वह औदयिक है। तो जो पारिणामिक भोक्तृत्व है याने केवल पर्यायोंको भोगना इतनी दृष्टि लेकर जो बन रहा है वह है पारिणामिक, लेकिन वह सब द्रव्योंमें साधारण है इस कारण 'च' शब्दसे ही उसको ग्रहण किया गया।

पर्यायवत्व, असर्वगतत्व भावका अन्य द्रव्यमें भी पाया जानेसे सूत्रमें अग्रहण— इसी तरह पर्यायवान होना, यह है तो पारिणामिक भाव, क्योंकि पदार्थ पर्याय वाला बनता है, यह किसी अन्य द्रव्यकी अपेक्षासे नहीं बनता। एक साधारण बात लेनी है यहाँ याने विकार पर्याय बने ऐसा न सोचना। विकार और अविकारका यहाँ विकल्प न रखना, किन्तु पदार्थ है तो वह अपनेमें पर्यायोंको रचता ही रहता है और यों प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय पर्यायवान है। क्या किसी समय कोई द्रव्य पर्यायरहित भी हुआ क्या? तो ऐसा पर्यायवान होना हाँ है तो पारिणामिक, क्योंकि पर्यायवान होनेमें न तो कर्मके उदयकी अपेक्षा है, न उपशम आदिककी अपेक्षा है। वह तो वस्तुके सत्त्वके नातेसे हो ही रहा है। तो ऐसा पर्यायवान होना है तो पारिणामिक भाव, मगर सब द्रव्योंमें साधारण है, इस कारणसे सूत्रमें 'च' शब्द से ग्रहण किया है। नाम लेकर नहीं बताया गया, ऐसे ही असर्वगतपना साधारण है। प्रत्येक परमाणु अपने ही प्रदेशमें है, बाहर नहीं है, सर्वगत नहीं है। असर्वगत है, स्वगत है, ऐसे ही धर्मादिक द्रव्य ये लोकाकाश प्रमाण हैं, ये सर्वगत नहीं हैं, क्षेत्रसे भी सर्वगत नहीं, स्वरूपसे भी सर्वगत नहीं, याने जहाँ धर्मद्रव्य है वहाँ अन्य द्रव्य भी पाये जाते, मगर धर्मद्रव्य अन्य द्रव्य में नहीं है, वह तो केवल अपने ही स्वरूपमें है। तो ऐसा असर्वगतपना सभी अन्य पदार्थोंमें भी है। इस कारण पारिणामिक होनेपर भी याने पदार्थका, जीवका अपने ही प्रदेशमें रहना, अन्य जगह दूसरे पदार्थमें न रहना ऐसा जो स्वरूप बना है सो यह कर्मके उदय, उपशम, क्षय आदिककी अपेक्षा रखकर नहीं निकला, सो है तो पारिणामिक भाव, मगर पारिणामिक भाव होने पर भी अन्य द्रव्यमें साधारण है, इस कारणसे सूत्रमें नाम लेकर नहीं कहा गया, किन्तु 'च' शब्दसे उनका भी ग्रहण कर लिया गया है। यहाँ बात कही जा रही है असर्वगतपनेकी।

कोई यदि ऐसी शङ्का करे कि जीव अपने प्राप्त देहमें रह रहा है और किसी समय सारे लोकमें भी व्यापक बन जाता, जैसे केवलीसमुद्घातमें। तो ऐसा कोई कहे कि सर्वगत हो गया सो भी सर्वगत नहीं है, क्योंकि सभी द्रव्य भी एक दूसरे स्थानमें रहे जायें, लेकिन

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपमें रहता है दूसरेके स्वरूपमें नहीं रहता, इसलिए ऐसा असर्वगत होना साधारण बात है। सब द्रव्योंमें पायी जाने वाली बात है। हाँ ऐसी कोई जिज्ञासा रख सकता है कि देखो कर्मके उदयसे जो शरीर मिला है उस शरीर प्रमाण आत्माका रह जाना यह तो साधारण नहीं है याने अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जाता, केवल जीवमें ही पाया जा रहा है, ऐसा असर्वगतपना तो असाधारण हो गया ना ? सबमें नहीं है तो उसको तो ग्रहण करते सूत्रमें। तो उत्तर उसका स्पष्ट है कि जो देहके प्रमाण आत्मा बनता है ऐसा असर्वगतपना कर्मके उदयसे हुआ वह पारिणामिक नहीं है। यहाँ तो पारिणामिक भावकी चर्चा की जा रही है। इस प्रकार अनेक पारिणामिक भाव हैं, मगर वे साधारण हैं, इस कारण वे सूत्रमें ग्रहण नहीं किए गए। परिणाम शब्दके अनेक अर्थ होते हैं।

पारिणामिक भावके प्रकरणका स्मरण—परिणामका अर्थ परिणमन भी है। वह परिणमन चाहे कर्मके उदयके निमित्तसे हुआ हो या उपशमसे या क्षयसे या क्षयोपशमसे या स्वभावसे। पर्यायोंका नाम परिणमन है और स्वभावका भी नाम परिणाम है। जैसे जीवका स्वभाव है चेतन। जीवका परिणाम है चेतन। तो परिणाम शब्दके अनेक अर्थ हैं, पर जो ज्ञानी विवेकी पुरुष हैं वे प्रसंगवश ठीक ठीक अर्थ करते हैं। यहां परिणामका अर्थ स्वभाव है, ऐसा भाव कि जो कर्मके उदयसे नहीं, उपशमसे नहीं, क्षयसे नहीं, क्षयोपशमसे नहीं, किन्तु इसकी अपेक्षा बिना स्वयं स्वभावसे है। ऐसे पारिणामिक भाव तीन बताये गए जीवमें—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व। याने जीवका जो स्वरूप है, चैतन्यस्वभाव है उसका नाम है जीवत्व और जीवमें जो ऐसी योग्यता है कि वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणाम सहित हो सकनेके योग्य है उस भावका नाम भव्यत्व है। अब आप यह देखिये कि चाहे कभी मोक्ष न जा सके या बहुत काल बाद मोक्ष जाय, कई पुद्गलपरिवर्तन बाद मोक्ष जाय, पर जिसमें रत्नत्रयकी योग्यता है उसे भव्य कहते हैं। तो ऐसा भव्य होना कर्मके उदय आदिकसे नहीं है। जब रत्नत्रय होगा तो उस रत्नत्रय परिणामको तो औपशमिक, क्षायिक कह सकेंगे, पर उस रत्नत्रयमें जो योग्यता जीवमें अनादिसे पड़ी है उसके योग्य है। सामान्य योग्य है ऐसा भाव उदयादिकमें नहीं है, किन्तु पारिणामिकमें है। ऐसी ही अभव्यकी बात है। इस सूत्रमें यह शङ्का की गई थी कि पारिणामिक भाव और भी तो हैं उन्हें क्यों नहीं ग्रहण किया ? जिनमेंसे अनेकका वर्णन हुआ था।

अनादिसंततिबन्धनबद्धत्वका सर्वद्रव्योपलब्ध होनेसे सूत्रमें नामानिर्देश—अब अनादि संतति, बंधनबद्धत्व इसपर विचार चल रहा है। शंकाकारने एक प्रश्न किया था कि यह जीव अनादिसे जो इसकी संतति है, अनादिसे यह जीव चला आ रहा है उस संतानके बन्धनमें तो बद्ध है। कहीं जीव औरके संतानमें तो नहीं बँध गया। अपनी ही संततिमें रहता है, यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी तो एक गुण है, इसे पारिणामिकमें ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यह बात कर्मके उदय आदिककी अपेक्षासे नहीं होता। इसका समाधान यह है कि यद्यपि है तो यह पारिणामिक मायने जीव अपनी संततिमें याने जीवकी जो पर्यायें होती हैं उनमें यह बँधा हुआ है अर्थात् यह जीव अपनी पर्यायोंकी संततिमें ही चलता है। यह बात उदयादिककी अपेक्षासे तो नहीं है। यहाँ सामान्य संतति लेना है। लेकिन यह भाव साधारण है। जीव ही क्या, समस्त द्रव्य अपनी-अपनी संततिके बन्धनमें हैं और साधारण होनेके कारण इसे पारिणामिक भावमें नाम लेकर नहीं कहा, किन्तु 'च' शब्दसे इसका ग्रहण कर लिया। 'च' का अर्थ होता है— और, जिसे हिन्दीमें कहते हैं और, उसे संस्कृतमें कहते हैं च। जीव भव्यभव्यत्वानि च, इस सूत्रमें जो 'च' शब्द दिया है उससे उन भावोंको ग्रहण कर लेना। हाँ इस विषयमें यह ध्यान जरूर रखना कि जीव अपने अनादिकालसे चली आयी हुई संततिमें बँधा है, यह तो पारिणामिक है, लेकिन कोई यह देखे कि अनादिकालसे कर्मकी संततिके बंधनमें बंधा है याने अनादिसे कर्मबन्धनबद्ध है, कर्म इसमें बंधे हुए हैं, ऐसी बात अगर देखे कोई तो यह पारिणामिक ही नहीं है, क्योंकि क्यों कर्मबन्धनमें बंधा ? कर्मके उदय आये, वहाँ जीवमें कषाय जगी, कर्मके बन्धन बंध गए। तो कर्मबन्धनसे बँध जाना यह जीवका स्वभाव नहीं, स्वरूप नहीं, पारिणामिक भाव नहीं। पारिणामिक भाव तो वह है जो जीवमें स्वभावसे हो, किसी परकी अपेक्षासे न हो।

प्रदेशवत्वका भी सर्वद्रव्योपलब्ध होनेसे सूत्रमें नामानिर्देश—अच्छा अब शंकाकारने एक प्रश्न और किया था कि जीव अपने प्रदेशमें है, प्रदेशवान है, तो प्रदेशवत्व, यह भी तो पारिणामिक भाव है याने जीव है तो उसके प्रदेश भी हैं, जिनसे आकार बनता है। अभी जितने शरीरमें हम हैं उस प्रमाण हमारा आकार है। है यह अमूर्त, लेकिन जैसे लौकिक दृष्टान्तमें लौकिक प्रमाश है तो प्रकाशदीपक यदि एक घड़ेमें रख दें तो उसका प्रकाश घड़े बराबर रहेगा और यदि उसे कमरेमें रख दें तो कमरे बराबर रहेगा। तो ऐसे ही यह है चैतन्यप्रकाश, ज्ञानमात्र अमूर्त, लेकिन इस संसार-अवस्थामें जिस देहमें यह आत्मा जाता है उस देहप्रमाण यह आत्मा होता है। तो वह प्रदेशका ही तो फैलाव है, संकोच विस्तार है। तो ऐसे प्रदेश वाला भी तो यही जीव है। तो प्रदेश वाला होना क्या कर्मके उदयसे होता ? किसी अपेक्षासे नहीं है। वस्तुका स्वभाव है कि वह प्रदेश वाला रहे। तो इस प्रदेशवत्वमें तो पारिणामिक भावसे ग्रहण करना था। इसका उत्तर भी यही है कि है तो पारिणामिक प्रदेशवत्व, लेकिन यह साधारण है अर्थात् प्रदेशवत्व जैसे जीवमें है वैसे ही पुद्गल आदिक पदार्थोंमें भी है। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है, कालद्रव्य भी प्रदेशवान है, किन्तु वह एकप्रदेशी है, इसलिए उसे अस्तिकायमें नहीं गिना। परमाणु भी एकप्रदेशी है, वह भी वास्तवमें अस्तिकाय नहीं, लेकिन परमाणुओंका सजातीय बन्धन होता है, स्कंध बन्धन है और वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

असंख्यातप्रदेशी हुआ करता है । तो इस प्रकार यह प्रदेशवत्व भाव भी पारिणामिक तो है, लेकिन अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता, इसलिए प्रधान रूपमें नहीं रखा, 'च' शब्दसे ही इसका संग्रह किया ।

अरूपत्व, नित्यत्व व ऊर्ध्वगतिस्वभावका भी साधारण होनेसे सूत्रमें नामानिर्देश—शङ्काकारने एक अरूपत्व भी बताया था । आत्मामें रूप नहीं है । काला, पीला, नीला आदिक ये रंग तो नहीं हैं आत्मामें । तो ऐसा अरूपत्व भी है और पारिणामिक है याने कर्मके उदयसे नहीं है, अरूपीपना कर्मके उपशम आदिकसे नहीं है । जीव स्वतः ही अरूपी है, तो वह है तो पारिणामिक, लेकिन साधारण है । अस्तित्व जैसे जीवमें है वैसे ही धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन चार द्रव्योंमें भी अरूपीपना है, इस कारण यह प्रधान भाव नहीं किन्तु गौण भाव मानकर 'च' शब्दसे इसका ग्रहण किया गया है । अब इस प्रकार नित्यपना भी है । जीव हमेशा रहेगा, ऐसा नित्यपना क्या कर्मकी वजहसे है ? यह तो अपने आप है । जीव है और रहेगा । प्रत्येक पदार्थकी ऐसी ही कला है । तो जीवमें नित्यत्व है तो पारिणामिक मायने कर्मके उदयादिके कारण नहीं होता, यह तो जीवमें अपने आप है, लेकिन यह साधारण है । जैसे नित्यपना जीवमें है ऐसे ही नित्यपना अन्य द्रव्यमें है । प्रत्येक पदार्थ नित्य होता है । पर्याय होकर भी प्रतिसमयमें पदार्थकी पर्यायें होती रहती हैं तिसपर भी सदा होती रहेगी पर्याय, उसकी संतति न मिटेगी । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ नित्य है । तो पारिणामिक होनेपर भी नित्यत्व साधारण है, इस कारण प्रधान भाव न मानकर गौण भाव समझकर 'च' शब्द द्वारा संग्रह किया गया । शङ्काकार एक और प्रश्न रख सकता है कि देखो जीवकी गति ऊर्ध्व होती है याने जीव स्वभावसे ऊपरको गमन करता है । जैसे जब कर्म छूट जाते हैं तो यह जीव कहाँ जाता है ?

कोई दार्शनिक तो कहते हैं कि जहाँ है वहीं रह जाना । कोई कहते हैं कि सर्वव्यापक बन जाना । जैनसिद्धान्त बताता है कि कर्ममुक्त होनेपर यह जीव जिस शरीरमें रह रहा था उस शरीरके परिमाण ही रहते हुये एक ही समयमें लोकके अन्त तक ऊपर गमन कर जाता है । तो देखो—जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है । तो जीवमें जो यह ऊर्ध्वगमनका स्वभाव आया यह कर्मके उदय उपशम आदिकसे नहीं है, यह तो जीवमें ऐसा स्वभाव ही पड़ा है और वह स्वभाव कहीं जाता नहीं । लोकके अन्त तक पहुंच गया । वह आगे भी जा सकता था स्वभाव है ऐसा, पर गति मात्रके लिए निमित्त कारण है धर्मद्रव्य । वह धर्मद्रव्य वहीं तक है अतएव वहाँ तक गमन है । तो ऊर्ध्वगति स्वभाव भी तो पारिणामिक है, उसे क्यों नहीं इस सूत्रमें ग्रहण किया ? इसका भी यही उत्तर है कि हाँ है तो पारिणामिक भाव । जीवका ऊपर गमन करना स्वभाव है, लेकिन यह भी साधारण भाव है । ऊपरको गमन करने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का स्वभाव कुछ और पदार्थोंमें भी पाया जाता ।

जैसे अग्निकी ज्वाला, उसका ऊपर गमन करनेका ही स्वभाव है । वह कभी नीचे न जायगी । हां हवा कोई ऐसी चले कि जिसकी वजहसे तिरछी भी चली जाय, नीचे भी चली जाय तो यह तो औपाधिक गमन हुआ, पर कोई बाधा न हो, कोई प्रेरक उल्टा न हो तो अग्निकी शिखा ऊपर ही जायगी । तो अग्निकी शिखा भी ऊपर जानेका ही स्वभाव रखती है । तो लो ऊर्ध्वगति स्वभाव अन्य जगह भी तो मिल गया, इस कारण ऊर्ध्वगति स्वभाव पारिणामिक होकर भी चूंकि साधारण है, इस कारण सूत्रमें इसका नाम नहीं लिया और ऐसे ही यहां तो ये कुछ भाव बताये गये हैं, इनके अतिरिक्त अनेकों और भी पारिणामिक भाव हैं, लेकिन जो पारिणामिक भाव हैं और जीवमें ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्योंमें नहीं पाये जाते, उनका जिक्र सूत्रमें है कि जीवके पारिणामिक भाव तीन हैं—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व ।

मात्र दर्शनमोहकी अपेक्षासे पारिणामिक होनेसे, किन्तु अनन्तानुबंधी कषायकी अपेक्षा औदयिक होनेसे सासादन गुणस्थानमें पारिणामिकत्वका अभाव—यहाँ एक जिज्ञासु यह बात रख रहा है कि गुणस्थान १४ होते हैं, उनमें दूसरे गुणस्थानका नाम सासादन है, सो सासादन गुणस्थानके लिए सिद्धान्तमें यह बताया है कि वह पारिणामिक है । जैसे १४ गुणस्थानोंमें एक व्यवस्था कही गई है कि मिथ्यात्व गुणस्थान तो औदयिक है, क्योंकि वह दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे होता । मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व भाव होता है अतएव पहला गुणस्थान औदयिक है । तीसरा गुणस्थान क्षायोपशमिक है, क्योंकि क्षयोपशम तुल्य जो सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है उसका उदय होनेपर होता है । यद्यपि तीसरा गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात्व नामक कर्मके उदयसे होता है, लेकिन वह सम्यग्मिथ्यात्व स्वयं एक क्षीण शक्ति वाला है याने वहाँ सम्यक्त्व पूर्णतया नष्ट हो जाय, सो नहीं । सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मिलकर परिणाम रहे हैं । इस मिश्रताकी वजहसे इसे क्षयोपशममें कहा । चौथा गुणस्थान उपशम, क्षायिक, क्षायोपशमिक तीन तरहका है, क्योंकि जहां ७ प्रकृतियोंका क्षय हो गया और सम्यक्त्व हुआ, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन ७ प्रकृतियोंका जहां क्षय हो चुका वहाँ क्षायिक सम्यग्दर्शन होता, सो वह क्षायिक भाव है । जहाँ इन ७ प्रकृतियोंका उपशम होता वह औपशमिक है । और जहां क्षयोपशम है वह क्षायोपशमिक है । ऊपरके भी गुणस्थान बताये गए । ५वाँ क्षायोपशमिक है, छठा क्षायोपशमिक है, ७वां क्षायोपशमिक है, ऊपर उपशमश्रेणीमें औपशमिक, क्षपकश्रेणीमें क्षायिक भाव है । उसीके साथ यह भी बताया गया कि दूसरा गुणस्थान पारिणामिक है । क्योंकि वहाँ दर्शनमोहका उदय नहीं, उपशम नहीं, क्षय नहीं, क्षयोपशम नहीं । तो उस दूसरे गुणस्थान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का नाम तो इस सूत्रमें रखना था। पारिणामिक भाव चार बताना— (१) जीवत्व, (२) भव्यत्व, (३) अभव्यत्व और (४) सासादन गुणस्थान, उसे क्यों छोड़ दिया ? तो उसका उत्तर यह है कि सासादन गुणस्थान भी जो पारिणामिक कहा, सिद्धांतमें वह केवल दर्शनमोहकी अपेक्षा कहा। वैसे तो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इनमेंसे किसीका उदय हो तब दूसरा गुणस्थान बनता है। सो निष्पत्तिकी अपेक्षा तो औदयिक भाव है यह, लेकिन चूँकि यह संकल्प किया कि पहलेके चार गुणस्थान दर्शनमोहकी अपेक्षा बने तो वहां ही तो देखना होगा कि दर्शनमोहका उदय है पहलेमें। दर्शनमोहका क्षयोपशम रूप उदय है तीसरेमें और दर्शनमोहका उपशम हो, क्षय हो, क्षयोपशम हो वह है चौथेमें, किन्तु दूसरेमें दर्शनमोहका न उदय है, न उपशम है, न क्षय है, न क्षयोपशम है। इस प्रसंगमें उसे पारिणामिक कहा, किन्तु वास्तवमें वह पारिणामिक भाव नहीं है, जो जीवमें ५ भावमें कहे। वास्तवमें वह तो औदयिक भाव है। इस प्रकार सूत्रमें जो तीन भाव कहे गए वे बिल्कुल ठीक हैं, तब सूत्र बना—जीव भव्यभव्यत्वानि च।

गति आदि औदयिक पर्यायोंको पारिणामिक भावमें गर्भित किये जानेकी अशक्यता— अब यहाँ शंकाकार यह कहता है कि जहाँ 'च' शब्द कहा जाता, जिसका अर्थ और है, उससे संग्रह बनता। जैसे कहा कि भाई अमुक चंदको भोजन कराओ और इनको भी कराओ तो 'और' शब्दसे बहुतका ग्रहण होता है। तो इस 'च' शब्दसे पहले सूत्रमें जो गति आदिक भाव कहा, उनका ग्रहण हो जायगा। उत्तर देते हैं कि नहीं, गति आदिकको ग्रहण न करना, क्योंकि वह पारिणामिक शब्द नहीं है। नरकगति क्या जीवमें स्वभावसे होती ? नहीं। वह तो औदयिक है। जो ये सब औदयिक हैं उन भावोंको यहाँ न ग्रहण करना। दूसरी बात यह है कि जहाँ इन ५ भावोंके भाव बताये गए वहाँ यह प्रतिज्ञा की थी कि पारिणामिक भाव ३ प्रकारके हैं। इस कारणसे ये ही तीन भाव पारिणामिकमें लेने चाहिएँ।

अब शंकाकार कहता है कि देखो गति आदिक अनेक भाव मिलवा भी हैं मायने औदयिक और पारिणामिक, इसलिए जैसे क्षायोपशमिक भाव मिलवा हैं ऐसे ही गति भी मिलवा है। यों पारिणामिकमें ग्रहण करते, क्योंकि परिणाम तो हैं ही। गति जीवकी एक पर्याय है, परिणाम है, तो औदयिक भी रहने देते और पारिणामिक भी बोलते। उत्तर उसका यह है कि यहाँ पारिणामिकमे परिणाम शब्दका अर्थ परिणमन नहीं है, पर्याय नहीं, किन्तु स्वभाव है। सो गति आदिक स्वभावभाव होते ही नहीं, और यदि गतिको स्वभाव मान लिया जाय तो जीवका फिर कभी मोक्ष ही न हो सकेगा, क्योंकि स्वभाव बन गया, नरक तिर्यञ्च कहीं जायें। जैसे एक सिद्धान्त है जो यह मानता है कि जीवमें राग कभी मिटता ही नहीं। राग स्वभाव है, जीवका काम है कि उसमें राग आये, यह कभी मिटता नहीं, और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जब कभी जीवको मोक्ष होता है, बैकुण्ठ होता है तो वहाँ राग अत्यन्त मंद हो जाता है और कल्प काल तक वह मुक्त जीव रहता है। बादमें जब उसका कल्पकाल समाप्त हो जाता तो जो एक सदाशिव ईश्वर है, जो जगतकी सृष्टि रचता है वह उसे वहाँसे ढकेल देता है और संसारमें रुलना पड़ता है।

एक दार्शनिक यों कहता है तो उनका यह कथन एक कुछ मिलान करके देखा जाय तो यों लगावो कि जहाँ राग अत्यन्त मंद होता, शुक्ललेश्या होती, ऐसा कोई मुनि नवग्रैवेयक तक गया तो उनका बैकुण्ठ ग्रैवेयक जैसा ही है। ग्रैवेयकमें कोई कष्ट तो है नहीं, मंदलेश्या है, शुक्ललेश्या है, रहता है बहुत सागरों पर्यन्त। जब उसकी स्थिति पूर्ण हो जाती है तो यह ही सदाशिव ईश्वर मायने स्वयं आत्मा, बस वहाँसे नीचे आ जाता है, मनुष्यगतिमें जन्म लेता है तो वह मोक्ष तो नहीं है। राग भाव तो विकार भाव है, औदयिक भाव है। यह भाव छूट सकता है, और रागरहित हो जायगा, फिर कभी उस जीवमें राग नहीं आ सकता। तो जीवका स्वभाव नहीं है राग, गति, कषाय, अज्ञान आदि सब औपाधिक हैं, इनका नाश होता है तब मोक्ष होता है। यदि गति आदिक भावोंको जीवका स्वभाव मान लिया जाय तब तो इसका कभी मोक्ष ही न हो सकेगा। इस तरह सूत्र बिल्कुल व्यवस्थित है कि पारिणामिक भाव जी में तीन ही होते हैं।

'च' शब्दसे ग्रहण किये जाने वाले अस्तित्व, अन्यत्व आदि भावका गौण होनेके कारण सूत्रमें कण्ठोक्त नामसे अग्रहण—अब यहाँ फिर एक जिज्ञासा होती है कि जो अभी अनेक अस्तित्व आदिक पारिणामिक भाव बनाये गए और उनका स्वरूप स्वीकार भी कर लिया गया कि हाँ पारिणामिक तो है, मगर साधारण है—यह कहकर टाल दिया तो इससे अच्छा यह होता कि 'च' शब्दके बजाय 'आदि' शब्द देते याने जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्वादिक पारिणामिक भाव हैं। तो आदि शब्द देकर क्यों नहीं ग्रहण किया? उत्तर इसका यह है कि प्रतिज्ञामें तीन ही कहे गए थे कि पारिणामिक भाव तीन हैं, उस प्रतिज्ञासूत्रमें तीन भाव बताये गए। तो प्रतिज्ञाकी हानिके भयने तुम तीन नाम दे रहे हो तो प्रतिज्ञाकी हानि तो 'च' शब्द देनेसे भी हो जायगी याने सूत्रमें दिए गए 'च' शब्दके द्वारा तुमने अनेक पारिणामिक भावोंको ग्रहण किया तो ३ तो न रहे फिर? इसका उत्तर यह है कि प्रधान और गौणमें बात है। जो तीन भाव कहे वे प्रधान हैं, जो कंठसे उक्त हैं। जो मुखसे बोले गए हैं—तीन भाव प्रधान हैं, उसकी अपेक्षा प्रतिज्ञा बराबर है और अस्तित्वादिक ये गौण भाव हैं, क्योंकि साधारण हैं, इनका 'च' शब्दसे ग्रहण किया है, इस कारणसे जीवके तीन भाव हैं—यह बिल्कुल सही सूत्र है।

शुद्ध जीवत्व नामक परमपारिणामिक भावकी आश्रेयता—भैया! अपने-अपनेमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनुभव करके भी देखो तो इन तीन बातोंमें भी शुद्ध पारिणामिक जीवत्व है। देखो भव्यत्व का भी विनाश हो जाता। जब जीव मुक्त हो जाता तो सिद्ध भगवानमें भव्यत्वभाव नहीं कहा गया। जैसे किसी बच्चेको कहते हैं कि यह चौथी क्लासके योग्य है और जब वह बच्चा चौथी क्लास पास हो गया, ५वीं क्लास पास हो गया तो क्या फिर भी उसे कहेंगे कि यह चौथी क्लासके योग्य है ? अरे वह तो उत्तीर्ण हो गया। तो इसी तरह जीवको कहा जाता है कि यह जीव रत्नत्रयके पाने योग्य है याने भव्य है, और जब रत्नत्रयकी पूर्णता हो गई, मुक्त हो गए तो क्या उस समय भी कहा जाना चाहिए कि यह रत्नत्रयके योग्य है ? तो वहाँ भव्यत्व रहता ही नहीं है। वहाँ तो भव्यत्वका विनाश है। अभव्य कहते हैं रत्नत्रय परिणामके योग्य न हो, तो यह तो कोई भली बात नहीं, यह तो विकारका सूचक ही वृत्तान्त रहा, तो यह अशुद्ध भाव है, एक जीवत्व ही शुद्ध भाव है। और जीवत्वके भी दो अर्थ किये जाते हैं—एक तो दस प्राणों करके जीवे। इन्द्रियाँ मिली हैं, श्वास मिला है, आयु मिली है, मन, वचन, काय मिले, इनसे जिन्दा रहता है जीव, ऐसा जो जीवत्व है वह तो अशुद्ध भाव है, क्योंकि यह तो कर्मोदय आदिकसे होता है। विनष्ट हो जाता, मगर जीवमें जो चैतन्यस्वरूप है वह शुद्ध भाव है। अनादि अनन्त अहेतुक भाव है, तो इन सब भावोंमें एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप याने जीवत्व भाव, यह ही हम आपका शरण है, इसका ही हमें आलम्बन लेना है। लक्ष्यमें यह ही भाव आना है, जिसका शरण लेने पर सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है और इसीका ही आलम्बन समस्त शुद्ध भावोंमें रहता है। इसलिए जो एक ऐसी भीतर भावना होती कि मैं किसी रक्षकका शरण ग्रहण करूँ तो इस जीवका वास्तवमें रक्षक स्वयंका ही यह चैतन्यस्वरूप है। इसका रक्षक जगतमें कोई भी दूसरा पदार्थ नहीं है, ऐसा एक शुद्ध निर्णय रखकर एक ही भावना रखनी है कि मेरा जीवन इस धर्मपालनके लिए हुआ है अर्थात् अपना जो अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूप है, जीवत्व भाव है परमपारिणामिक भाव, बस उसका आलम्बन लेनेके लिए ही हमारा जीवन है, ऐसा एक दृढ़ निर्णय रहना चाहिए।

द्वितीय अध्यायके प्रथम सूत्रमें उक्त "मिश्रः च" में कहे गये 'च' शब्दसे सान्निपातिक भावके ग्रहणकी संभवता—जीवके स्वतत्त्व बताये जा रहे हैं। यहाँ ५ स्वतत्त्व कहे गए—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। तब यहाँ एक जिज्ञासु यह जानना चाह रहा है कि जैसे क्षायोपशमिक भाव कहा तो उसमें क्षय और उपशम दोनोंका मिश्र है, तो ऐसे ही औपशमिक, क्षायिक, औदयिक इनका भी मिश्र हो जायगा और होते ही हैं, इनका नाम है सान्निपातिक भाव। सान्निपातिकके मायने मिश्र, मिलवाँ। कई मिल गए और उससे होने वाले भावका नाम है सान्निपातिक भाव। तो सान्निपातिक भाव क्यों यहाँ नहीं बताया गया ? जैसे मिश्र भाव कहा, ऐसे ही सान्निपातिक भाव। और भी कहते कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

६ भाव हो जाने देते। इसका समाधान यह है कि सान्निपातिक भाव जैसे क्षय और उपशम होकर क्षयोपशम है, ऐसे ही औपशमिक, क्षायिक मिलकर सान्निपातिक भाव है, अन्य-अन्य भी मिलकर सान्निपातिक भाव हैं, पर फर्क यह है कि जो क्षायोपशमिक है वह तो एक ही भाव है, दो का मिलकर नहीं है। किन्हीं स्पर्धकोंका क्षय है, उपशम है, कुछका उदय है इस तरह मिश्र बनता। तो वह भाव एक है, मगर सान्निपातिक भावमें तो दो दो, तीन-तीन, चार और पाँचका मेल है और ऐसा सान्निपातिक भाव मंजूर तो है, किन्तु पुनरुक्त हो जाता है। तो सूत्रमें कहे गये 'च' शब्दसे ग्रहण कर लेना चाहिये। द्वितीय अध्यायके पहले सूत्रमें जो 'मिश्रः च' इस तरह 'च' शब्द दिया है उससे सान्निपातिक भाव भी लेना चाहिए। सान्निपातिक भावका मतलब क्या है कि जैसे यह कहा जाय कि यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशान्त कषाय है। किसी जीवका परिचय कराया याने सम्यक्त्व तो क्षायिक किया और श्रेणी उपशम मान लेता है, वह गिरेगा, मगर सम्यक्त्वसे नीचे न गिरेगा, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व है। तो यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशान्त कषाय है। तो इसमें दो भाव आ गए—क्षायिक भाव और औपशमिक भाव। तो इसे कहेंगे क्षायिक व औपशमिक भावका सान्निपात। जैसे कहा कि यह क्रोधी मनुष्य है तो मनुष्यका तो औदयिकभाव है गति और क्रोध भी औदयिक भाव है तो यह हो गया औदयिकका सान्निपात। जैसे किसी जीवको कहा कि यह जीव भव्य मनुष्य है तो भव्य हो गया पारिणामिक और मनुष्य हो गया औदयिक। तो यह औदयिक पारिणामिकका सान्निपात है तो ऐसे सान्निपातिक भाव भी तो हुआ करते हैं, उसका ग्रहण क्यों नहीं प्रथम सूत्रमें किया गया कि जीवके स्वतत्त्व ६ होते हैं—उसका उत्तर दिया जा रहा है कि इसमें व्यर्थ पुनरुक्तता बनती है, इसलिए सूत्रमें तो ग्रहण नहीं किया गया, मगर यह भाव है उनको 'च' शब्दसे ग्रहण करना। कैसे सूत्र बनाया गया—'औपशमिकक्षायिकौ' इसमें भाव तो यह बता दिया, फिर आगे यह बता दिया—'मिश्रः च' तो क्षायोपशमिक 'मिश्र' शब्दसे कह दिया। अब जो 'च' शब्द उसमें पड़ा है उससे अर्थ लेना कि सान्निपातिक भाव भी जीवके स्वतत्त्व हैं। अब यहाँ शंका होती कि 'च' शब्दसे तो औपशमिक और क्षायिकका मिश्र बताया गया था याने औपशमिक, क्षायिक और मिश्र याने किसका मिश्र ? औपशमिक और क्षयका, तो अर्थ हुआ था क्षायोपशमिक। तो 'च' शब्दसे ग्रहण तो क्षायोपशमिकके समर्थनके लिए है, सान्निपातिक भावके लिए नहीं है। इसका समाधान यह है कि 'च' शब्द द्वारा दोनोंका ही ग्रहण होता है। वैसे तो सान्निपातिक नामका कोई छठा भाव नहीं है और संयोगकी अपेक्षा देखें तो छठा भाव है। सो यहाँ जो मिश्रः शब्दके आगे 'च' शब्द दिया है सो पहले कहे गये दो भावोंका मिलान करनेका प्रसंग हुआ, तब तो 'च' शब्दसे क्षायोपशमिक अर्थ हुआ और यदि संयोगकी अपेक्षा हो तो उससे सान्निपातिक अर्थ होता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

औपशमिक भावके साथ जोड़े गये द्विसंयोगी सान्निपातिक भावके चार प्रकार— अब देखो—सान्निपातिक भाव कितनी तरहके होते ? मूल भाव ५ हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। [यह सब अपने आपकी कहानी है। कैसे-कैसे जीवमें भाव होते हैं, उन भावोंकी पहिचान विधिरूपसे तो उस भावको ही देखनेसे होगी और निमित्तदृष्टिसे कोई कर्मका उदय होनेपर हुआ, उपशम होनेपर हुआ, क्षय होनेपर हुआ आदिक भेदोंसे भेद समझमें आ जाता है। तो मूल भाव ५ हैं, जो कर्मके उपशमसे हो सो औपशमिक। जैसे उपशम श्रेणीके भाव और उपशम सम्यक्त्वके भाव, और कर्मके क्षयसे हो सो क्षायिक। जैसे क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञानादिक। कुछ उदय हो कर्मका, कुछ दब गये हों, कुछ अलग हो रहे, क्षय हो रहा, ऐसी स्थितिमें जो भाव होता है सो क्षायोपशमिक और औदयिक उदयसे होने, पारिणामिक मायने अपने आप। तो इनका मेल बनावें, इनका दो का मेल बनाया तो कितने भाव बन जायेंगे ? पहले औपशमिकके साथ मेल बनाया। औपशमिक-क्षायिक, औपशमिकक्षायोपशमिक, औपशमिकऔदयिक, औपशमिकपारिणामिक—ये चार भेद हुए। इसके मायने क्या ? दृष्टान्तसे ठीक समझमें आयगा।

जैसे कहा औपशमिकक्षायिक तो उदाहरण लो उपशान्तकषाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि। इसमें दो भेद आ गए—(१) औपशमिक और (२) क्षायिक। जैसे कहा—जाय औपशमिक-क्षायोपशमिक, इनका मिलकर क्या दृष्टान्त होगा ? कहो—उपशम सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानी जीव तो उपशमसम्यक्त्व हो गया और मतिज्ञान क्षायोपशमिक हो गया। तो दो भाव आ गए, जैसे कहा औपशमिक औदयिकभाव तो उदाहरण लो—उपशमसम्यग्दृष्टि मनुष्य। उपशमसम्यग्दृष्टि कहा तो यह तो हुआ औपशमिक भाव और मनुष्य कहा तो यह औदयिक भाव हुआ। औपशमिक पारिणामिक जैसे कहा—उपशान्त कषाय भव्य जीव तो उपशान्त कषाय हुआ औपशमिक भाव और भव्य हुआ पारिणामिक। तो ऐसे औपशमिकके साथ एक-एक और जोड़नेसे चार सान्निपातिक भाव हो गये।

क्षायिक भावके साथ द्विसंयोगी भाव ३, क्षायोपशमिक भावके साथ द्विसंयोगी भाव २ तथा औदयिकभावके साथ द्विसंयोगी एक मिलाकर सर्व अपुनरुक्त दस सान्निपातिक भावों के वर्णनकी समाप्ति— अब क्षायिकके साथ भी जोड़ें। यहाँ पुनरुक्त न करें, क्षायिकके साथ औपशमिक जोड़ा जा सकता है। मगर ये तो जुड़ गए। अब आगे बढ़ो। क्षायिक क्षायोपशमिक भाव। जैसे कहा कि अवधिज्ञानी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव। तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव तो हो गया क्षायिक और अवधिज्ञानी हो गया क्षायोपशमिक। क्षायिकके साथ औदयिक भी जोड़ लें। जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य तो मनुष्य हो गया औदयिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो गया क्षायिक और इस क्षायिकके साथ पारिणामिक जोड़ लीजिए। क्षायिक सम्यग्दृष्टि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भव्य, तो इस प्रकार क्षायिक के साथ एक एक और जोड़नेसे तीन भेद हो गए। ४ और ३ = ७ और तीसरा है क्षायोपशमिक, उसके साथ औदयिक जोड़ा, यह ८वाँ सान्निपातिक भाव हुआ। क्षायोपशमिकके साथ पारिणामिक जोड़ा तो यह ९वाँ हुआ। जैसे कहा कि मतिज्ञानी मनुष्य श्रुतज्ञानी मनुष्य। तो श्रुतज्ञान हुआ क्षायोपशमिक और मनुष्य हुआ औदयिक। जो भावोंके पहले भेद कहे गए थे। उनका जिनको व्युत्पत्ति पूर्वक परिचय है उन्हें शीघ्र समझमें आ जायगा। जैसे कहा—भव्य मनुष्य तो यह औदयिक पारिणामिक होगा। तो यों ९ भाव हुए और एक औदयिक पारिणामिक मिलाया तो १०वाँ हो गया। तो जीवके जो भाव कहे गए उन्हींका मिलाप करके चर्चा की जा रही है। आप इस समय कुछ सोच रहे हैं या समझमें नहीं आ रहा तो नींद आ रही है, तो यह बतलावो कि इस समय आपके कौनसा भाव चल रहा? औदयिक भाव। और कुछ सो रहे हैं, कुछ सुन भी रहे हैं तो कौनसा भाव चल रहा? औदयिक और क्षायोपशमिक मिलकर चल रहा। तो जीवके प्रतिक्षणमें जो जो भाव होते, मनुष्य ही क्या? तिर्यञ्च हो, नारकी हो, देव हो, सभीके ये जो स्वतत्त्व चलते हैं, जिसकी जैसी योग्यता है, तो उनका अलग-अलग परिचय कराया गया था कि ये ऐसे ५ भाव होते हैं। अब मिलाकर परिचय कराया जा रहा है कि कोई जीव यदि ऐसी स्थितिमें है तो उसका कौनसा भाव कहलाता है?

देखो सिद्धान्तमें प्रत्येक वर्णनके साथ भावका परिचय कराया जाता है और ऐसा परिचय जब हो तब समझिये कि वह आत्माके अन्दरकी चीजको ठीक तरहसे पहिचानता है। केवल एक पारिणामिक भावकी ही रटन करें और इस परिणमन रूप भावोंको न जानें, समझें तो उसका ऐसा ही परिचय होगा जैसा कि अन्य एकान्तवादी किया करते हैं। वस्तु पकड़में कुछ न आयगी और शब्दों द्वारा बहुत वर्णन हो जायगा।

केवल पारिणामिक भाव मानकर अन्य भावोंका निषेध करनेसे होने वाली विडम्बना का एक उदाहरण—जैसे बोलते हैं कुछ लोग कि इस जगतमें केवल एक ब्रह्म ही तत्त्व है और कुछ नहीं है। जो कुछ यहाँ दिखता है वह सब माया है, मिथ्या है, उसका तो कोई परिणाम नहीं, परिणमन नहीं, कूटस्थ है, नित्य है ऐसा एक ब्रह्मतत्त्व। शब्दोंसे और-और भी कह दीजिए, मगर अनुभवमें क्या आया? सो कहने वालेके भी अनुभवमें नहीं आ पाता। और यह मैं ब्रह्मतत्त्व जैसा कि कहा जा रहा है—एक है, अपरिणामी है, अनादि अनन्त है, उसकी कोई पर्याय नहीं, इस ही तत्त्वको पर्यायार्थिकनयकी बात मानकर फिर द्रव्यदृष्टिसे देखें तो यह सही उतर जाता। तो पर्याय बिना द्रव्य नहीं। द्रव्य बिना पर्याय नहीं, बस इसीकी भूलमें अनेक दार्शनिक बन जाते हैं। कोई पर्यायको छोड़कर द्रव्यको ही लेता है, कोई द्रव्य को छोड़कर पर्यायको ही सर्वस्व मान लेता है, और फिर इसके और भेद प्रभेद, इसीकी भूल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में, इसीकी निरपेक्षतामें अनेक दार्शनिक ऐकान्तिक बन जाते हैं। तो यह सब वस्तुओंमें विदित होगा कि द्रव्य और पर्याय––ये दोनों वस्तुके स्वरूप हैं। भले ही यह बात है कि पर्यायकी दृष्टि रखनेमें उपयोगमें समाधिभाव नहीं जगता, क्योंकि पर्याय अनित्य है। उस पर्यायको लक्ष्यमें लिया तो दृष्टि न हो सकेगी। पर्याय मिटा तो दृष्टि कहाँ टिके ? दृष्टि बदल गई। अन्य पर्यायको लेने लगे तो दृष्टिमें एकाग्रता न रही और एक द्रव्यस्वरूपको दृष्टिमें लें तो दृष्टि रखने वाला पुरुष अपनी ओरसे भूल करे और एकाग्र न रहे यह तो उसकी बात है, मगर दृष्टिमें जिसको लक्ष्यमें लिया है वह न हटेगा, वह न मिटेगा, वह तो है ही। तो ऐसा पर्यायार्थिकनय मानते हुए द्रव्यार्थिकनयका सहारा लें, वह तो मार्ग है और पर्यायार्थिकनयका खण्डन करके द्रव्यार्थिकनयका सहारा लें तो वह मार्ग नहीं है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। द्रव्यके मायने हैं जो संतान है, सदा रहने वाली वस्तु है, जो कभी मिटेगी नहीं, जिसका स्वरूप बदलेगा नहीं, ऐसा जो एक आन्तरिक शक्तिरूप है, सदा रहने वाली वस्तु है उसे तो द्रव्य कहते हैं। और उसकी प्रति क्षणमें जो अवस्थायें होती हैं उसका नाम पर्याय है। बतलावो है कोई ऐसा पदार्थ कि जिसकी पर्याय नहीं होती और पदार्थ है ? नहीं, और ऐसा भी पदार्थ नहीं कि बस एक क्षणकी पर्यायमात्र है और द्रव्य कुछ नहीं।

शुद्ध पदार्थोंमें भी द्रव्यपर्यायात्मकताकी अनिवार्यता—जो शुद्ध पदार्थ होते हैं उनमें समान-समान परिणमन चलते हैं, और समान-समान परिणमन चलनेके कारण उनमें अंतर का सद्भाव विदित नहीं हो पाता, लेकिन किसी क्षणका परिणमन अगर रुक जाय तो वह पदार्थ रहेगा क्या ? जो सिद्ध आत्मा हैं, मुक्त जीव हैं, सिद्धप्रभु हैं एक द्रव्यके नातेसे देखो—कोई परिणमन न हो, रुक जाय तो वह द्रव्य रहेगा क्या ? कुछ भी द्रव्य न रहेगा। तो क्या परिणमन है ? बताते हैं कि उनमें केवलज्ञान है, केवलदर्शन है, अनन्तआनन्द है, अनन्तशक्ति है। यहाँ कोई शंका करे कि परिवर्तन तो हम लोगोंके है, क्योंकि सिद्ध हो गए तो उनका ज्ञान सब लोकालोकको जान गया, बस जान लिया जो कुछ था। जब एक बार जान लिया तो अब दूसरे समयमें क्या कर रहे हैं, सो बतलावो ? वह तो सबको जान गया। तो भाई समाधान यह है कि समानताकी दृष्टिसे दूसरे समयमें भी यह ही कार्य कर रहे, तीसरे समयमें भी वही कार्य कर रहे मायने वही-वही सर्वका ज्ञान चल रहा, याने जैसा जाना वैसा ही जाननेका काम अगले समयमें भी है। तीनों लोकालोकको जाननेका चौथे समयमें भी काम है, ऐसा अनन्तकाल तक, अनन्त समयों तक लोकालोकको जाननेका काम करते रहेंगे।

अब यहाँ देखो कि वे परिणमन सब न्यारे-न्यारे भिन्न-भिन्न हैं। पहले समयमें पहली शक्तिसे जाना, दूसरे समयमें अन्य शक्तिसे जाना। उसका परिणमन बराबर हो रहा है, पर समान होनेसे विदित नहीं होता। तो कुछ अनोखा काम कर रहे हैं क्या ? जैसे गैसबत्ती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जल रही हो, अब कोई पूछे कि भाई जो पहले मिनटमें गैसने काम किया था कि यहाँकी सब चीजें प्रकाशित हो जायें, सो यह काम तो कर दिया। अब गैस क्या नया काम कर रहा है ? तो भाई यह ही काम नया फिर कर रहा, प्रकाशित करनेका ही नया काम फिर कर रहा। यदि ये नये-नये काम न हों, जो किया काम वहीका वही हुआ हो तो फिर गैसबत्तीका तेल क्यों खत्म हो जाता ? नई-नई बूँदसे प्रकाशमान हो रहा, और पर-अपेक्षासे परपदार्थोंको प्रकाशित कर रहा, यह तो एक विकारी पदार्थको दृष्टान्तमें लिया। दृष्टान्त एक देश होता है। ऐसे ही सिद्धभगवान जो अत्यन्त पवित्र हैं, कर्मसे मुक्त हैं, वे जो काम अब कर रहे सो काम आगे करेंगे तो वह नया-नया ही काम है, अपूर्व अपूर्व काम है, पहलेका जानना पहले समय की अवस्था थी। इस समयका जानना इस समयकी अवस्था है। कोई भी पदार्थ पर्याय बिना नहीं रहता। अब स्याद्वाद शासनका जिन्होंने आश्रय नहीं लिया और उन्हें कोई चीज अच्छी सी जंची बस उसी एकान्तमें बढ़ गए तो अन्य अपेक्षा छूट जाती है। जैसे यहाँ जिस किसी भी मनुष्यका परिचय है तो खाली एक बातके परिचयसे ही परिचय नहीं है। जैसे कोई जानता है कि यह अमुक लल्लूके पिता हैं तो क्या इतना ही मात्र समझकर उसका परिचय बन पायेगा ? कहाँके रहने वाले, कहाँ घर है, क्या करते हैं, ये औरके क्या लगते हैं आदि सारी बातें जब जानकारीमें हैं तो उसका परिचय है पूरा। तो ऐसे ही वस्तुमें अनेक दृष्टियोंसे जो कुछ धर्म बनता है, भाव बनता है उन सबका परिचय हो तो परिचय है पूरा।

त्रिसंयोगी भावके अपुनरुक्त दस सान्निपातिक भाव—यहाँ जीवके स्वतत्त्वमें ५ भावों द्वारा परिचय कराया था कि जीवमें औपशमिक भाव है, क्षायिक भाव है आदिक। वे अलग-अलग परिचय थे, लेकिन इतने मात्रसे परिचय पूरा नहीं बनता अथवा जिसको पूरा परिचय है वह इस दृष्टिका भी परिचय रखता है। तो उसका परिचय सान्निपातिक भावोंमें बताया जा रहा है। तो दो दो भावोंको जोड़ जोड़कर तो बने १० भाव और तीन तीन जोड़े जायें तो कितने हों, इसको समझ लीजिए। अगर यह विषय कठिन लगे तो खाने की चीज दृष्टान्त में ले लो। अगर ५ चीजें रखी हैं और दो दो चीजें मिलाकर खायें तो आप १० तरहसे तो खा सकेंगे। और तीन तीन मिलाकर खायें तो १० प्रकार होंगे। जैसे भावोंमें घटा लीजिए—५ भाव हैं— (१) औदयिक औपशमिक, क्षायिक। (२) औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक, (३) औदयिक औपशमिक पारिणामिक। यों औदयिकके साथ मिलानेसे तीन भेद बने। अब द्वितीय त्रिभाव संयोगके लिये औपशमिकको छोड़कर औदयिक क्षायिकको लेकर क्षायोपशमिक व पारिणामिकमें से एक एकको लगा दो २ भंग होंगे—(४) औदयिक क्षायिक क्षायोपशमिक (५) औदयिक क्षायिक पारिणामिक। अब तृतीय त्रिभावसंयोगका एक भंग रहा—(६) औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक। अब चतुर्थ त्रिभावसंयोगमें औदयिकको छोड़कर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

औपशमिक आदि चार भावोंमें से एक एक छोड़नेसे ४ भंग होंगे– (७) औपशमिकक्षायिक क्षायोपशमिक, (८) औपशमिक क्षायिक पारिणामिक, (९) औपशमिक क्षायोपशमिक पारिणामिक, (१०) क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक। यों तीन भावोंके संयोगसे अपुनरुक्त १० सान्निपातिक भाव हुए। इनके उदाहरण जीव विशेषणके साथ लगा लें। जैसे—(१) औदयिकौपशमिकक्षायिक–मनुष्य उपशांतमोह क्षायिक सम्यग्दृष्टि। (२) औदयिकौपशमिक क्षायोपशमिक––मनुष्य उपशांतकषाय अवधिज्ञानी। (३) औदयिकौपशमिक पारिणामिक––मनुष्य उपशांतमोह जीव। (४) औदयिक क्षायिक क्षायोपशमिक–मनुष्य क्षीणकषाय मनःपर्ययज्ञानी। (५) औदयिकक्षायिक पारिणामिक मनुष्य क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव। (६) औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक मनुष्य श्रुतज्ञानी जीव। (७) औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक उपशान्त कषाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि काययोगी। (८) औपशमिक क्षायिक पारिणामिक––उपशान्तकषाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि भव्य। (९) औपशमिकक्षायोपशमिक पारिणामिक—उपशमसम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी जीव। (१०) क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक–क्षायिक सम्यग्दृष्टि पञ्चेन्द्रिय भव्य। यों त्रिसंयोगी सान्निपातिक भावके अपुनरुक्त १० भंग होते हैं। किसी भी जीवको दृष्टांतमें लो कि यह जीव क्या है ? अगर एक मक्खी बैठी है और उसका परिचय करना है तो इन शब्दों में कहे कोई कि यह चतुरिन्द्रिय तिर्यञ्च जीव है, तो इतना कहनेमें तीन भाव आ गए—क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक।

जीवके पञ्च स्वतत्त्वोंके परिचयसे उपादेय शिक्षा—यहाँ जो भावोंका इतना विस्तृत वर्णन किया जा रहा है उससे यह समझ बनाना है कि जितने भी औदयिक भाव हैं उन भावोंकी दृष्टि रखना हितके लिए नहीं। चीज तो है, मिथ्या नहीं है, किन्तु पारिणामिक है। जो जीवत्व भाव है वह सहज परमार्थ है उसका आश्रय लेना है, क्योंकि जगतमें हम आपके इस अन्तस्तत्त्वके अलावा कुछ भी शरण नहीं है। कहीं घूम आये, किसीको ही मान लें, किसीकी शरण गह लें, आखिर शरण कहीं न मिलेगा। स्वयं थक जायेंगे। कोई धोखा न दे तो स्वयं थकेंगे। कोई धोखा देगा। तो आखिर इसी नतीजेपर आना होगा कि मेरेमें जो मेरा सहज स्वरूप है बस उसकी उपासना, उसको दृष्टिमें लेना, उसमें ही यह मैं हूँ, पूरा हूं, मेरे करनेको कुछ काम नहीं पड़ा, कृतार्थ हूं, जो हूं सो हूं। ऐसी दृढ़ताके साथ अपने आपमें अनादि अनन्त सहज बसे हुए इस चैतन्यप्रकाशमें जो यह मैं हूं, ऐसा अनुभव करे वह अमीर है, विजय पायगा, संकटोंसे मुक्त होगा और इसको छोड़कर अन्य-अन्य रूपमें यह मैं हूं ऐसा अनुभव करेगा तो वह संसारमें रुलेगा। मैं मनुष्य हूं, व्रती हूं, त्यागी हूं, जैन हूं, धर्मात्मा हूं, पूजा करने वाला हूं, परिवार वाला हूं—आदिक किसी भी रूपमें कोई अनुभव करे तो उसकी पर्यायदृष्टि है। वह संसारमें जन्म-मरण करेगा, वह जन्म-मरणसे नहीं छूट सकता। इस कारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पर्याय मात्रसे दृष्टि हटाकर अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमें 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव करना यह ही निष्कर्ष निकालना है भावोंके परिचयसे।

आत्मज्ञान बिना संकटमुक्तिकी असंभवता—जीवका स्वरूप क्या है, यह ज्ञानमें आये बिना धर्म न होगा, शान्ति न मिलेगी, कर्म न कटेंगे, इस कारण हर सम्भव प्रयत्न करके इसकी जानकारी कर ही लेनी चाहिए कि मेरा वास्तवमें स्वरूप क्या है ? जीव सुख ही तो चाहता है, शान्ति ही तो चाहता है। शान्ति आत्मज्ञान बिना नहीं मिल सकती, यह बात ध्रुव सत्य है। किसी भी बाहरी पदार्थपर, धन वैभवपर या लौकिक आचरणपर दृष्टि रख-रखकर कोई चाहे कि समता आये, धीरता आये, शान्ति आये तो ये कभी नहीं आ सकते। एक आत्मज्ञान नहीं तो सब बेकार है। और एक आत्मज्ञान है तो जितना भी जो कुछ करते बने वह भी मददगार बनेगा। तो आत्माका स्वरूप निश्चयसे जो पारिणामिक भाव है, जीवत्व भाव है, चैतन्यस्वरूप है। जीव है वह ज्ञानमात्र है, ज्ञानका ही उसमें परिणमन है, ज्ञानका ही उसमें भोगना है। सर्व कुछ वैभव जीवका ज्ञान है। अपने वैभवपर दृष्टि न जाय और यहाँ वहाँ ही दृष्टि डाले तो इसमें जीवका कल्याण नहीं हो पाता। मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसा अनुभव बनना ही चाहिए, और वह बन सकेगा तो विधि निषेध दोनोंके उपायोंसे। निषेधमें तो यह चाहिये कि यह मैं नहीं हूं, यह मेरा सहज स्वरूप नहीं है, और विधिमें यह चाहिये कि यह चैतन्यस्वरूप मेरा वास्तविक स्वरूप है।

जैसे चावल शोधते हैं तो वहाँ हमको दो बातें ज्ञानमें होनी ही चाहिएँ कि यह तो चावल है और यह सब गैर है, अचावल है, कूड़ा-करकट है, तब ही तो कूड़ा-करकटका त्याग कर चावलका ग्रहण करना बनेगा। ऐसे ही जीवके बारेमें यह भाव तो मेरा सहज स्वभाव है, स्वरूप है और यह भाव मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा ज्ञान तो करना ही चाहिए ना। ऐसा ज्ञान किए बिना आत्मपरिचय नहीं होता, आत्मानुभव नहीं होता।

औपशमिक क्षायिक भाव जैसे निर्मल पर्यायोंसे विलक्षण आत्मस्वभावका दर्शन—अब विचारो कि जो मेरे द्रव्यसे बाहरकी चीज है, बाहरी पदार्थ हैं—धन, मकान, वैभव आदिक, उससे भेदविज्ञानके लिए क्या माथा रगड़ना ? वह तो प्रकट भिन्न चीज है, स्पष्ट पर है। जो कोई स्पष्ट परपदार्थमें मोह करे उसका तो अत्यन्त व्यामोह समझिये। भेदविज्ञान तो करना है खुदके भावोंमें, खुदके परिणामोंमें। यह परिणाम तो मेरा स्वरूप नहीं है, स्व-भाव नहीं है, और यह परिणाम मेरा स्वभाव है– यह ज्ञान करना है। तो वही ज्ञान भरा है इन ५ तत्त्वोंके परिचयमें, जो जीवके ५ तत्त्व कहे जा रहे—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इन ५ भावोंमें जीवका स्वरूप क्या है वास्तवमें ? तो देखो—औपशमिक भाव किसे कहते कि कर्म अगर दब जाय, कर्म उदय और उदीरणामें न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आये, ऐसी स्थितिमें जो थोड़ी देरको आत्मामें निर्मलता जगती है उसका नाम है औपशमिक भाव। तो अब सोचिये कि कर्म दब जाय और ऐसी स्थितिमें आत्मामें जो थोड़ी विशुद्धि बनती है, ऐसा निर्मल परिणाम होता है, इस ढंगसे निर्मलता आना क्या जीवका स्वरूप है ? स्वरूप नहीं है, क्योंकि स्वरूप अमिट होता है और ये कर्म जब तक दबे हैं तब तक परिणाम निर्मल हैं और कर्म उखड़ा कि परिणाम मलिन हो गए। तो इस प्रकारके उपशम वाली विशुद्धि जीवका स्वरूप नहीं है। यही बात तो सीखनी है जीवके ५ तत्त्वोंके परिचयसे। जीव का स्वरूप तो नहीं, मगर जीवका परिणमन है और वह परिणमन भी सद्‌भूत है। असद्‌भूत भी नहीं, विकारी भी नहीं, मगर वह उपचरित सद्‌भूत है, जीवका स्वरूप नहीं, वह एक अधूरा विकास है। इसी प्रकार क्षायिक भाव, जैसे भगवानके केवलज्ञान होना, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक वीर्य आदिक जो क्षायिक भाव हैं ये कैसे हुए कि कर्मका विनाश होनेसे, क्षय होनेसे निर्मलता प्रकट हुई, इस निर्मलतामें यह डर नहीं है कि यह निर्मलता कभी मिट जायगी, क्योंकि कर्मके क्षयसे निर्मलता हुई है, कर्मके दबनेसे नहीं है। दबी हुई चीज तो उखड़ जायगी, पर जिसका सफाया ही हो गया, क्षय हो चुका, फिर वह कहाँसे आयेगा ? तो क्षायिक भाव ये निर्मल परिणाम हैं, मगर जीवके स्वरूप नहीं। स्वरूपके परिणमन हैं, स्वाभाविक परिणमन हैं और कर्मके क्षयका निमित्त पाकर हुए, ऐसी दृष्टि करनेसे नैमित्तिक परिणमन है। तो आत्मामें जो विकास है केवल ज्ञानादिक ये समय समयकी पर्यायें हैं। पर्याय जीवका स्वरूप नहीं कहला सकता ? है स्वरूपमें, क्योंकि पर्यायरहित द्रव्य नहीं होता। मगर जीव तो सदा काल एक समान एक रहे वह तत्त्व स्वभाव है, तो क्षायिक भाव भी पारिणामिक भावसे विलक्षण भाव है।

क्षायोपशमिक औदयिक भावसे विलक्षण आत्मस्वभावका दर्शन—तीसरा भाव कहा गया क्षायोपशमिक। यह भाव होता है कर्मका कुछ उपशम हो, कुछ उदयाभावी क्षय हो, कुछ उदय हो तो यह परिणाम एक मिश्र परिणाम है। कुछ मलिनता है, कुछ विकास है, ऐसा परिणाम है। जैसे हम आप लोगोंके जो ज्ञान जग रहे हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक जानकारियाँ बनती हैं, आँखोंसे देखते हैं, इन्द्रियसे जानते हैं, जानता आत्मा ही है, मगर ऐसा जो जानना है यह जानना शुद्ध तो है नहीं, अधूरा है, उल्टा है और सापेक्ष है, और ऐसा भी नहीं कि यह उल्टा रूप हो, जाननेका ही छोटा विकास है तो ऐसा जानना यह क्षायोपशमिक भाव है। क्षायोपशमिक भाव क्या मेरा स्वभाव है ? इसपर चिन्तन करें, यह भाव मेरा स्वभाव नहीं। आत्माका स्वभाव तो अनादि अनन्त अहेतुक याने अकारण सहज निरन्तर रहने वाला चैतन्यप्रकाश है, चैतन्यस्वभाव है। तो क्षायोपशमिक भाव भी मैं नहीं। चौथा भाव है औदयिक। औदयिक भाव किसे कहते ? जो कर्मका उदय आनेपर बने सो औदयिक भाव।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय जगी तो यों जग गई क्या ? जीवका स्वभाव है क्या कि कषाय करता रहे ? जीवका स्वभाव तो भगवानकी तरह है। जैसा प्रभुका स्वभाव वैसा हमारा स्वभाव। मम स्वरूप है सिद्ध समान। तो हमारा स्वभाव तो नहीं है कि कषाय बन जाय, मगर बन क्यों रही कषाय ? कषाय कहीं लकड़ी पत्थरमें तो नहीं बनती ? यह तो जीवमें बन रही। तो यह बन रही है उस जातिके कर्मका उदय होनेपर। तो वह कषायमें जो मलिनता है, ऐसी मलिनता कर्ममें दिखती है और कर्मकी वह मलिनता इस आत्मामें प्रतिफलित हुई।

जैसे दर्पणके सामने कोई काला, नीला कपड़ा रखा हो और दर्पणमें काला, नीला प्रतिबिम्ब होता है तो वह तो दर्पणका परिणमन है, मगर क्या दर्पणका स्वरूप है ? स्वरूप तो नहीं है, पर हुआ कैसे ? तो काला, नीला आदिक जो सामने वस्तु है उस वस्तुका सन्निधान पाकर यह प्रतिबिम्बित हुआ, ऐसा ही वह कपड़ा है जैसा कि यह प्रतिबिम्ब है, ऐसे ही हम आपमें जो कषायें जगती हैं, जिस ढंगकी मलिनता है ऐसी ही मलिनता कर्ममें भी है। जो क्रोधकर्म, मानकर्म आदिक प्रकृतियाँ हैं उनमें भी मलिनता है। वह फूटा, अनुभाग आया और उस उपयोगमें वह प्रतिफलन हुआ, यहाँ मलिनता जगी। तो ऐसी जो कषाय होती है क्या यह कषाय जीवका स्वरूप है ? स्वरूप तो नहीं है। तो जीवका स्वरूप क्या है ? तो बताया है कि जो पारिणामिक भावमें जीवत्व भाव है वह जीवका स्वरूप है। बस पारिणामिक भावरूप चैतन्यस्वभावको मैं हूं ऐसा मानना और अन्य भावोंको ये औदयिक हैं, औपशमिक हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा मानना यह प्रयोजन है जीवके भावोंका परिचय करानेका। वही एक प्रसंगमें चर्चा चल रही है कि जीवके औपशमिक आदिक ये ५ भाव हैं, स्वतंत्र स्वतंत्र, अलग-अलग बताये हुए हैं, पर ये मिल जायें तो ऐसा सान्निपातिक भाव भी तो होता है। जैसे दो-दो भाव मिलकर १० भेद हुए थे, तीन-तीन भावके मिलकर १० भेद हुए थे, ऐसे ही और प्रकार भी हैं।

चतुर्भावसंयोगी पांच सान्निपातिक भाव तथा पञ्चभावसंयोगी एक सान्निपातिक भाव—चार भाव मिलकर सान्निपातिक भाव होंगे तो वे कितने होंगे ? वे ५ होंगे। यों अंदाज लगाओ कि कोई ५ चीजें रखी हैं—एक, दो, तीन, चार पाँच, उसके नम्बर मान लीजिए, अब चार-चारका संयोग बनाया तो एक छोड़ेंगे, कोई चार लेंगे, फिर दूसरा एक छोड़ेंगे, फिर शेष चार लिए जायेंगे, इस तरह ५ भेद बनते हैं। कोई भी ५ चीजें हों, चार-चारका संयोग बनायें तो उसके ५ रूपक बनेंगे। जैसे कोई खानेकी ५ चीजें हों, मानो नमक, मिर्च, खटाई, धनिया और जीरा। अब इनको चार-चारका मेल बनाया तो ५ तरहके भेद बन जायेंगे। एक-एक चीज छोड़ते जाइये, शेष चार लेते जाइये। तो ऐसे ही जो जीवके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

५ तत्त्व हैं— औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इनमें चार चीजें लीजिए। जैसे पहले चार लीजिए— औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक। सो कोई जीवका विशेषण बनाये कि यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशान्तकषाय अवधिज्ञानी मनुष्य है, तो इसमें चार चीजें बता दिया। क्षायिक सम्यग्दृष्टि—यह तो हुआ क्षायिक भाव, ११वें गुणस्थान वाला यह हुआ औपशमिकभाव, मनुष्य हुआ औदयिक, अवधिज्ञानी, यह हुआ क्षायोपशमिक। इसमें पारिणामिकको छोड़ दिया।

अब जैसे कहा कि यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी मनुष्य भव्य हैं तो इसमें चार भाव आ गए क्रमसे। क्षायिक सम्यग्दृष्टि, यह तो है क्षायिकभाव, अवधिज्ञानी क्षायोपशमिक और मनुष्य यह हुआ औदयिक और भव्य है, यह हुआ पारिणामिक। ऐसे ही क्षायिक छोड़ कर क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक और औपशमिक, इनका भाव लगा लें तो जीवका वैसा परिचय बन गया। यह अवधिज्ञानी मनुष्य भव्य उपशम सम्यग्दृष्टि है। ये ४–४ भाव बना करके ५ प्रकारके सान्निपातिक भाव होते हैं और पांचोंको मिलाया जाय, ऐसा विशेषण बनाया जाय तो वे ५ मिलकर एक भाव होते हैं। जैसे कहा कि यह मनुष्य ११वें गुणस्थान वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय जीव है तो पाँचों ही भावोंका एक-एक विशेषण बन गया। ऐसे सान्निपातिक भाव होते हैं। ये सब सान्निपातिक होते तो हैं, मगर आद्यसूत्रोक्त इन पाँचों भावोंसे अलग नहीं हैं, संयोग बनाकर ही बताये गए हैं। इस कारणसे सूत्रमें छठा भाव नहीं लिया गया और ऐसा तो संयोग लगाकर अनेक प्रकारके भाव बताये जा सकते हैं। तो इन इकहरे भावोंसे जीवका परिचय करें, मिले हुए भावोंसे जीवका परिचय करें और वहाँ भेद-विज्ञान करते जायें कि जीवका स्वरूप तो यह है, मैं शुद्ध चित्प्रकाश हूँ।

अज्ञानके क्लेशका सहज ज्ञानस्वभावके ज्ञानसे विनाशकी संभवता—अज्ञानका कितना दुःख लदा है जीवोंपर ? यों कहो कि दुःख है तो मात्र अज्ञानका है। अज्ञानके सिवाय और कोई दुःखकी चीज नहीं। जितने भी दुःख जीवोंपर आते हैं उनमें कोई प्रकारका अज्ञान भरा है उससे दुःख हो रहा है। अन्यथा दुःख कुछ नहीं। एक लखपति मनुष्य है और उसका एक हजार रुपया घट गया, ९९ हजार रह गया, अब वह यह महसूस करता है कि मैं लखपति मिट गया, उसकी उस एक हजार रुपयेपर दृष्टि है जो घट गया। उससे वह दुःखी रहता है। और एक मनुष्य जो खोम्चा फेरकर ही अपना बसर करता था, उसके पास किसी प्रकार एक हजार रुपया जुड़ गया तो वह बड़ा चैन मानता और बड़े सुखमें रह रहा है। क्या हो गया ? उसकी दृष्टि यह हो गई कि मैं पहलेसे १०० गुना अधिक बढ़ गया हूं। तो खोटे ज्ञानने ही उस लखपतिको दुःखी कर दिया, जिसके पास अभी ९९ हजारका धन है और वह खोम्चा फेरने वाला गरीब सुख मान रहा। ऐसे ही हम अपनी सब घटनाओं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पर दृष्टिपात करें तो जैसा हम ज्ञान बनाते हैं वैसा सुख अथवा दुःख पाते हैं। सुख दुःख पाने का आधार हमारी ज्ञानकला है, न कि बाहरी चीजका मिलना। गरीब लोग रोज मजदूरी करते और खूब रातभर अच्छी तरह सोते और किसी प्रकारकी तकलीफ और सर्द नहीं मानते। क्या हो गया? उन्होंने अपने चित्तमें तृष्णाका भाव नहीं रखा और बड़े-बड़े धनिक, ऊंचे अधिकारी राष्ट्रपति वगैरा, इनका समाचार मिलता है कि इन्होने आज दो घंटा निद्रा ली, आज इनकी तबियत अच्छी है। जिस दिन दो चार घंटे आरामसे सो लिया उस दिन बड़ी गनीमत मानते हैं, तो यह फर्क किस बातका है? ज्ञानके चक्रका। तो जो मूल पुर्जा है जिससे कि हमारी यह जीवन यात्रा चल रही है उसे यदि हम सुधार लें तो हमारी यात्रा सफल हो जायगी। वह है ज्ञानस्वभावका परिचय। मैं ज्ञानमात्र हूं, अमूर्त हूं, ज्ञान ज्ञान मेरा स्वरूप है, मुझमें किसी परका प्रवेश हो ही नहीं सकता। मैं तो आकाशकी तरह अमूर्त पदार्थ हूं। जैसे आकाशमें रंग नहीं, स्पर्श नहीं, रस नहीं, पकड़ा नहीं जा सकता, ऐसे ही इस मुझ चैतन्यमात्र आत्मामें रूप, रस आदिक नहीं हैं, अमूर्त है, इसमें किसी दूसरी चीजका प्रवेश नहीं है, मगर यह जीव है, चेतन है, इसमें कला है कि यह जानता रहे। अब कर्म उपाधिके संयोगमें यह विकल्प रूपसे जान रहा, बस यह ही जीवपर कष्ट है, इसके अतिरिक्त जीवपर कोई कष्ट नहीं है। तो कष्ट तो यह है कि मैं विकल्प किया करता हूं, हूं तो अन्य समस्त पदार्थोंसे निराला और अपनेमें विकल्प बनाता जाता हूं, यह है मेरे ऊपर विपत्ति। बाहरी और कोई चीज विपत्ति नहीं कहलाती, क्योंकि बाहरी बातें तो मोहके कारण बन रही हैं। मोह करते हैं, दुःख मानते हैं, बाहरमें हम अपनी पोजीशन समझते हैं, कहीं हम कुछ अपना रूपक मानते हैं, बस वह ही दुःखका कारण बन रहा।

अब कोई कहे कि गृहस्थीमें तो नहीं चलता ऐसा, हाँ हाँ नहीं चलता, ऐसा तो अनाकुल भी नहीं होता गृहस्थ। यह तो निराकुल होनेकी बात कही जा रही है और गृहस्थीमें भी जिसके जैसा दृढ़ विशिष्ट ज्ञान है वह उतना धीर और अनाकुल रहता है। एक ही बात काम में आयगी, एक ही बात शरण है हम आपको। वह क्या कि अपना सही निर्णय बने कि मैं मनुष्य नहीं, मैं इस संगका नहीं, पोजीशनका नहीं, मैं ऐसा जाननहार नहीं, मैं ऐसा विकल्प करने वाला नहीं, किन्तु एक विशुद्ध चैतन्य प्रकाशमात्र हूं मैं, ऐसा अपने आपमें निर्णय हो तो काम देगा यह। और इस बातका निर्णय नहीं है तो जगतमें डोलनेसे कुछ फायदा नहीं है। कुछ भी करलें, कैसा ही हो लें, होता भी नहीं है। जगतका समागम पुण्य पापके अनुसार चलता है, विकल्प करनेसे दुःख मानता है यह जीव, तो अविकार जो ज्ञानस्वरूप है, जिसको परमपारिणामिक भाव कहते, तन्मात्र अपनेको समझे तो जीवका उद्धार होगा और एक अपने इस स्वरूपको न समझ पाया तो उद्धारका मार्ग नहीं मिलता। तो स्वरूपको परम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पारिणामिक क्यों कहते हैं कि पारिणामिक भाव हैं तीन—(१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व। और जीवत्वके दो भेद करें तो हो गए चार—शुद्ध जीवत्व, अशुद्ध जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। तो सब पारिणामिक भावोंसे ऊँचा परम यह शुद्ध जीवत्व है, इसलिए अन्य पारिणामिक भावोंको ग्रहण न किया जाय, इसके लिए परम शब्द और लगाया जाता है। तो ऐसा यह मैं एक चैतन्य प्रकाशमात्र हूं।

जीव स्वतत्त्वोंके परिचयका प्रयोजन स्वानुभवका उद्यम—देखो जब कष्ट आता हो तो उससे बचनेका उपाय क्या है ? कष्टपर दृष्टि देना कष्ट मिटानेका उपाय है क्या ? यह उपाय नहीं है, किन्तु कष्टरहित जो जीवका स्वरूप है चैतन्यमात्र उसपर दृष्टि देना यह है मेरा स्वरूप। यह उपाय है क्या कष्टसे अलग होनेका ? जैसे खूनका दाग खूनसे नहीं धुलता ऐसे ही रागद्वेष मोहजन्य संकट रागद्वेष मोहसे दूर नहीं हो सकता। उसके लिए तो विशुद्ध ज्ञानजल चाहिए और यह ज्ञान बड़ी आसानीसे बार-बारकी भावनासे प्राप्त हो सकता है। अपनेको इस तरह देखें कि मैं शुद्ध ज्ञानमात्र हूं, केवल जाननमात्र। जाननमें राग नहीं होता, जाननमें द्वेष नहीं, कलंक नहीं, विकार नहीं। जैसे पानीमें तो स्वच्छता ही है। अगर गंदा है पानी तो वह पानीके स्वरूपके कारण गंदा नहीं है, किन्तु कीचड़का संयोग, कायीका संयोग, घासका संयोग, पत्ते पड़ गए, उसका संयोग, उससे मलिनता है, पर मलिनता जलमें जलके कारण नहीं होती, ऐसे ही मुझ आत्मामें मलिनता मेरे ज्ञानके कारण नहीं होती, ज्ञानका काम तो विशुद्ध जाननहार रहना है, पर मलिनता जो आयी है वह कषायके सम्बन्धसे, कर्मानुभागके प्रतिफलनसे मलिनता बनी है। सो है तो मलिनता और की, मगर भोगना पड़ रहा ज्ञानको। और कोई कैसे भोगे ? अचेतन हैं। तो जैसे दुष्टका संयोग मिलनेपर दुःखी कौन होगा, दुष्ट या सज्जन ? सज्जन दुःखी होगा। दुष्ट तो इठलायेगा, अपनेको मौज मानेगा, ऐसे ही इस कर्मप्रपंचमें, इस अज्ञान वातावरणमें जो कुछ मलिनता बनती है वह मलिनता मुझ आत्माके माथे ही लद गई है। इससे अपनेको अपने आपपर करुणा करनेकी आवश्यकता हुई है। दया करें अपने आपपर। ये सब कुछ मैं नहीं हूं। मैं तो विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं, सर्वविशुद्ध ज्ञानमात्र हूं, केवल ज्योति ज्योति, ज्ञातप्रकाश, ऐसा बराबर अपनेको अनुभव करें तो अनुभव बनेगा और उस समय जो एक विशुद्ध अनाकुलता अनुभवमें आयगी, उससे और दृढ़ श्रद्धा बनेगी कि ओह यह ही मैं हूं और इस ही स्वरूपमें मेरा हित है, कल्याण है और यह ही सर्वस्व शरण है मुझको। यह बात समझनेके लिए जीवके इन ५ तत्त्वोंका वर्णन इन सूत्रोंमें किया गया है।

औदयिक भावके साथ औदयिक आदि एक एक लगानेसे द्विसंयोगी ५ भंग—जीवके जो ५ जातिके भाव कहे गए हैं उनमें एक-एक जातिके भावोंका, एक-एक भेद लेकर २६ प्रकारके सान्निपातिक भाव कहे गए थे। उनमें किसी जातिके दो भेद नहीं लिए गए। अब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यदि एक जातिके दो भेद लेकर सान्निपातिक भाव कहा जाय तो एक ही जातिके दो भेद बनाकर और शेष जातिके एक-एक भेद लेकर जो जीवकी पहिचानके लिए विशेषण बनेंगे वे ३६ प्रकारके सान्निपातिक भाव होंगे। जैसे औदयिक भावके दो भेद लिए जायें और शेष भावका एक-एक ही भेद लिया जाय तो ऐसे भंग ५ होते हैं। जैसे औदयिक औदयिक सान्निपातिक भाव। किसीने कहा—मनुष्य क्रोधी, तो यहाँ मनुष्य औदयिक है और क्रोधी भी औदयिक है। दूसरा भाव है औदयिक औपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा जाय कि शान्त क्रोध वाला मनुष्य तो यह शांत क्रोध वाला यह तो है औपशमिक भाव और मनुष्य है औदयिक भाव, क्योंकि मनुष्यगतिके उदयसे मनुष्य होता है। तीसरा भंग है औदयिक क्षायिक सान्निपातिक भाव। जैसे किसी जीवका परिचय कराया जाय कि क्षीणकषाय मनुष्य अर्थात् १२वें गुणस्थानवर्ती मनुष्य। तो यहाँ क्षीण कषाय तो है क्षायिक भाव और मनुष्य है औदयिक भाव। चौथा भंग है औदयिक, क्षायोपशमिक। जैसे मतिज्ञानी क्रोधी जीवका परिचय कराया जाय तो यहाँ मतिज्ञानी तो है क्षायोपशमिक और क्रोधी है औदयिक, क्योंकि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मतिज्ञान होता है और क्रोध कषायके उदयसे क्रोध होता है। ५वां भंग है औदयिक, पारिणामिक सान्निपातिक। जैसे कहा भव्य मनुष्य तो यहाँ भव्य तो है पारिणामिक भाव और मनुष्य है औदयिक भाव। इन दोनों भावोंका यहां सान्निपातिक कहा गया है।

औपशमिक भावके साथ औपशमिक आदि पांच भावोंमें से एक एक जोड़नेसे द्विसंयोगी पांच भंग—अब औपशमिकके साथ औपशमिक आदिके एक जातिके भेदके विशेषण से जीवका परिचय कराया जाय तो उसके भी ५ भंग होंगे। जैसे इसमें प्रथम भंग है औपशमिक औपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा गया उपशान्त कषाय। उपशम सम्यग्दृष्टि तो यहाँ उपशान्त कषाय तो है औपशमिक भाव। वह चारित्र मोहनीयके उपशमसे होता है और उपशम सम्यक्त्वका औपशमिक है वह सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियोंके उपशमसे हुआ है। दूसरा भङ्ग है औपशमिक औदयिक सान्निपातिक भाव। जैसे यहाँ परिचय कराया जाय कि यह उपशान्त कषाय मनुष्य है तो उपशान्त कषाय तो औपशमिक भाव हुआ, क्योंकि चारित्र मोहके उपशमसे हुआ है और मनुष्य औदयिक भाव है। तीसरा भंग है औपशमिक क्षायिक-सान्निपातिक भाव। जैसे कहा—उपशान्तकषाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो यहां उपशान्त कषाय तो है औपशमिक भाव और क्षायिक सम्यग्दृष्टि है क्षायिक भाव। चौथा भंग है औपशमिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा— उपशान्त कषाय अवधिज्ञानी जीव तो यहां उपशान्त कषाय तो है औपशमिकभाव और अवधिज्ञानी है क्षायोपशमिक भाव। ५वां भंग है औपशमिक पारिणामिक सान्निपातिकभाव। जैसे कहा—उपशान्त सम्यग्दृष्टि जीव। तो जीव, यह तो

http://sahjanandvarnishastra.org/

है पारिणामिक भाव और उपशमसम्यक्त्व यह है औपशमिक भाव।

क्षायिक भावके साथ क्षायिक आदि ५ भावोंमें से एक एक भावको जोड़नेसे द्विसंयोगी पांच भंग—अब दो क्षायिकभावके साथ क्षायिक आदि पांचोंमें से एक एकका सन्निपात करके जीवका परिचय कराया जाय तो उसके भी ५ भंग होते हैं। जैसे कहा– क्षायक क्षायिक सान्निपातिक भाव। तो इसमें एक परिचय मिलता है, जैसे कि क्षीणकषाय क्षायिक सम्यग्दृष्टि ये दोनों ही क्षायिक भाव है। दूसरा भंग है क्षायिक औदयिक सान्निपातिक भाव। जैसे परिचय दिया—क्षीणकषाय मनुष्य तो यहां क्षीणकषाय तो हुआ क्षायिक भाव क्योंकि चारित्र मोहके क्षयसे यह गुणस्थान हुआ। और मनुष्य है औदयिक भाव। तीसरा भंग है क्षायक औपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे परिचय किया कि उपशान्त वेद क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो उपशान्त वेद तो औपशमिकभाव है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षायिक भाव है। चौथा भंग हुआ क्षायिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे ऐसा जीवका परिचय दिया कि जो क्षीण कषाय मतिज्ञानी है तो क्षीणकषाय तो हुआ क्षायिक भाव और मतिज्ञानी है क्षायोपशमिक भाव। इसका ५वाँ भंग है—क्षायिक पारिणामिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा—क्षीणमोह भव्य तो यहां क्षीणमोह तो है क्षायिक भाव और भव्य है पारिणामिक भाव।

क्षायोपशमिक भावके साथ क्षायोपशमिक आदिमें से एक-एकको जोड़नेसे द्विसंयोगी पांच भंग—अब क्षायोपशमिक भावके साथ क्षायोपशमिक आदि भावोंमें से एक-एकका सन्निपात करके भाव बनायें तो उसके भी ५ भंग होते हैं—जैसे पहला भंग हुआ क्षायोपशमिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे यह अवधिज्ञानी संयमी है तो संयमी भी क्षायोपशमिक भाव है और अवधिज्ञान भी क्षायोपशमिक भाव है। इसका दूसरा भंग हुआ क्षायोपशमिक औदयिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा—संयमी मनुष्य। तो संयमी तो है क्षायोपशमिक भाव, क्योंकि अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशमसे संयम होता है, और मनुष्य है औदयिक भाव। इसका तीसरा भंग है क्षायोपशमिक औपशमिक सान्निपातिकभाव। जैसे कहा–उपशांत कषाय संयमी तो यहां संयमी तो है क्षायोपशमिक भाव और उपशांत कषाय है औपशमिक भाव। इसका चौथा भग है क्षायोपशमिक क्षायिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा—क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयमसंयमी जीव। तो क्षायिक सम्यक्त्व तो है क्षायिक भाव और संयमासंयम हैं क्षायोपशमिक भाव, क्योंकि अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण इन ८ कषायोंके क्षयोपशमसे संयमासंयम प्रकट होता है। इसका ५वां भंग है क्षायोपशमिक पारिणामिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा—अप्रमत्त संयमासंयमी जीव तो यहां अप्रमत्त संयमासंयमी तो है क्षायोपशमिक भाव है, क्योंकि संज्वलन कषायका मंद उदय होने पर १२ कषायोंका क्षयोपशम होनेपर यह गुणस्थान होता है, और जीव है पारिणामिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भाव।

पारिणामिक भावके साथ पारिणामिक आदि पांच भावोंमें से एक एकको जोड़नेसे द्विसंयोगी पांच भंग—अब पारिणामिकके साथ पारिणामिक आदिसे एक एकके सन्निपातसे भी ५ भंग होते हैं। जैसे किसी जीवका परिचय कराया कि भव्य जीव तो यहाँ भव्य तो है पारिणामिक और जीव भी पारिणामिक तो यह पारिणामिक पारिणामिक नामक सान्निपातिक भाव हुआ। दूसरा भंग है पारिणामिक औदयिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा क्रोधी जीव, तो यहाँ क्रोध तो है औदयिक और जीव है पारिणामिक। तीसरा भंग है पारिणामिक औपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा—उपशान्तकषायभव्य तो यहाँ उपशान्त कषाय तो है औपशमिक भाव और भव्य है पारिणामिक भाव। इसका चौथा भंग है पारिणामिक क्षायिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा—क्षीण कषाय भव्य, तो क्षीण कषाय तो है क्षायिक भाव और भव्य है पारिणामिक भाव। इसका ५वाँ भंग है पारिणामिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक भाव। जैसे कहा—संयमी भव्य तो यहाँ संयमी तो है क्षायोपशमिक भाव और भव्य है पारिणामिक भाव। इस तरह दो दो के सन्निपातसे ये २५ भंग होते हैं।

त्रिसंयोगी चतुसंयोगी पंचसंयोगी पुनरुक्तसंयोगी भावोंको आगमाविरोधसे लगाने पर अनेक भंग— उक्त द्विसंयोगी २५ भेद तीन भावोंके संयोग वाले भंगों सहित हो जायें तो १० मिलकर ३५ भाव हो जाते हैं और पाँचों भावोंका संयोग मिलकर एक भंग बनाया तो ये सब ३६ भेद हो जाते। अभी इन भेदोंमें दो-दो के संयोग वालेमें केवल एक-एक जातिके दो भेद आये। इसी प्रकार अन्य भावोंके साथ भी सजातीय दो-दो भेद किए जायें तो वे भी अनेक भेद हो जाते हैं और तीन भावोंके संयोगमें यदि एक-एक जातिके अनेक भेद लगाये जायें तो और भी भेद हो जाते हैं। सान्निपातिक भावकी कोई सीमा नहीं होती। सीमा तो है, परन्तु अनेक भेद बन जाया करते हैं। जैसे कि अभी ३६ भेद बताये गए हैं, इसमें ४ भावोंके संयोग वाले ५ भंग और मिला दिए जायें तो ये ४१ भंग हो जाते हैं। इसीके साथ यदि अन्य-अन्य भेद भी दो-दो बना दिए जायें तो इसके अनेक भेद हो जाते हैं। इस तरह आगमका विरोध नहीं आया और जीवके जितने भी विशेषण संभव हैं उन सब विशेषताओंके उदाहरणमें लेकर उनके भंग कराये जायें तो ऐसे विकल्प अनेक हो जाया करते हैं। वे सब आगमके अविरोधरूप लगा लेना चाहिए।

शान्तस्वभाव आत्मतत्त्वके आश्रयसे शान्तिकी परिपूर्णता—हम आप सब जगतके जीव यही चाहते हैं कि सुख साता शान्ति रहे। दूसरी बात मंजूर नहीं है और जितने भी प्रयत्न करते हैं इसीलिए करते हैं कि हमको सुख साता, शान्ति आनन्द रहे, मगर गजबकी बात यह है कि वास्तविक शान्तिका स्वभाव रख रहे हैं हम और परद्रव्योंसे सुख शान्तिकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भीख मांगते चले जाते हैं। देखो किसी भी पदार्थका सही स्वरूप जाना जाता है किस विधि से। उस विधिसे अपना स्वरूप जानें। इस जीवका वैभव आप बतलाओ क्या है? सच सच बताओ जो आपका वास्तविक वैभव हो, जो आपके साथ रह सकता हो, जो आपको कभी कष्ट न देवे, जो आपमें भरपूर आनन्द प्रदान करे, जिससे कभी भी आपको धोखा न हो। बस जो आपका सत्य वैभव है उससे प्रीति करें तो आनन्द होगा और जो आपका सत्य वैभव नहीं है उसमें लगाव रखेंगे तो नियमसे कष्ट होगा। जो कुछ मोहवश थोड़ासा मौज मालूम होता है इस मौजका फल बहुत महंगा पड़ेगा। भले ही ये भोग, ये वैभव, ये उपभोग बड़े सस्ते लग रहे हैं आज, लेकिन इसका फल यह होगा कि ये बहुत महंगे पड़ेंगे। वैसे इसी भवमें देख लो, जिस किसी पदार्थसे प्रीति रहती है। रुचि रहती है उस पदार्थके वियोग होने पर कितना बड़ा कष्ट मानते हैं और जब तक वह मिला हुआ है तब तक उसके बारेमें कितनी चिन्ता शल्य विकल्प किया करते हैं। अगर सुख शान्ति साता इन बाहरी असार वैभवोंमें, भोगोंमें होती तो जिनकी आप पूजा करते उन्होंने क्या किया? वैभवको त्यागा और आत्माके सत्यस्वरूपमें अपने ज्ञानको लगाया। इस ही में आनन्द है, ऐसी आपको श्रद्धा है कि नहीं? अगर नहीं है यह श्रद्धा तो यह पूजा करना धोखा है। धोखा दे रहे किसको? अपने आपको। क्यों पूजते? जब यह विश्वास ही नहीं है कि भगवानकी जो स्थिति है वही शान्तिमय है बाकी सब बेकार है, अगर यह श्रद्धा नहीं है तो भगवानको पूजनेका अर्थ क्या? अगर यह अर्थ हो कि धन मिलेगा, वैभव मिलेगा, सुख शान्ति होगी तब तो और उल्टे गए। जिसके पास जो है उसका ध्यान करेंगे तो वही मिलेगा, दूसरा न मिलेगा। प्रभुके पास घर धन वैभव पुत्रादिक कुछ नहीं हैं, वह केवल अपने शुद्ध ज्ञानमें हैं, उनका ध्यान करेंगे तो आपको शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी प्राप्ति होगी और यह ही चाहिए।

समस्त संकटोंसे उद्धार कर परमानन्दधाममें स्थापित करने वाले धर्मका परिचय— देखो सब चाहते हैं, कहते हैं कि धर्म करो, सुख मिलेगा, मगर धर्म क्या चीज है—उसकी बात तो बतलाओ। धर्म वह चीज है जिसका फल तत्काल मिलता हो। सीधासा अर्थ है धर्मका। धर्म करोगे और उस समय आकुलता हो रही हो यह नहीं हो सकता। अगर आकुलता हो रही तो धर्म नहीं कर रहे। जैसे बड़े-बड़े जुलूस उत्सव मनाते और वही व्यग्रतायें करते, लड़ाई भी हो जाय, ठीक निर्णय नहीं होता, कभी-कभी पार्टीबन्दी हो जाती, कहीं कहीं लट्ठ-मारी हो जाती, अनेक दोष हैं। तो दिखावा तो यह है कि धर्म करो, मगर वहाँ निराकुलता है क्या? निराकुलता नहीं। तो धर्म नहीं, फिर धर्म है कहाँ? धर्म देखो—अपना काम, अपनी करतूत, अपना त्याग, अपनी कला सिर्फ ज्ञानपर है। ज्ञान सिवाय हम आप न कुछ करते हैं, न कुछ भोगते हैं, न कुछ हमारा धन है। यह शरीर छूटा तो अगले भवमें यह साथ जायगा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्या ? धन वैभव मकान महल, यहाँके व्यावहारिक क्रिया काण्ड ये कुछ भी इस जीवके साथ न जायेंगे। जीवके साथमें तो जीवका ज्ञान जायगा। उस ज्ञानको निर्मल बनायें यह ही धर्म है। रागद्वेष मोह उत्पन्न न हो, सिर्फ एक ज्ञातादृष्टा रहनेकी अवस्था बनाना सो धर्म है।

व्यवहारधर्मका प्रयोजन निश्चयधर्मकी ओर झुकाव—अब व्यवहारमें गृहस्थ जन देवपूजा, गुरूपासना आदिक षट्कर्म करते। तो जो ज्ञानी गृहस्थ है वह कर तो रहा है देव-पूजा आदिक कर्म, मगर ज्ञान है कैसा, जैसा कि आप लोग पूजामें पढ़ते हो—अस्मिन् ज्वलद्विमल केवल बोध वह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि। सब कुछ करके भी उसकी दृष्टि है निर्मल केवलज्ञान रूपी वैभवमें। जैसे किसीके घरमें किसीका वियोग हो गया तो वह सब कुछ करता है अतिथि सत्कार आदिकके कार्य, पर उसकी दृष्टि है, उसकी धुन है एक उसी जगह, जिसका कि वियोग हुआ। ऐसे ही जिस ज्ञानी पुरुषने अपने आपके आत्माका अन्तःस्वरूप अनुभव कर लिया और उस अनुभवमें एक अलौकिक आनन्द पा लिया तो बस उसकी धुन उस ही ओर है और उसीलिए ये ६ आवश्यक कार्य कर रहे कि हमारा कहीं पापरूप परिणाम न हो, विपरीत बात न आ जाय। हममें ऐसी पात्रता रहे कि हम अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव पा सकें, इसके लिए ये क्रियाकाण्ड हैं, न कि क्रियाकाण्डोंपर दृष्टि रखनेके लिए क्रियाकाण्ड हैं। भगवान महावीर प्रभुने जो उपदेश दिया, उन्हींकी परम्परामें आचार्य संतोंने रहस्य बताया, अपने आपको पहिचाना, ध्यानसे पहिचाना, ज्ञानसे पहिचाना, युक्तिसे पहिचाना, अपने आपमें इस देहमन्दिरमें भगवान आत्मा किस स्वरूपका है, मैं क्या हूं, इसका सही परिचय मिल जायगा तो नियमसे कष्ट दूर होंगे। और एक आत्मतत्त्वका परिचय न मिला तो आप कितने ही काम कर लें, कष्ट दूर नहीं हो सकते। इसमे इस जीवनका ध्येय बनायें कि हमको जीवन मिला है तो आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान और आत्मरमणकी धुन बनानेके लिए एक कोई प्रोग्राम होता है। इस जीवनका ध्येय और कुछ नहीं। कोई भूल जाये, भटक जाये, खराबी लग जाय तो उसे समझायें कि तू गलत काम मत कर, इसके लिए तेरा जीवन नहीं है। तेरा जीवन है अपने आत्मा भगवानकी श्रद्धा करनेके लिए, दृष्टि करनेके लिए और उस ओर लगनेके लिए। यह तो बड़ी विपदा है जो यह कल्पना जगती है कि घर है, स्त्री है, पुत्र है, हमारा इनपर अधिकार है, हम ही करेंगे तब ही होगा आदिक, क्योंकि घरमें लोग हैं, वे स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं क्या ? उनका भाग्य उनके साथ नहीं है क्या ? आपके वे कुछ वास्तवमें हैं क्या ? फिर हृदयमें क्यों वही वही बसे रहते हैं ? यह तो अंधकार है, विपत्ति है, विडम्बना है।

मानव जीवनको परमार्थ मनोरथस्थानमें पहुंचानेमें बुद्धिमानी—एक अपना ज्ञान-स्वरूप भगवान आत्मा जो अनादिसे परिपूर्ण है जिसकी खबर न लेनेसे दर-दर भिखारी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बनना पड़ रहा है। उस भगवान आत्माकी सुध लें तो सारे संकट दूर हो जायेंगे। बाहरी बातोंमें कुछ हिसाब मत लगावें—इतनी सम्पदा थी, इतनी कम हो गई, बड़ा कष्ट है अथवा अमुक हानि हो गई बड़ा कष्ट है। अरे बाह्यमें हमारा है क्या ? परमाणु मात्र भी है क्या इस जीवका ? है तो नहीं, पर कितना अंधेर है कि इन प्रकट भिन्न परपदार्थोंको अपना मानते हैं। इस जीवका अधिकार तो इस अपने पाये हुए देहपर भी नहीं है। बताओ आपका इस देहपर भी कुछ अधिकार है क्या ? अगर अधिकार है तो फिर ये बाल सफ़ेद न होने दो, इसे बूढ़ा न होने दो। इस देहपर भी हमारा कुछ अधिकार नहीं है और विकल्प यह मचाया है कि हमपर गृहस्थीका भार लदा है। सभी लोग अपने अपनेपर भार मान रहे हैं। जिसका जो कुछ है वह उसके भावमें, उसकी योग्यतामें पड़ा हुआ है। आपका दूसरेपर कोई अधिकार नहीं, आपपर किसीका भार नहीं। आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास, यह स्थिति न बनावें। हम आये हैं मनुष्यजीवनमें तो आत्माको पहिचानकर आत्मामें तृप्त होनेका उपाय बनानेके लिए आये हैं। यह पक्का निर्णय हैं फिर मर्जी आपकी। देखो—जैसे किसीके दोनों ओर पास एक ओर रख देवे रत्न और एक ओर रख देवे खलीका टुकड़ा और वह कहे देखो भाई तुम जो टुकड़ा माँगोगे सो दे दिया जायगा और वह माँग लेवे खलीका टुकड़ा तो उसकी बेवकूफी पर क्या किया जाय ? ऐसे ही हम आपके पास इस भावनासे दोनों ही चीजें मिलती हैं— संसार मिलता और मोक्षमार्ग मिलता। कष्ट मिलता, शान्ति आनन्द मिलता। इस ज्ञान से किसी परपदार्थमें प्रीति मोहका यत्न कर डाला तो बस हाजिर है दुःख, जितना चाहे दुःख पूरा मिल जायगा, और सबसे निराले विभक्त एक अंतस्तत्वकी सुध आ जाय, इन्द्रिय व्यापार बंद करके आँखोंसे बाहर कुछ न देखकर कहीं किसीका विकल्प न कर क्षणमात्र एक स्तब्ध रह जाय, स्वयं सहज अपने आपमें एक सहज आनन्दका अनुभव होगा तो किसके द्वारा पाया आपने यह वैभव ? ज्ञानके द्वारा। कोई पराधीनता तो नहीं है। धन होगा तभी धर्म मिलेगा, ऐसी कोई पराधीनता नहीं है या दूसरे आदमी खुश हो जायें तो धर्म कर पायेंगे, हमें ऐसी पराधीनता तो नहीं। कोई अगर रस्सीसे भी कस दे शरीरको और जेलकी साँकलमें भी बाँध दे, तो भी वह पराधीन नहीं। वहाँ भी यह ज्ञान द्वारा अपने आपमें सहज चैतन्यकी दृष्टि करेगा, अलौकिक आनन्द पा लेगा। धर्म किसी की आधीनतासे नहीं है। धर्म तो अपने आप एक ज्ञानदृष्टिसे प्राप्त होता है।

ज्ञानसाधन द्वारा अभीष्टकी सिद्धि—आपके पास एक ज्ञान साधन है तो उस ज्ञान साधन द्वारा चाहें तो संसारके कष्ट पा लें, तैयार हैं और चाहें तो सत्य अलौकिक आनन्द पा ले। बोलो क्या चाहिए ? यदि कोई कहे कि हमें तो ये ही लड़के बच्चे वैभव चाहिएँ तो जैसे खल माँगनेकी बेवकूफी पर तरस आती ऐसे ही अपने आपकी बेवकूफीपर क्यों तरस नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आती ? प्रभुस्वरूपमें और अपने आपके इस स्वरूपमें कोई जातिका अन्तर है क्या ? जैसे गाय और भैंस इनकी जाति जुदी-जुदी है गधा और गाय—दूध गायसे मिलता, गधासे नहीं, तो इनकी जाति जुदी है, ऐसी जुदी जाति है क्या हमारी और भगवान की ? यद्यपि हम बिल्कुल ही अलग पदार्थ हुए और भगवान एक विशिष्ट पदार्थ हुए। चैतन्य जातिकी अपेक्षा देखें तो बात वही की वही है। जैसे एक पत्थर है उसपर कुछ चित्राम कर दिया। कुछ बिना चित्राम का रह गया, कुछका चित्राम विघट गया तो भले ही कहीं चित्राम है, कहीं नहीं है, पर पत्थर तो एक प्रकारका है ना ? ऐसे ही यहाँ कर्मोंका क्षय कर दिया इसलिए परमपवित्र अनन्त आनन्द विकास उनके प्रकट हो गया। वही चीज मैं हूं, लेकिन कर्मकी उपाधि है। भावना दूषित है, विषय कषायसे प्रीति है तो इस समय आत्मवैभव इसका ढक गया, तिरोहित हो गया, अभिभूत हो गया। तो उपाय क्या है कि हममें वह स्थिति प्राप्त हो ? उपाय यह है कि अपने ज्ञानको संभालें। इस ज्ञानको संभालनेके लिए ही व्यवहार धर्म है, यह ध्यानमें रखिये। अगर और और काम करनेका प्रयोजन ज्ञान न रहता तो वह धर्म न होता। धर्म तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं, ये ही हैं, हाथ पैर चलाना, कुछ और काम करना, तपश्चरण करना, अनशन आदिक करना, ये वह धर्मकी पात्रता बनानेके लिए हैं, न कि स्वयं ऐसे ही पूरे धर्म हैं। ध्यानमें लाइये—हम अपने ज्ञानको संभालेंगे तो हम सुख शान्ति प्राप्त कर पायेंगे और ज्ञानकी संभाल तो की जाय नहीं और जैसे बहके हैं दर्शन चारित्रके बाबत ऐसा करो धर्म हो गया, ऐसा करो धर्म हो गया, अरे करें तो सब, मगर यह प्रयोजन समझें कि यह सब कुछ करना भी एक ज्ञानकी साधनाके लिए है। ज्ञानकी साधनाका सम्बन्ध मिटा कि धर्मका वहाँ नाम नहीं है।

ज्ञानकी साधनाका उपाय—ज्ञानकी साधना क्या है ? मैं ज्ञानमात्र हूं ऐसा अनुभव बने, मैं ज्ञानानन्दसे भरपूर हूं ऐसा स्वभावका निरखन बने, मैं किसी पर्यायरूप नहीं हूं, होते हुए भी नहीं हूं, यह दृष्टि रखनी होगी। कहीं यह पर्याय इस जीवके साथ नहीं जाती। यहीं आप देख लो—जब तक आप देहको देखेंगे कि यह मैं हूं, ये हाथ पैर हैं, मेरी यह पोजीशन है, मुझको यह करना चाहिए, बतलाओ आपका दिमाग कहाँ दौड़ गया ? आकुलतामें कि निराकुलतामें ? उपयोग क्या कर रहा ? और थोड़ी देरको यहीं बैठे हुए आंखें बन्द कीजिए, कुछ मत सुनें, कुछ मत विचारें। चिन्तन करें तो एक शुद्ध आत्माका चिन्तन करें और उस का भी इस ढंगसे चिन्तन करें कि अपने स्वभावका, शुद्ध आत्माके विकासका एक सम्बन्ध मालूम पड़े और इतना भी न चिन्तन करिये, इतना चिन्तन करनेके बाद स्तब्ध हो जाइये। विश्राम लीजिए, जिसे कहते हैं कि दिलमें कोई परपदार्थ नहीं आ रहा, उस समय आपको देहका भी भान नहीं, जहां बैठे उस स्थानका भी भान न रहे, मन्दिरमें बैठे तो मन्दिरका भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भान न रहे, यह मैं कितने बजे बैठा—यह भी ध्यान न रहे। बस ध्यानमें यही रहे कि मैं एक शुद्ध चैतन्यप्रकाशमात्र यह हूं, ऐसा क्षण-क्षणमें एक अन्तःप्रकाश जगे तो आप यही अनुभव करेंगे कि हमको निराकुलता हुई, शान्ति मिली। तो यह बात जीवतत्त्वको समझे बिना नहीं हो सकती। इसलिए जीवका परिचय करनेके लिए अधिकाधिक प्रयत्न करना है, समय नहीं खोना है। मनुष्यजीवन एक दुर्लभ जीवन है। तो दुर्लभ है ऐसा गा-गाकर समय न गंवायें, किन्तु उसका उपयोग करें। गृहस्थीमें हैं तो वहाँ दो ही काम करनेके हैं—एक आजीविका और दूसरा धर्मसाधना। आजीविकाके लिए समय जाय तो लगाओ खूब जितना चाहे लगाओ—पर आजीविकाको छोड़कर बाकी जो समय बचे वह समय स्वाध्यायमें जाय। अगर कठिन विषय समझमें नहीं आता है तो सरल विषयका ग्रन्थ ले लो। पढ़ो, घर न बैठो, काम हो तो घर बैठो। बाकी समय दोपहर हो तो क्या, संध्या हो तो क्या, खाली समय है तो जाइये मंदिरमें, स्वाध्याय करने लगो। अगर ज्ञानमें चित्त रहेगा तो पाप घटेंगे, पुण्यरस बढ़ेगा, सत्यप्रकाश मिलेगा। और ज्ञानसाधना की बात न होगी तो मोक्षमार्ग तो न मिलेगा और और पुण्य करके मानो स्वर्गमें भी उत्पन्न हो गए, पर कर्मोंसे मुक्त हुए बिना संकट न टलेंगे। इससे यह आवश्यक है कि जीवके भावोंको पहिचानें। यही बात दूसरे अध्यायमें कही है कि जीवके ५ भाव होते हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। बताया है ना?

सहज स्वतत्त्वकी उपासनामें संकटोद्धारक धर्मका पालन—पंच जीवतत्त्वका वर्णन सुनकर जिसने कुछ विवेक किया वह जिज्ञासु एक प्रश्न कर उठता है कि जीवके स्वतत्त्व ये ५ कैसे हो सकते? स्वतत्त्व तो केवल एक ही होना चाहिए जीवत्वभाव। परमपारिणामिक, चैतन्यस्वरूप ये औपाधिक भाव तो मिट जाते हैं, ये जीवके स्वतत्त्व कैसे? क्षायोपशमिक मिट जाता, औदयिक साक्षात् विकार है, ये जीवके स्वतत्त्व कैसे? उत्तर—भाई विवक्षा समझना चाहिए। जीवके परिणाम औपशमिक, औदयिक होते, आखिर हैं जीवके परिणमन। कहीं खम्भेमें तो ये नहीं हो रहे, पुद्गलमें नहीं हो रहे, इस कारण जीवके स्वतत्त्व हैं। अब उन स्वतत्त्वोंमें भी यह एक ध्यान बनावें कि उपादेय कौनसा स्वतत्त्व है और छूट जाने वाला हेय कौनसा स्वतत्त्व है। हेयकी भी व्याख्या आपेक्षिक है। अंतमें यह ही बात आयगी कि मेरा जो चैतन्यस्वरूप है, उसकी दृष्टि, उसका आलम्बन यह तो है मेरा शरण और इस ही शरण को ग्रहण करनेका फल है औपशमिक भाव बने, क्षायिक भाव बने, उच्च विकास बने। काम एक करना है, धुन एक रखनी है, दृष्टि एक की बनानी है, शरणमें एक हो लाना है। वह क्या? मेरा अपने आप सत्त्वके कारण जो सहजस्वरूप है वह तत्त्व है, उसका ख्याल बनायें। तो परिणाम तो वेगको भी कहेंगे, स्वाभाविकको भी कहेंगे, औदयिकको भी कहेंगे, पर उनमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अच्छा बुरा सब कुछ पहिचानकर, फिर सब पर्यायोंकी अपेक्षा दृष्टि आलम्बन करके एक विशुद्ध स्वभावकी दृष्टि बनाना यह है एक मानवजीवनमें करनेका पौरुष। गुप्त रूपसे करो, जता कर करनेकी बात नहीं, जहाँ बैठे वहीं ध्यान करो, आखिर यह चीज पाना है—आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान, आत्मरमण। बार-बार इस मनको संयत बनाकर बाहरसे हटाकर अपने आपके स्वरूपमें लगावो, उस ओर मुड़िये, अगर इस जीवनमें यह धर्मसाधना कर लिया तो जीवन सफल है और यदि यह धर्मसाधना न बनी तो आगेका न जाने क्या होगा ? अनन्तकाल जैसे व्यतीत हो गया, चौरासी लाख योनियोंमें जैसा भटक गया यह कि वैसी ही बात आगे रहेगी। फायदा क्या हुआ यह मनुष्यजीवन पानेका ? इससे बुद्धिमानी यह है कि इन १०–२०–५० वर्षोंके लिए मिले हुए या मिल सकने वाले समागमोंकी आशा तजकर, इसकी मोह प्रीति छोड़कर जब जैसा बने, सहज बने, एक ध्यानमें लायें अपना परमपावन चैतन्य भगवान अंतस्तत्त्वकी उपासनाको। अरहंत सिद्धकी भक्ति इसीलिए है, साधुजनोंकी सेवा इसी लिए है, बाकी व्यावहारिक क्रियाकाण्ड इसीलिए हैं, एक यह ध्यान लायें, यह अपनी डोर अपने हाथमें रहेगी तो यह उपयोगरूपी पतंग आकाशमें कितनी ही दूर चली जाय पर आपके हाथ है और एक अपने आपकी सुध भूल गए तो डोर आपके हाथसे छूट गई, पतंग यत्र तत्र डोलती रहेगी, लड़खड़ाती रहेगी, लोग लूट डालेंगे। इसलिए अपने उपयोग-पतंगकी डोर जो निजमें है ज्ञानशक्ति ज्ञानस्वरूप उसको पकड़नेका यत्न करिये, बहुत सरल काम है। थोड़ा उस ओर उपयोग नहीं दिया इसलिए कठिन जंच रहा है, मगर ऐसा ज्ञान, ऐसी साधना बनायें तो यह ही चीज सरल हो जायगी। अपनेको जानें, अपनेमें रमण करें, परपदार्थोंका मोह रागद्वेष तजें, यह ही सुख शान्तिका वास्तविक उपाय है।

निःसंकट परमपारिणामिक भावमय अन्तस्तत्त्वकी चिन्तना—हम आप सभी जीव समस्त संकटोंसे छूटनेका भाव रखते हैं। मुझपर किसी भी प्रकारका संकट नहीं, भाव तो ऐसा रखना है, पर संकट न आयें, इसके लिए हमें अभी बहुत कुछ पुरुषार्थ अपने अन्तरमें करना है। पहले तो यह ही जानें कि मैं क्या हूं जो मैं संकटोंसे छुटकारा चाहता हूं। दूसरी बात—वे संकट क्या हैं जिनसे हमें छुटकारा चाहिए और संकटोंसे छुटकारा हो ले तो हम किस ढंगमें रहेंगे, इन तीन बातोंका बहुत साफ निर्णय होना चाहिए। चलो करें निर्णय, मैं क्या हूं—इसके उत्तर दो प्रकारसे आयेंगे एक तो यह कि वास्तवमें मैं क्या हूं जो सदा रहने वाला हूं, सहज क्या हूं ? दूसरा उत्तर यह है कि मेरी हालत क्या हो रही है क्योंकि हालत मुझसे अलग नहीं रही जा रही है। तो उस हालतके रूपमें मैं जिस ढंगका हूं वह क्या हो रहा है ? उसके निर्णयमें इसकी बातका समाधान चाहिए। मैं सहज क्या हूं, इसका उत्तर तो इस ढंगसे मिलेगा कि मान लो कि मैं मात्र मैं ही हूं, मेरे साथ कोई दूसरी चीज नहीं

http://sahjanandvarnishastra.org/

लगी, न शरीर हो, न कर्म हो, न संग हो, कुछ भी दूसरा मेरे साथ न हो तो मैं किस स्वरूप में रहता हूं, तो सोच लीजिए—मैं कोई एक वास्तविक पदार्थ हूं, शरीरसे निराला हूं। शरीरको दृष्टिसे हटा लें, इन्द्रियके व्यापार बंद करें, कुछ न सोचकर एक चुपचाप बैठ जायें, शरीरका भाव ही न रहे, ऐसी स्थिति बने, उस समय प्रयोगात्मक परिचय होगा कि मैं क्या हूं ? मैं शरीरसे निराला हूं। तो ऐसा निराला मैं क्या ? एक चैतन्यप्रकाश। एक ऐसा परम आत्मतत्त्व जो चैतन्यसे परिपूर्ण हूं। चिदात्मक है, उत्कृष्ट ज्योति है, प्रतिभासात्मक है, ऐसा मैं देहादिक समस्त पदार्थोंसे न्यारा एक चैतन्य तत्त्व हूं, इस तरह की दृष्टि जगे तो खुद अनुभव कर लेंगे कि उसमें कोई संकट नहीं, ऐसा भाव परमपारिणामिक भाव जीवत्व है ५३ भावोंमें सिरताज।

संकटोंका स्वरूप—संकट क्या है ? जरा दूसरी बातपर इस समय आयें। संकट है इस अपने सहजस्वरूपकी दृष्टिमें जब न रहते हों तो किसी बाहरी पदार्थका ख्याल होता है, विषयोंका आश्रय होता है, आकुलता होती है, क्षोभ मचता है, ये हैं सारे संकट। संकट यह नहीं है कि धन कम हो गया। धन तो धनमें है, यहाँ न रहा और जगह हो गया। उससे मेरा क्या मतलब ? उससे मेरेमें क्या संकट बनता ? जहाँ बाहरमें यह ख्याल बनाया कि मेरे पास धन कम है, यह विकल्प संकट है। धनका कम होना कोई संकट नहीं। कोई पुरुष निर्धन होकर भी उसका कुछ ख्याल नहीं रखता और उससे अपने पर कोई प्रभाव नहीं मानता, विकल्प नहीं करता, प्रभुभक्तिमें रहता, आत्मध्यानमें रहता। देख लो साधुजनोंके पास तो एक भी पैसा नहीं होता, दुनियाके लोगोंके देखनेमें तो वे निर्धन ही हैं, निर्धन कौन ? जिसके पास धन नहीं। तो साधुजन तो निर्धन होते हैं, केवल शरीर उनके साथ होता, फिर भी उनके किसी प्रकारका विकल्प नहीं होता, इसलिए कोई संकट नहीं होता। तो संकट बाहरी चीजोंके न होनेका नाम नहीं है किन्तु बाहरी पदार्थोंका ख्याल बनाकर जो भीतरमें विकल्प बनाये जाते हैं, जो कि स्वभावके विपरीत हैं उन विकल्पोंका जो लदान चल रहा है यह है संकट। मुझे संकटोंसे छूटना है– इसका अर्थ यह लगायें कि मुझे कषायोंसे छूटना है। कषाय ही संकट है, दूसरा और कोई संकट नहीं। मानो घरमें कोई इष्टवियोग हो गया, कोई पिता या पुत्र वगैरह मर गया तो आप यह बताओ कि आपके आत्माका उस दूसरे जीवके साथ कुछ नाता है क्या ? जरा भीतरी बात सोचकर बताओ। जैसे जगतमें और जीव हैं निराले उतने ही निराले वे जीव हैं जो परिवारके लोग हैं। वे कोई कम निराले नहीं हैं स्वरूपकी ओरसे देखो। मोहियोंका उत्तर तो गड़बड़ आयगा, पर स्वरूपकी ओरसे देखो—मैं अपने स्वरूपमें रहता हूं, परिवारके सभी जीव अपने-अपने प्रदेशोंमें रहते हैं। मैं अपने प्रदेशोंसे बाहर रंच भी कुछ नहीं कर सकता, न जा सकता। वे भी अपने प्रदेशोंसे बाहर मेरो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और कुछ नहीं कर सकते। जो कर रहे हैं वे अपने आपमें कर रहे हैं, मैं जो कर रहा हूं सो अपने आपमें कर रहा। फिर सम्बन्ध क्या है कि वे मेरे कहलायें ? कोई दूसरा जीव मेरा कहलाये ऐसी गुंजाइश कहाँ है ? आप कहेंगे कि यह है गुञ्जाइश—स्त्री रोटी बनाती, हम कमाते, लड़के बच्चे भी कुछ काम आते हैं, जीवन चलता है, सम्बन्ध कैसे नहीं ? तो यह सम्बंध सत्त्वमें नहीं है किन्तु यह गुजारेका सम्बंध है और गुजारा हो रहा है पर्यायोंका, शरीर का। सो यों तो इस तरह नहीं करते और दूसरे लोग हैं उनका संसर्ग बना लेते, नौकर रखते, यों गुजारा चल जाता। यह परिवार तो एक तरहकी कम्पनी है जो सभी लोग मिल-जुल-कर काम कर रहे हैं। तो मेरे आत्माका काम कुछ नहीं हो रहा और हो रहा है तो विकल्प का काम हो रहा है। ये विकल्प ही संकट हैं, मुझे संकटोंसे छूटना है। संकटोंसे छूटकर मेरी क्या स्थिति होगी ? इसका भी भली प्रकार स्पष्ट निर्णय करिये, इसमें इस जीवका लाभ है।

मेरा परमार्थस्वरूप और परिस्थित रूप—मैं क्या हूं ? सहज चैतन्यप्रकाश, एकरूप, जिसको जीवके ५३ भावोंमें जीवत्व नामसे कहा गया है, शुद्ध जीवत्व अर्थात् चैतन्य प्राणमय रहना। अच्छा हूं तो मैं यह सहज और मुझपर गुजर क्या रहा है ? ये चार प्रकारके भाव—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक। वर्तमानमें क्षायिक भाव नहीं जगा, पर आत्माके नातेसे ही तो बात चल रही है। यही न सही, हमारी तरहके और हैं, उनपर क्षायिक भाव आ रहे हैं। यहाँ बात औपशमिक, औदयिक व क्षायोपशमिककी तो है ही। इन भावोंके मायने क्या हैं ? देखिये यहाँ दो बातें समझ लीजिए—मैं वास्तवमें हूं क्या और मुझ पर गुजर रहा क्या ? जिसको इतना भी पता नहीं है वह अपनी शान्तिके लिए पुरुषार्थ ही क्या करेगा ? जैसे यहाँ किसी आदमीको यह पता न हो कि मैं हूं क्या और मुझपर गुजर क्या रहा ? कहाँ रहता हूं, कौन ढंग है, कौन घर है, तो उसका नाम आप क्या रखेंगे ? जैसे यहाँ भी एक भाई सड़कपर कभी-कभी नंगे या फटे कपड़ेमें फिरते रहते हैं, चिल्लाते हैं तो आप उन्हें क्या कहते हैं ? पागल कहते हैं ना ? इसी तरह जिस जीवको यह भान नहीं है कि मैं क्या हूं और मुझपर क्या गुजर रहा है उसको आप क्या कहेंगे ? तो उसे भी आप पागल कहेंगे ना ? जिसे यह भान नहीं कि मैं वास्तवमें क्या हूँ और मुझपर क्या गुजर रही है उसका चित्त बाहरी बातोंमें लग रहा, विषयसाधनोंमें और विषयसाधनोंके न होनेसे महत्त्व और हीनताका निर्णय किया जा रहा है। दूसरोंकी चर्चा भी कर ली जाती है, वह इतना बड़ा है, इतना वैभव है, वह यों मर गया, मेरा वैभव यों मिट गया, ये सब स्वप्न निद्रा जैसी चर्चायें की जा रही हैं। पर वास्तवमें मैं क्या हूं और मुझपर क्या गुजर रही है यह ठिकाना नहीं समझते। अच्छा यह बात तब समझमें आयगी जब गुजारेका कारण भी कुछ विदित हो।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मेरे परिस्थित रूपके कारण—मुझपर गुजर रहा है क्या ? कषायें गुजर रही हैं, विकार गुजर रहे हैं। कभी-कभी अच्छे भाव भी आ जाते, सम्यक्त्व भी हो जाता, कभी आत्माकी ओर शान्ति पानेके लिए कुछ दृष्टि भी देते हैं, अपनेमें रमण भी करते, ऐसी बातें गुजर रही हैं ना तो ये क्यों गुजर रही हैं ? इसका कारण क्या है ? कारण दो प्रकारसे समझे जायेंगे। गुजर तो मैं ही रहा हूं, इन परिणतियोंको मैं ही तो कर रहा हूं। तो उपादानकी ओरसे उत्तर आया कि मैं कर रहा हूं, मेरी जैसी योग्यता है उस प्रकार परिणमता हूं, मगर यह तो बताओ कि अनेकरूपताका जो किसी एक वस्तुमें परिणमन होता तो ऐसा क्यों होता है ? जब मैं एक हूं, सहज चैतन्यप्रकाशमात्र हूं तो मुझको परिणमन एक ही प्रकारका चलना चाहिए। यह नाना प्रकारका हमपर क्यों परिणमन चल रहा ? मालूम होता कि मेरे साथ कोई दूसरी विपरीत चीज हामी है, लदी है, उसमें बँधे हैं, इस कारण उसका निमित्त पाकर मैं नाना प्रकारसे परिणमता हूं, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि यह तो गणित जैसा हिसाब है। कोई चीज है, वह एक है तो एकरूप रहो, अपने स्वभावरूप परिणमे, उसमें नाना परिणमन क्यों हों ? भला पानी है तो रहो एक, वह क्यों कभी गर्म होता, कभी ठंडा ? क्यों उसके बीच नाना प्रकारकी अवस्थायें बनतीं। तो ऐसी नाना अवस्थायें बननेका कारण क्या है ? वही बिजली, गर्मी, कूलर आदिकका संयोग। तो ऐसे ही मुझमें सुबह कुछ भाव है, दोपहरको कुछ भाव है, शामको कुछ भाव है। कभी ऐसे परिणाम होते कि जरासी और विशुद्धि हो जाय तो मानो मोक्षमें जाते। कभी ऐसे परिणाम होते कि राक्षसवृत्तिकी ओर बढ़ते। तो यह विचित्रता जो हो रही है उसका कारण यह है कि उसके साथ लगा हुआ है कोई दूसरा पदार्थ। वह है निमित्त कारण। उसीको कहते हैं कर्म। कर्मकी विविध परिस्थितियाँ यहाँकी विषमताका निमित्त हैं।

कर्मलीला—कर्मके बारेमें वैसे तो सब बोल देते हैं कि कर्म है, तकदीर है, जैसा किया वैसा भोगेगा, पर कर्म वास्तवमें क्या है, इसका निर्णय जैनशासनमें है। कर्म है एक सूक्ष्म मैटीरियल, पौद्गलिक स्कंध, बस वे अपने स्वरूपमें भी नाना प्रकारके हैं। और जब यह जीव कषाय भाव भी करता है, और और अविवेक रखता है, अज्ञान रखता है तो वे ही कर्म नाना प्रकारसे बंध जाते हैं। जिसे कहते हैं ८ प्रकारके कर्म। वे कर्म लदे हैं, हैं जीवके साथ। अब लगे तो हैं इस जीवके साथ, इतना तो मानना ही पड़ेगा। अगर इतना नहीं मानते तो इसका उत्तर क्या है कि नाना रूप क्यों परिणम रहा है ? इस जगतमें कोई भी एक पदार्थ ऐसा बता दीजिए उदाहरणके लिए कि उसके साथ किसीका सम्बन्ध नहीं, संयोग नहीं, अकेला ही है और वह नानारूप विषम परिणम जाता है ? तो ऐसा कोई न मिलेगा। अगर नाना तरह की उसमें अवस्थायें बनती हैं तो समझो कि कोई दूसरे पदार्थका संयोग है। यहाँ जीवके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

साथ वह दूसरी चीज क्या है ? कर्म । इस तथ्यसे हट नहीं सकते । भले ही जब निश्चयनय की दृष्टि लगायें तो वहाँ एक ही पदार्थ दिखता है । इस दृष्टिका विषय एक पदार्थ है और वहाँ यह ही उत्तर आयगा कि यह आत्मा अपनी योग्यतासे अपना ऐसा-ऐसा परिणमन करता हुआ चला जा रहा है, पर यह तो एक वस्तुके देखनेकी बात है । उसमें भी लाभ है । मोक्ष मार्गमें चलने वालेको इसमें भी लाभ मिलता है । पर निर्णय तो नहीं बना यह । ऐसा होता क्यों है, ऐसा नाना रूप परिणम क्यों रहा है, ऐसी यहाँ योग्यतायें क्यों चल रही हैं । कोई कहेगा—स्वभावसे । तो बस फिर तो बेड़ा गर्त हो गया । स्वभावसे है तो ऐसी बात चलती रहेगी, वह फिर मिटेगी नहीं । तो वे कर्म अपनी एकअ लग फैक्ट्री रखते हैं, उनमें अनुभाग है । जब अनुभाग शक्तिका उदय होता है तो उन्हींमें बड़ी विरूपता आती है । वे कर्म जड़ हैं, जानते नहीं हैं कुछ, लेकिन जो-जो जीव यहाँ कर रहा वही-वही बात वहाँ कर्ममें चली है । वहाँ अनुभव नहीं है, यहाँ अनुभव है । वहाँ पौद्गलिक ढंगसे है, यहां चैतन्यके ढंगसे है । जब वे कर्म दबते हैं तो यहां कुछ परिणाम निर्मल होता है । वे कर्म जब हट जाते हैं तो परिणाम मूलसे निर्मल होते हैं । तो ऐसी उन कर्मोंकी दशाका निमित्त पाकर जीवकी यह दशा होती है । यह बात आयी ना ध्यानमें ।

औदयिक आदि भावोंको जीवके स्वतत्त्व कहे जानेका कारण—अब यहाँ एक शङ्का बनती है कि जब जीवमें ये दशायें कर्मके उदयानुसार बनती हैं, कर्मके उपशमके अनुसार बनती हैं तो ये सब पौद्गलिक हैं भाव । इन्हें जीवके भाव क्यों कहा ? औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक ये भाव जीवके क्यों कहलाते हैं ? यह सब तो पुद्गलकी छाया है, पुद्गलकी ऐसी झलक है कि इस प्रकारकी बात जीवमें प्रकट हुई । वहां जीवके भाव क्यों कहे जाते ? तो उत्तर यह है कि बात तो सही है कि ये कर्मोंके उपशम आदिकका निमित्त पाकर होते हैं, जीवके निजके गाँठके भाव नहीं हैं, क्योंकि सहज स्वयं स्वतंत्र अकेला रहकर जीवका भाव एक प्रकारका है, लेकिन इतनेपर भी परिणमा तो जीव है । जैसे कागजपर आग रखो तो कागज जल गया । कागज अब संसर्ग बिना स्वयं तो नहीं जला । जला तो स्वयं कागज, दूसरा कुछ नहीं जला, मगर ऐसा जलना अग्निका सम्बन्ध पाकर हुआ ना । तो सम्बन्धकी ओरसे तो उत्तर है कि यह जलनेकी बात कागजकी नहीं है, यह तो आगने कराया । परंतु कागजकी ओरसे, उपादानकी ओरसे उत्तर यह है कि जला तो कागज ना, दूसरा और कुछ तो नहीं जला । और-और बातें ले लो, पानी गर्म हो गया अग्निका संयोग पाकर इसलिए वह अग्निकी उष्णता कहलाती है व्यवहारमें, मगर गर्म पानी हुआ कि आग ? आग तो अपनेमें गर्म है, जो पानी गर्म हुआ तो पानी ही अपनी ठंडी पर्यायको त्यागकर गर्म हुआ । तो ऐसे ही कर्मोंका उपशम आदिक तो हुआ, मगर परिणमा तो जीव ही ना । तो जीव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को अवस्थायें हैं इसलिए ये सब जीवके स्वतत्त्व हैं।

निजको जानकर निजधाममें पहुंचनेका विलास—देखो जब जिसकी दृष्टि बाहरकी ओर होती है, विषयोंकी ओर होती है, देहकी ओर होती है, यह मैं हूं, जब यह मैं हूं तो इसके बड़प्पनके लिए काम करना चाहिए। जब शरीर मैं हूं तो शरीरके बड़प्पनके लिए काम चलना चाहिए। तो उसके लिए धन चाहिए, संयोग चाहिए, सम्बंध चाहिए, और इसके साथ नामवरी चाहिए। वह भी तो एक संतोषका कारण बन रहा लोगोंका। इसका साधन जुटना चाहिए, तो बस साधनमें जुट रहा यह जीव। और वे साधन अपने अधिकार की चीज हैं नहीं, तो बस सारे संकट इस जीवपर लदे हैं। भावना बने कि मुझको इन संकटों से छुटकारा पाना है।

देखो यह चार दिनकी चमक-धमक यह जरा भी काम न आयगी, अब भी काम नहीं आ रही, मगर आज समझमें नहीं आ रही, कुछ दिन बाद समझमें आ जायगी। मोहियों को समझमें न आयगा, मगर समझदार लोग तो समझ हा जायेंगे। यह चमक-धमक इस जीवका कुछ साथ न देगी। हम हैं, हमेशा रहेंगे, इसलिए अपने भविष्यका बहुत चिन्तन करना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि मुझे इन १०-२० वर्षोंके जीवनके लिए ही कुछ ओटपाये नहीं करना है। मेरा भविष्य कैसे सुधरे, कैसे शान्तिमें बीते, उसका उपाय बतायें तो अभी भी शान्ति मिलेगी और आगे भी शान्ति मिलेगी। भला जो उपाय इस समय भी शान्ति करा दे और भविष्यके लिए भी शान्ति करा दे, वह उपाय अच्छा है या जो उपाय इस वक्त भी भ्रममें डालकर अपनेको बेहोश करा रहा और भविष्यमें भी नाना दुःखोंका साधन बना दे वह उपाय अच्छा है? उपाय वह करना चाहिए कि जिस उपायसे वर्तमानमें भी शान्ति हो और भविष्यमें भी शान्ति हो। वह उपाय क्या? 'निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान।' यह तो है लेश निदानके न रहनेकी बात। याने अब कारण न रहेंगे, मगर इससे आगे और कुछ बढ़ना है—'राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम?' वह तो सम्यक्त्वकी चीज है—निजको निज पर को पर जान, फिर दुःखका निदान न रहेगा। करना तो दोनों है। जैसे किसीको रोग हो गया तो पहले तो उस रोगका निदान न हो याने वे-वे चीजें न खायें, जिससे वह रोग बने, फिर उस रोगका इलाज करें, अपथ्य सेवन न करें। ऐसे ही संसरण रोग न बढ़े एतदर्थ 'निजको निज परको पर जान' भान यह तो है सम्यक्त्व और चिकित्सा बने—यह कहलाता है चारित्र।

सहज ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके सुपरिचयमें सकल समस्याओंका सहज समाधान—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भैया ! अपनेको जानें। अपनेको जाने बिना विडम्बना है। जगह-जगह डोलेंगे सुख ढूंढ़नेके लिए, जगह-जगह आशा बनायेंगे ज्ञान पानेके लिए—अपने दो ही तो स्वरूप हैं। हम आप ज्ञानवान हैं। ज्ञानविकास बिना इस जीवको चैन नहीं मिलती और आनंद पाये बिना भी चैन नहीं मिलती। यह उमंग सबके है। कोई चीज जा रही हो तो उसे जब तक देख न लेंगे तब तक चैन नहीं पड़ती। मतलब उससे कुछ नहीं, मगर सामनेसे कुछ चीज गुजरी तो उसे दूसरोंसे पूछकर मालोमाल कर लेंगे। ज्ञानविकासकी ओर भी उमंग होती है और आनन्द पानेकी ओर भी उमंग होती है। तो जिसमें ज्ञान और आनन्दकी बात पड़ी है, ज्ञान और आनन्दका स्वरूप बसा हुआ है तब ही तो ज्ञान और आनन्द मिल रहा इसे। तिलमें तेल भरा है तभी तो उसे कोल्हूमें पेलनेपर तेल निकलता है, और रेतमें तेल नहीं है तो उसके पेलनेपर तो तेल नहीं निकलता। तो ऐसे ही मुझमें ज्ञान और आनन्द है तभी तो ज्ञान और आनन्द मुझसे प्रकट होगा। अगर ज्ञान और आनन्द मुझमें न हों तो कहांसे प्रकट हो जायेंगे। भले ही इस समय दूसरे पदार्थोंपर ध्यान देकर ज्ञान और आनन्द नहीं बन पा रहा, बनना था ज्यादा, मगर रह गया कम, फिर भी ज्ञान और आनन्दसे हम आपका स्वरूप रचा हुआ है। अपने स्वरूपकी दृष्टि करें कि मैं वास्तवमें क्या हूं और मुझपर गुजर क्या रहा है और यह क्यों गुजर रहा है ? गुजर यों रहा है कि कर्मके उदय आते हैं और यहाँ उसका छाया प्रतिफलत होता है। तो जैसे सूर्यके नीचे बादल आनेपर सूर्यका प्रकाश तिरस्कृत हो जाता है, ऐसे ही कर्माक्रमणके समय ऐसा हो निमित्तनैमित्तिक योग है कि जीवके स्वभाव का तिरस्कार हो गया, यह जीव दब गया, उस समय यह जीव अधीर हो जाता है और उस समय इसको विषयकषायोंकी बात सूझती है, और यों यह प्रकट संकटमें पड़ जाता है। यदि यहाँ भेदविज्ञान करें कि कर्मकी छाया माया हो रही, मगर यह मैं नहीं हूँ, मैं तो स्वभावतः चैतन्य प्रकाशमात्र हूं तो इस चिन्तनमें वह बल आता है कि हम उस छाया मायामें लिप्त नहीं होते। तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने आपको जानें और ये इन्द्रियाँ मेरे लिए कलंक हैं, ये मेरे शृंगार नहीं हैं, ये मेरी शोभा नहीं हैं, ये तो पंक हैं। इनको राजी रखनेके लिए हम संकल्प न बनायें, किन्तु इनसे निराला एक चैतन्यमात्र अपने आपको अधिकाधिक सोचें। मैं सबसे निराला एक चैतन्यमात्र हूं, ऐसी दृष्टि बनेगी तो एक अनुपम आनन्द प्राप्त होगा।

ज्ञानकलापर सुख, दुःख व शान्तिकी निर्भरता—जीवके सुखी शान्त होनेका उपाय केवल धर्म है। वह धर्म क्या है ? जिससे यह जीव शान्त हो जायगा। जीवको शान्त किधर होना है ? अन्दरमें होना है या कहीं बाहरमें होना है ? जीव तो अन्दर है, बाहर तो होता नहीं है, अन्दरमें शान्त होना है। तो अंदर शान्त होनेके लिए कोई बाहरमें काम करना है या अन्दरमें काम करना है। बाहरमें कोई काम किया ही नहीं जा सकता, अंदरमें काम करना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। वह क्या काम है कि जिससे यह जीव शान्त हो जाय? अन्दरमें क्या-क्या करता यह जीव? जानकारी केवल जानन, जानन चलता है तो बस इस ही जाननकी कलामें शान्ति है और इस ही जाननकी कलामें दुःख है। इसका निर्णय तो जानें। तो जो चाहिये हो सो पा लो। जाननेकी कलासे सुख पावें, जाननेकी कलासे दुःख पावें, जाननेकी कलासे शान्ति पावें। अब दुःख क्या है? जो परवस्तु है उसको चित्तमें लेना, उससे सुखकी आशा करना, उसपर अपना अधिकार जमाना, ये सब दुःखके जनक हैं। जो अनहोनी बात है उसे होनी बनानेका प्रयत्न करें तो दुःख होगा। यह बात बिल्कुल अनहोनी है कि मैं बाहरमें जो चाहूं सो कर दूं। पुण्य योगसे हो जाय यह बात अलग दे, मगर अधिकार नहीं है मेरा एक परमाणुमात्रपर कि मैं जो करूँ, जैसा मैं चाहूं वैसी बात बाहरमें हो जाय। तो जो भिन्न पदार्थ हैं, विनाशीक हैं उनमें अपना लगाव रखना यह तो है दुःख पानेके लायक जाननेकी कला, और जो निज वस्तु है, ध्रुव वस्तु है, स्वभाव भाव है, परमार्थ स्वरूप है उसमें ज्ञान बनायें कि मैं यह हूं और मैं स्वयं शान्त हूं, स्वयं आनन्दमय हूं, स्वरूप मेरा एक विशुद्ध चैतन्यप्रकाशमात्र है, अविकार अविशेष ज्ञानस्वभावका जानना बनाये रहना यह कला है शान्त होनेकी और सुखी होनेकी कला क्या है? जो दुःखी होनेकी कला है सो सुखी होनेकी कला है। दुःख और सुखमें अन्तर नहीं है। दुःख नाम है उसका जो इन्द्रियोंको बुरा लगे। दुः मायने बुरा, ख मायने इन्द्रिय, और सुख नाम है—सु मायने सुहावना लगना, ख मायने इन्द्रिय, याने जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे सो सुख। जब इन्द्रियोंको सुहावना लगे उस काल में भी जीवको आकुलता रहती है और जब इन्द्रियोंको बुरा लगे तो उस कालमें भी जीवको आकुलता रहती है। इसलिए आकुलताके हिसाबसे जैसे दुःख है वैसे ही संसारका सुख है। इन दोनोंमें अन्तर नहीं है। इसलिए सुख दुःख दोनोंसे परे जो आत्मीय शान्ति है उसका उपाय बनावें।

शान्तिका उपाय अविशिष्ट परिणाम—शान्तिके उपायको एक शब्दमें अगर कहें तो यह होगा कि सुख दुःखका तो उपाय है अपनेको विशिष्ट बनाना और शान्ति पानेका उपाय है अपनेको अविशिष्ट बनाना। जैसे समुद्र है उसमें विशेषतायें नजर आयें तो उसे कहते हैं क्षुब्ध। लहरें उठ रहीं, भवर उठ रहे, चार ६ फिट ऊँची लहरें उठती हैं, लहरें उठती हैं तो क्षोभ हो रहा, आवाजें आती हैं, लोगोंकी जानें चली जाती है, बहुतसे गाँवके गाँव बह जाते हैं। समुद्र बड़ा क्षुब्ध हो रहा और वह समुद्र अविशेष रहे याने विशेषता उसमें न बने, सामान्य, साधारण, शान्त, सहजसा अगर बन जाय तो वहाँ क्षोभ नहीं बनता। ऐसे ही यह आत्मा जब यह समझता है कि मैं मनुष्य हूं, अमुक पोजीशनका हूं, मैं इतने परिवार वाला हूं, मैं ऐसी इज्जत वाला हूं, या जिस तरहका भी मानो दुःखी हूं, सुखी हूं, रंक हूँ, राव हूं, किसी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तरहकी अपनीमें विशेषता लाते हैं तो उसे कहते हैं दुःख व सुख और अपनेमें विशेषता न लाना, जैसा अपना सहजस्वरूप है उस रूप अपनेको मान लें—मैं यह हूं, यहाँ है आनन्द। परमात्मामें खासियत क्या है, वे अविशिष्ट हो गए, साधारण हो गए, सामान्य हो गए, उनमें अब विशेषता न रही। दुनियाके लोग तो विशेषताको महान समझा करते हैं और धर्म अविशेषताका नाम है, सामान्य स्थिति हो जानेका नाम है, सर्व समभाव हो जानेका नाम धर्म है। अब जितने हमारे हलचल हैं, ओटपाये हैं, क्रियायें हैं, चेष्टायें हैं, प्रवृत्तियाँ हैं, ये हमको आकुलताकी ओर ले जाते हैं और मनको शान्त किया, वचन बंद किया, कायको संयत किया, कुछ विचार ही न आये। ऐसा मन स्थिर किया तो वहाँ निराकुलता है। परको न जाना तो ज्ञान बिना तो आत्मा रहेगा नहीं। ज्ञान तो वह करेगा ही करेगा, पर जब ज्ञान परको न जाने ऐसी स्थिति बना ली जायगी तो ज्ञान अपने सहज ज्ञानस्वरूपको ही जाना करेगा और कुछ न जानेगा, बस इस ही के मायने हैं आत्मानुभव। तो आत्मानुभव बिना जीवनमें कोई सार न मिलेगा। आत्मानुभव करें।

धार्मिक संस्कारोंकी उपयोगिता—देखो धर्मका कोई संस्कार रहेगा, व्यवहार क्रियाकाण्डके मार्गसे संस्कार बना रहेगा तो कोई समय ऐसा भी आयगा कि मन, वचन, काय स्थिर हो जायेंगे और ज्ञानमें सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव होगा। इसके लिए संस्कार बचपन से डालना चाहिए। अपनेको सुधारो। अपनी सुधार करने के लिए गृहस्थीमें यह आवश्यक है कि परिवारको सुधारो। जो परिवार उल्टा उल्टा चलता है, धर्मके खिलाफ चलता है उस परिवारका नायक धर्मके मार्गमें निर्विघ्न चल नहीं सकता। इसलिए आवश्यक है कि गृहस्थी में रहकर अपने बच्चोंको सुधारें। इसमें भी अपनी ही दया है, किसी अन्यकी नहीं और साक्षात् दया यह है कि अपनेको जाप सामायिक आदिकके प्रसगोंमें लगायें। ऐसा एक विशुद्ध ज्ञान बनायें कि ज्ञानमें ज्ञानका स्वरूप हो आये और कुछ आये ही नहीं। यह है अपनी साक्षात् दया। जब बालक ८ वर्षका हो जाता है तबसे उसको पूजा-पाठ आदिकके काममें लगावें, उसे सिखावें, यह अपने आपको भी काम देगा। जब बच्चे विनयशील रहेंगे, धार्मिक रहेंगे तो आप भी आनन्दसे रह पायेंगे। और जब बच्चे कुपूत निकल जायेंगे, व्यसनी हो जायेंगे तो आप भी दुःखी हो जायेंगे। ८ वर्षकी आयु हो जाय तो बच्चेको स्वाध्यायमें, पूजा पाठ आदिमें लगावें, उसको धार्मिक शिक्षा दें। जो गृहस्थ संतानोंकी ओरसे उपेक्षा रखेगा उसकी संतान बिगड़ जायेगी। गृहस्थोंका कर्तव्य है कि वे गृहस्थीके कार्य भी करें और आत्मा का कर्तव्य भी करें। भला बताओ गृहस्थजन धर्ममें न रहें, धर्मके प्रसंगोंमें न रहें तो फिर खाली समयमें करेंगे क्या ? कहीं अखबार पढ़ेंगे, गप्प मारेंगे, दिल बहलायेंगे, विषयोंमें लगेंगे और दुःखी भी हो जायेंगे। धर्म बिना आपके आत्माको, मनको विश्राम तो न मिला। आपने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ने बाहरमें मन फंसाया और कल्पनाओंमें मौज माना, मगर वास्तविक शान्ति तो आप नहीं पा सकते। और एक धार्मिक प्रसंगोंके बीच आयें, प्रातःकाल जगनेके बाद चित्तमें और कोई बात न हो। हाँ जैसे आवश्यक काम हैं गाय भैंस आदिक दुहनेके तो वे भी करें, पर नहाना-धोना, दर्शन करना, पूजा-पाठ करना, सत्संगमें आना, प्रवचन सुनना आदिक इन प्रसंगोंको प्राथमिकता दें। एकान्तमें कहीं बैठकर चाहे दूकानमें हों या घरमें हों या वनमें हों, बारह भावनाओंका चिन्तवन करें। अपना व परिवारका धार्मिक वातावरण अपने लिये शान्तिका साधक होगा ऐसा समझें व प्रयत्न करें।

पदार्थोंको स्वतंत्र जानकर, उनसे मोह हटाकर सहज अन्तस्तत्त्वमें लीन होनेकी सारता—देखो भैया! अपनी एक खास समस्याका समाधान कर लो। मेरे लिए जगतमें कौन सी वस्तु है जो सर्वस्व सार है? कुछ नहीं। देखो बड़े पुरुष वे हैं जो कीचड़में नहीं फंसते और अपना सारा जीवन पवित्र बनाते हैं और जो ऐसा नहीं कर सकते वे कुछ समय बाद चिन्तन तो करेंगे, अपनेको अविशेष अनुभव करेंगे। मैं वह हूं जैसे सब—एक चैतन्यस्वरूप जाननहार, देखनहार, जहाँ किसी प्रकारकी उपाधि नहीं, ऐसा एक अपने आपका सहज शुद्ध स्वरूप वह ज्ञानमें लायें, मैं यह हूं, और यह मैं हो क्या गया हूं? यह तो बड़ी विडम्बना है कि कभी मनुष्य बनते, कभी पशु-पक्षी बनते, कभी कीट पतिंगा बनते, इनमें क्या तत्त्व रखा है? यहाँसे मरे, फिर जन्मे, फिर लदे फिरे, फिर मरे, फिर जन्मे। यहाँ सार किस बातमें है? मेरेको शरण कौन है? कौन मुझे दुर्गतिसे बचायेगा? प्रभु बचा देंगे क्या? प्रभु भी न बचा पायेंगे। कुटुम्ब और मित्रकी बात तो अत्यन्त दूर है, प्रभु भी न बचा पायेंगे। क्यों न बचा पायेंगे कि प्रभुको क्या पड़ी है कि वे ऐसा करें कि किसीको बचायें, किसीको संकटमें डालें? क्यों वे अपने अनन्त आनन्दके अनुभवसे चिगें और संसारी बनें, अपवित्र बनें? तो फिर हम प्रभुका सहारा क्यों लेते हैं? प्रभुका सहारा हम यों लेते हैं, प्रभुकी भक्ति हम इस कारण करते हैं कि प्रभुका ध्यान करनेसे, प्रभुके स्वरूपकी उपासना करनेसे मेरेको अपने अन्तः बसे हुए प्रभुके स्वरूपका अनुभव होता है। तो जो मेरा है, यह मेरी प्रभुताका अनुभव यह है अविशेष। यह मेरे चैतन्यप्रकाशका अनुभव यह मेरेको पार करेगा, अन्य कोई मेरेको पार करने वाला है ही नहीं।

भाई इस मनुष्यभवमें मुख्य काम है यह कि अपनेमें धर्मकी बढ़वारी करें। ये वैभव मकान आदिक, मित्र पक्ष पार्टी आदिक ये सब भी काम नहीं दे रहे। इस जीवको अगर कोई शरण है तो इस जीवको अपना एक सहज विशुद्ध परिणाम है, भाव है, स्वरूप है। मैं क्या हूं, असलमें क्या हूं, ये विचार विकल्प आदिक भी मैं नहीं, यह सब तो कर्मकी छाया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। मनुष्य पशु पक्षी आदिक मैं नहीं, क्योंकि यह सब कर्मकी छाया है, मैं हूं एक सहज ज्ञानज्योति जिसमें मात्र जाननेका काम रहता है। सिर्फ जाननेके काममें कोई तरंग नहीं, रागद्वेषादिक नहीं, ऐसा एक अपने आपके स्वरूपका अनुभव करें, सबसे निराला हूं, ऐसा ध्यान अगर एक क्षण भी बन जाय तो वह आत्मानुभव है। आत्मानुभव जिसे हो गया उसे फिर जगतकी कोई अन्य चीज नहीं सुहाती। उसे तो एक अपना आत्मानुभव ही सुहाता, यह ही धर्म है। यह अविकार ज्ञानस्वरूपका ज्ञान जिसे प्राप्त हुआ है उसके इच्छायें दूर हो जाती हैं। जिसके इच्छायें दूर हुईं वह संतुष्ट रहेगा, आनन्दमय रहेगा, पवित्र रहेगा, मोक्षमार्ग में बढ़ेगा, उसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी। हमारे समस्त विकासोंपर कुठाराघात करने वाली यह है इच्छा और इच्छाको पुष्ट करने वाला साधन है मोह और मोह मिला है अज्ञानसे, इसलिए सबसे बड़ा पाप अज्ञान है। देहको मानना कि यह मैं हूं, बाह्य पदार्थोंको मानना कि ये मेरे हैं, यह ही अज्ञान है, यह ही मोह है, यह ही इच्छाका जनक है। जहाँ इच्छा हो वहाँ समस्त कष्ट ही कष्ट हैं। इसलिए भाई अपनेपर करुणा करके यह भाव बनायें कि मेरेमें इच्छा न रहें, ऐसी पवित्रता बने तो भला है। इच्छा न बने इसके लिए चाहिए कि मेरेको मोह न रहना चाहिए। मोह न रहे इसके लिए चाहिए कि मेरेमें अज्ञान न रहे। अज्ञान न रहे इसके लिए चाहिए कि जीव अजीवका, स्व-परका सही स्वरूप समझें कि परमाणु परमाणु स्वतंत्र है, प्रत्येक जीव स्वतंत्र है।

शाश्वत शान्तिके लाभके अर्थ जीवनको निर्दोष पवित्र बनानेकी आवश्यकता—जिसका जीवन दोषोंमें बीता है उसको मरणके समय बहुत दीनताका अनुभव होता है और उसका भविष्य बिगड़ जाता है। जिसका जीवन पवित्र रहता है, दोषोंसे अछूता है उसको अपने आपमें कुछ महत्त्वका अनुभव रहता है और उसका भविष्य उत्तम है। यद्यपि लोग वर्तमानके सुखोंके पीछे न्याय अन्याय पाप अज्ञान कुछ भी न गिनकर जिसमें वर्तमानमें मौज मिले उस प्रकारसे अपनी प्रवृत्ति करते हैं, लेकिन यह निश्चित है कि जो जैसा करता है जो जैसे भाव बनाता है उसके अनुकूल कर्मका बन्धन होता है, नियमसे होता है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है। यद्यपि ये दो चीजें अलग-अलग हैं कर्म और जीव, लेकिन इनका विकार एक दूसरे के निमित्त हुआ करता है। यह जीव यह जानता है कि जो मुझको १०–२०–५० वर्षकी जिन्दगी मिली है और इसमें जो कुछ हमें प्रसंग मिले हैं ये सब अपूर्व हैं, अद्भुत हैं—किन्तु काल कितना है? अनन्तानन्त जितना काल व्यतीत हो गया वह भी अनन्त और जो काल व्यतीत होगा वह उससे भी अनन्तानन्तगुना, यद्यपि अनन्त गतका भी नहीं है तो भी भविष्य सदा अतीतसे अधिक ही रहेगा। उस सारे भविष्यका कुछ ख्याल नहीं करता। वर्तमानमें थोड़े समयको कुछ सुविधा मिल जाय उसका यह बड़ा मान रखता है। पर दुःख और सुखमें छाँट

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करो। एक होता है वैषयिक सुख और एक होता है नाना प्रकारका दुःख। अच्छा इस सुख और दुःखमें कुछ अपेक्षाकृत भला क्या है ? सुख भला है या दुःख भला है ? सुखमें प्रभुकी याद नहीं रहती, सुखमें धर्मके लिए समय नहीं मिलता, सुखमें ऐसा गर्व हो जाता है कि महान पुरुषोंका भी तिरस्कार हो सकता है। सुख हर दृष्टियोंसे बुरा है। भले ही वह मोही थोड़े समयको मिले हुए सुखमें ऐसी प्रीति रखता है कि जैसे मानो सर्वस्व वस्तु हो, लेकिन इस सुखमें बड़े दोष हैं, सुखमें अपवित्रता है, सुखमें गंदगी है, सुखमें इस जीवका पतन है, जब कि दुःख सुखसे कहीं श्रेष्ठ है, दुःख पड़नेके बाद मोक्ष तो हुआ है ऐसे आपको अनेक उदाहरण मिलेंगे, मगर वैषयिक सुख पानेके बाद मोक्ष हुआ हो, ऐसा कोई उदाहरण न मिलेगा। बड़े बड़े मुनिराज सुकौशल, गजकुमार आदिक अनेक लोग बड़े-बड़े उपसर्ग सहकर मुक्तिको प्राप्त हुए। बल्कि अन्तःकृत दस महापुरुष होते हैं उनका ही एक जुदे अंगमें वर्णन है। तो सुखसे दुःख कहीं श्रेष्ठ है। जहां आत्माकी सुध नहीं वहाँ सारी विडम्बना है। यहां तो जरा से लालचमें बह गए, मगर भविष्यमें नरक निगोद आदिककी कितनी यातनायें भोगनी पड़ेंगी इसका कुछ ध्यान नहीं इस कारण पापोंसे दूर होना और अपने आत्माकी विशुद्ध आराधना में लगना यह जीवके लिए मुख्य कर्तव्य है इस मानव-जीवनमें। पंचपापोंसे ही तो जीवनमें मलिनता होती है और पंचपापोंके त्यागसे ही जीवनमें पवित्रता होती है। पवित्रतासे जीवन गुजरेगा तो संतोष रहेगा और मलिनतासे जीवन गुजरेगा तो जीवन भर भी शल्य रहेंगे और मरण समयमें भी शल्य रहेगी। इससे हमारा कर्तव्य है कि हमारा जीवन संतोषमें बीते।

जीवनको संतुष्ट निर्दोष पवित्र बनानेका आधार तत्त्वज्ञान—संतोषमें जीवन बीतनेके लिए क्या करना चाहिए ? पंचपापोंका और चारों प्रकारको कषायोंका त्याग, पर यह त्याग उसीके निभ सकेगा जिसने निजको निज परको पर जाना। जो विशुद्ध ज्ञाता बन गया है उससे ही यह त्याग निभेगा। तो अपना सम्यग्ज्ञान बनायें, पंचपापोंका त्याग करें, कषायों को दूर करें, तुम्हारे जिम्मेदार तुम ही हो, दूसरा कोई नहीं है, इसलिए जो असल बात है उसकी तो उपेक्षा न करें और जो अपने वशकी बात है ही नहीं उसके पीछे कमर कसकर न रहें। बाह्य पदार्थ कुटुम्ब धन वैभव आदिक ये सब कैसे आयें, कैसा ढंग बने, यह अपने अधिकारकी बात नहीं है, यह सब पूर्वकृत पुण्य कर्मका ठाठ है इसलिए यहाँ घबड़ायें नहीं, किन्तु अपने परिणामोंमें उज्ज्वलता लायें। परिणामोंमें उज्ज्वलता हर परिस्थितिमें रखना आवश्यक है, चाहे कुछ सुखकी स्थिति हो, चाहे दुःखकी, परिणामों की निर्मलता इस जीवका मित्र है और इसको शरण है, सहाय है, दूसरा कोई इसका मददगार नहीं। इससे ज्ञानका अर्जन और परिणामोंकी निर्मलता—ये दो बातें करें और यहाँके परिग्रहोंके प्रसंगमें उनकी तृष्णामें इस जीवनको उलझायें नहीं। आसानीसे जो आप हो उसमें संतुष्ट रहें, पर परिणामों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में निर्मलता रहे और ज्ञानस्वभावी परमात्मतत्त्वके प्रति दृढ़ता बन जाय, ऐसा एक अपना निर्णय होना चाहिए।

औपशमिक आदि भावोंको जीवके स्वतत्त्व माननेके समर्थनका उपसंहार—तत्त्वार्थसूत्रमें मोक्ष जानेकी कुञ्जीका वर्णन है। मोक्षका मार्ग क्या है— इसका वर्णन तत्त्वार्थसूत्रमें है और इसी कारण तत्त्वार्थसूत्रके प्रति पूज्यताका भाव प्राय: सभी जनोंको है। मोक्षमार्ग क्या है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। सम्यग्दर्शनका अर्थ है—आत्मा का जो वास्तविक स्वरूप है, अपने आपके सत्त्वके कारण जो आत्माका स्वभाव है, स्वरूप है उस रूपमें अपना श्रद्धान बनाना कि मैं तो यह हूं, इसे कहते हैं सम्यग्दर्शन और इस ही अंतस्तत्त्व की जानकारी बनाये रखना यह है सम्यग्ज्ञान और ऐसी ही जानकारीमें रमना यह है सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन उत्पन्न करनेके लिए याने सहज आत्मस्वरूपमें 'यह मैं हूं' ऐसा श्रद्धान बनानेके लिए उपाय क्या है ? जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, इन ७ तत्त्वोंका सही परिचय करना। तो तत्त्वार्थ सूत्रके प्रथम अध्यायमें तो इन सबके परिचयके उपायोंका वर्णन है, प्रमाण नयका वर्णन है। प्रमाण और नयोंसे जीवादिक तत्त्वोंका ज्ञान होता है। सो उन उपायोंका वर्णन करने के बाद दूसरे अध्यायसे इन तत्त्वोंका वर्णन चलता है। दूसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका वर्णन है। प्रथम यह बताया है कि जीवके स्वतत्त्व क्या हैं ? तो औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये भाव हैं। जीवके स्वतत्त्व खूब विवरणके साथ यह वर्णन चला। उसके बाद यह आशंका हुई कि जीवका स्वतत्त्व केवल चित्प्रकाश मानना चाहिए। एक चैतन्यस्वभाव जो सहज है, स्वतंत्र है, निरपेक्ष है, आत्माका प्राणभूत है, वही मात्र स्वतत्त्व है। शंकाकारका कहना एक नयसे तो ठीक है, वहाँ कोई भेद न आना चाहिए, पर यह परिचयका प्रकरण है। जीवमें जो-जो बात हो सकती है चाहे उपाधिवश हो, चाहे उपाधि बिना हो, वे सब जीवके परिणाम कहलाते हैं, इसलिए वे सब जीवके स्वतत्त्व है, इस तरहसे परिचय कराया गया है। पदार्थ जिस रूपमें परिणमता है वह परिणाम उस पदार्थसे तन्मय है और उस समय वह उसका लक्षण है, वह उसका तत्त्व है, इस दृष्टिसे भले ही कर्मके उपशमका निमित्त पाकर कोई जीवमें परिणाम जगा, पर जीव ही तो वैसा परिणमा, अजीव तो नहीं परिणमा, इसलिए ये भाव जीवके स्वतत्त्व हैं। यही उत्तर क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भावमें है। हाँ पारिणामिक भावमें जो सहज जीवत्व भाव है उसे तो शंकाकार मानता ही है।

अमूर्त आत्माका मूर्त कर्मपुद्गल द्वारा अभिभव होनेकी चर्चा—जीवके स्वतत्त्वका वर्णन किये जानेके बाद अब एक आशंका होती है कि आत्मा तो अमूर्त है। उसमें रूप, रस,

http://sahjanandvarnishastra.org/

गंध आदिक नहीं। तो आत्माके इस स्वभावका, आत्माके इस चैतन्यप्रकाशका तिरस्कार हो कैसे गया? और तिरस्कार हुए बिना औपशमिक, औदयिक आदिक भाव नहीं बन सकते। आत्मा अमूर्त है, उस आत्माका अभिभव न बनना चाहिए। बस स्वतत्त्व एक ही रहना चाहिए। जीवत्व, चैतन्य भाव, चित्स्वभाव ये भाव जीवके न कहलाने चाहियें, क्योंकि अमूर्त आत्माका तिरस्कार ही नहीं हो सकता। इस आशंकाका समाधान यह है कि देखिये आत्मा चैतन्यवान है। यह तो सब लोग मानते हैं। अब अनादि निरुपाधि चैतन्यभावमय आत्माके जो-जो भाव होते हैं वे सब चेतन कहे जाते कि नहीं? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक ये चेतन हैं कि नहीं? तो जैसे चेतन परिणाम वाले जीवके जो-जो भी भाव हैं वे चेतन कहे जाने चाहिएँ, यहाँ तक कि नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव ये चेतन हैं। तो जैसे चैतन्यवान आत्माके परिणामोंको चेतन बताया गया है ऐसे ही आत्माके साथ कर्म भी तो लगे हैं। अनादि कालसे संततिबद्ध कर्मका जो बोझ लदा है सो कर्मवान भी तो आत्मा है। फर्क यह है कि चैतन्यवान होना सहजस्वरूप है, कर्म परपदार्थ है। आत्मा चैतन्यवान है स्वरूपसे तो सम्बन्धसे यह कर्मवान भी है। तो ऐसे अनादि कर्म वाले जीवके जो-जो भाव होंगे, चूँकि कर्म हैं मूर्तिक और कर्म वाला बन रहा यह जीव तो मूर्तिकवान जीवके भाव मूर्तिक हो जायेंगे तो मूर्ति कर्मसे मूर्त आत्माका अभिभव बन जायगा।

कथंचित् अमूर्त व कथंचित् मूर्त संसारी आत्माके अभिभवका निर्णय—आत्मा संसारअवस्थामें एकान्ततः अमूर्त नहीं, वह बंधकी दृष्टिसे मूर्त है, लक्षणकी दृष्टिसे अमूर्त है। जब इस जीवको बंधन चल रहा है तो लक्षणकी दृष्टिसे ही तो कह रहे हैं कि बंधन है नहीं जीवके, पर वह लक्षणकी ही तो बात रही। उससे कहीं निर्बन्ध अवस्थाके फल तो न मिल जायेंगे। जैसे गायको बाँध लिया एक रस्सीसे, तो उसके बाँधनेकी तरकीब क्या है कि रस्सीके एक छोरसे रस्सीके दूसरे छोरमें गाँठ लगा दी, यह ही तो गायको बाँधनेकी तरकीब हैं. या यों है कि गायका गला और रस्सी पकड़ा और दोनोंकी गाँठ लगाया। इस तरह तो कोई नहीं करता और अगर करे तो गाय मर जाय। तो जैसे गायका बंधन हो गया है। अब यहाँ लक्षणसे देखो, गायके स्वरूपसे देखो तो गाय नहीं बंधी, मगर इस स्वरूपके देखनेका लाभ क्या? गाय कहीं जा सकती नहीं। वहीं कोई खाना पीना दे तो खा पी ले अन्यथा तकलीफ भोगे। और कोई कहे कि वाह गायके स्वरूपको देखो वह बंधी ही नहीं है, अरे तो गावो यह बात, मगर निर्बन्ध दशाका फल तो उस गायको न मिला। उसे तो बंधनेका ही फल मिलेगा, परतंत्रता मिलेगी, स्वतंत्रताका घात है, अपने आप कुछ कर नहीं सकती। तो जैसे गायकी ओरसे देखें तो निर्बन्ध है और वर्तमान परिस्थितिकी ओरसे देखें तो बंधी है, ऐसे ही इस आत्माको लक्षणकी ओरसे देखो तो अमूर्त है और परिस्थितिकी ओरसे देखो तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मूर्त बन रहा है। कथंचित् मूर्त, कथंचित् अमूर्त, ऐसा अनेकान्तसे सिद्ध करके फिर निर्णय बनायें स्वतत्त्वका। जो लोग इस आत्माको एकान्ततया अमूर्त कहें उन्हें दोष और जो एकान्त से मूर्त कहें उन्हें दोष, मगर कथंचित् मूर्त, कथंचित् अमूर्त रूपसे इस सिद्ध हुए संसारी जीव को ये सब बातें घटित होती हैं। वहां कोई बाधा नहीं।

दृष्टान्त द्वारा आत्माभिभवका दिग्दर्शन—आत्मा अमूर्त है और उस अमूर्त होनेपर भी इस संसार अवस्थामें उसका तिरस्कार हो रहा, अभिभव हो रहा, यह बात दृष्टान्तसे भी समझ सकते हैं। जब कोई मनुष्य शराब पी लेता है तो यह जीव बेहोश हो जाता है कि नहीं? इसको कुछ ज्ञान रहता क्या? सुध रहती क्या? समझ रहती है क्या? उस समय क्या निर्णय या विवेककी बात बता सकता है क्या? खुद विकल जैसा हो जाता है। तो शराब तो मूर्तिक है और जीव अमूर्त है। जीवमें तो रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, लेकिन वर्तमानमें ही देख लो, शराब पीनेसे जीवका तिरस्कार होता, बेहोशी होती, पागलपन आ जाता। देख लीजिए, इससे ही सिद्ध हो जायगा कि अमूर्त होनेपर भी आत्माका पौद्गलिक कर्मके द्वारा अभिभव देखा जाता है और जब कर्मका उपशम है तो औपशमिक भाव हो गया, कर्मका उदय है तो औदयिक भाव हो गया। तो जैसे यह जीव शराब पीकर अपनी स्मृति नष्ट करके काठ पत्थरकी तरह पड़ जाता, बेहोश हो जाता, अभिभव हो जाता, इसी प्रकार कर्मोदयसे अभिभव बनता है आत्माका तो आत्मा भी अपने स्वलक्षणकी पहिचान नहीं कर पाता; चेतना, शुद्धि, जानकारी इनको व्यक्त नहीं कर पाता। उस समयमें यह जीव मूर्त ही कहा जाता। यह एक अपेक्षासे बात चल रही है। इस प्रसंगमें बात यह कही जा रही है कि जैसे शराब पीने से जीवकी स्मृति नष्ट हो जाती है और वह बेहोश काष्ठ पत्थरकी तरह पड़ा रह जाता है ऐसे ही कर्मोंके अनुभागका स्फुटन होनेसे वहां उसका निमित्त पाकर जीवके इन विकारोंका प्रादुर्भाव होता है और यह अपना स्वरूप दृष्टिमें नहीं रहता। वह बेहोश हो जाता है।

शराबपानसे इन्द्रियाभिभव बताकर ज्ञानाभिभवका निषेध करने वाली शंकाका समाधान—यहाँ एक शंका हो सकती है कि शराब पीनेसे तो जीवका अभिभव नहीं होता, किन्तु इन्द्रियका होता, इन्द्रियाँ बेहोश होतीं, मन बेहोश होता। तो मद्य पीनेसे इन्द्रियको मोह बना, जीवको नहीं बना। जीव तो अमूर्त है, उस अमूर्त जीवका कैसे तिरस्कार हो सकता, अमूर्तपर कैसे आवरण आयगा? यह सब तो इन्द्रियोंपर प्रभाव पड़ रहा है। शराब पी ली, इन्द्रियां बेसुध हो गईं, ऐसी शंका करने वाले यह बतायें कि शराब पीनेसे इन्द्रियके बेहोशी तो बताते हो, पर ये इन्द्रियां चेतन हैं या अचेतन? क्या चेतन इन्द्रियोंकी बेहोशी हुई या अचेतन इन्द्रियोंकी बेहोशी हुई? अगर कहो कि इन्द्रियां अचेतन हैं और शराब पीने

http://sahjanandvarnishastra.org/

से इन इन्द्रियोंको मोह उत्पन्न होता है, ये बेसुध होतीं तो शराब पीनेसे अचेतन इन्द्रियको बेहोशी हुई है याने शराब पीनेसे अचेतन बेहोश हो जाता। तब तो सबसे पहले जिस बर्तनमें शराब रखी है उस अचेतन पदार्थको बेहोश हो जाना चाहिए, पर ऐसा तो नही देखा जाता। शराबके सम्बन्धसे जड़ पदार्थ बेहोश होता है क्या? यदि कहो कि नहीं, इन्द्रियां चेतन हैं और शराब पीनेसे ये चेतन इन्द्रियां बेहोश हो जाती हैं तो लगता तो है कुछ ऐसा कि ये इन्द्रियाँ चेतनसी हैं, मगर यह तो बतलावो कि ये इन्द्रियां चेतन अपने आप हैं क्या या चेतनके सम्बन्धसे हैं? जो चेतन आत्मा है उसका सम्बन्ध है इन्द्रियात्मक शरीरसे, इस कारण इन्द्रियां चेतन हैं या इन्द्रियाँ अपने स्वरूपसे चेतन हैं? अगर कहो कि इन्द्रियां अपने स्वरूपसे चेतन हैं तो यह बात तो नहीं पायी जाती, क्योंकि इन्द्रियां तो भौतिक हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके मेलसे मानते ही हैं शङ्काकार।

तो इसमें चेतना कहां है? यह तो चेतनके सम्बन्धसे चेतन कहा जा सकता है। तो अब स्वरूपसे तो चेतन न रहीं इन्द्रियां। चेतनके सम्बंधसे चेतन मानी गई इन्द्रियाँ तो बेहोश हुआ चेतन। मायने जो मूल है, ज्ञान है वह ही बेसुध हो गया। यहां इतनी बात समझनी है कि मूर्तिक पदार्थके सम्बंधसे चेतन बेहोश हो जाता है। चेतन ही तो बेहोश होगा, अचेतन कहां बेहोश होगा? तो यहां यह बात आयी कि मूर्तिक शराबके सम्बन्धसे अमूर्त जीवपर प्रभाव पड़ गया, यह ही बात कर्मके साथ है। कर्म है मूर्तिक पुद्गल, उसमें अनुभाग है, उस में अपने ढंगकी सब बात है। उसमें जब यह जवानी होती है मायने उदय होता है, अनुभाग खिलता है उस कालमें उस अनुभागका प्रतिफलन इस जीवमें होता है और वहां जीव बेसुध हो जाय, प्रभावित हो जाय, जीव स्वभावका अविभव हो जाय तो मूर्तिक कर्म पुद्गल द्वारा अमूर्त जीवका अविभव इस संसार अवस्थामें बना रहता है जब कि सम्बन्धवश बंधवश कथंचित यह जीव भी मूर्त कहलाता है।

जीवतत्त्वके अभावकी एक आशंका—यहां आशंका होती है कि जीव तो कुछ चीज ही नहीं है। किसीने देखा क्या जीवनसे पहले जीवको, किसीने देखा क्या करनेके बाद जीव को, किसीने देखा क्या जिन्दाकी हालतमें जीवको? जीव कोई चीज नहीं है, किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि वायु इनका संयोग होनेसे एक प्रकारकी विचित्र अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है, उसे ही लोग जीव कह देते हैं, एक ऐसी यहां शंका रखी जा रही है। जैसे कि गुड़, कोदों और ऐसी चीजें जिनमें खुद मद नहीं पाया जा रहा, शराबका गुण नहीं पाया जाता उन्हें तो लोग चावसे खाते हैं, वे चीजें शराब तो नहीं कहलातीं, मगर उनका सम्बन्ध हो, वे सड़ते रहें, उनका एक विशिष्ट सम्बन्ध बन जाय तो जैसे उस संयोग विशेषमें मदशक्ति व्यक्त हो जाती है ऐसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इनमें जीवत्व कुछ नहीं है, पृथक्-पृथक् पड़े हैं,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उनमें क्या है ? जड़ हैं, पर उनका सम्बंध बन जाय, संयोग विशेष हो जाय तो उसमें एक शक्ति उत्पन्न होती है। जिसमें विकल्प हो, जानकारी हो, चेतना आ जाय, इस तरहकी बात उत्पन्न हो जाती है। जीव नामका पदार्थ कोई अन्य है, फिर जीवके स्वतत्त्व कहना यह कोई योग्य बात नहीं है, ऐसी एक आशंका होती है। कुछ सुनने वाले लोग कहते हैं कि कैसी विचित्र शंका की जा रही है ? तो भले ही एक ऊपरी ढंगमें एक अद्भुत बात लगे, मगर इस विश्वासके मनुष्य बहुसंख्यक हैं कि जीव नामकी कोई चीज नहीं है। यह तो सब पृथ्वी वगैरा के मेलसे बन गया है। सिद्धान्ततः तो चार्वाक मानते हैं और प्रयोगात्मक रूपसे कुछ मनुष्यों को छोड़कर बाकी सभी मानते हैं। यह जीव तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनके मेलका परिणाम है, ऐसा प्रायः सभी लोग मानते हैं।

जीवतत्त्वके अभावकी आशंकाका परिहार—अब इस शंकाके प्रतिपादनमें सोचें—क्या यह चेतना पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनके संयोगसे बनी ? अगर इनकी चीज है चेतना तो देखो जैसे रूप, रस आदिक इस शरीरमें पाये जाते हैं तो शरीर पिण्डरूप रहे तो रूप, रस आदिक रहते हैं और शरीर अगर बिखर जाय, छिद जाय तो भी रूप, रस आदिक रहते हैं, और इसमें कोई हानि पड़े तो वह क्रमसे हानि होती है। ऐसे ही अगर इस शरीरमें चेतना है तो शरीर जब मिला हुआ है तब या शरीर बिखर जाय तब, उस बिखरेमें भी चेतना पायी जानी चाहिए, और उस चेतनाका लोप हो, हानि हो, अगर कुछ कमी आये तो वह उसमें क्रमसे आना चाहिए, मगर पृथ्वी आदिकके रूपादिकमें जैसी बात है वैसी बात चेतनामें नहीं है। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके सम्बन्धका नाम अगर चेतना है तो जब यह शरीर मुर्दा हो जाता है तब भी तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका संबन्ध है कि नहीं। वहाँ फिर चेतना क्यों नहीं रहती ? अगर यह कहा जाय कि है तो सही पृथ्वी, जल, अग्नि वायुका पिण्ड, किन्तु हैं वे सब मुर्दा, उसमें सूक्ष्मभूत न रहा, कोई सूक्ष्मभूत था वह निकल गया याने जो दिख रहा है वह तो स्थूलभूत है, स्थूलभूत तो बराबर पड़ा है। भूत मायने पिंड पृथ्वी, जल, आदिकका समुदाय स्थूलभूत तो पड़ा रहेगा, मगर उसमेंसे सूक्ष्मभूत निकल गया इसलिए उसमें अब चेतना न रही। तो पहले तो एक यह ही विरुद्ध बात है, अरे सूक्ष्मभूत निकल गया, उसका प्रभाव आना चाहिए या स्थूलभूत पड़ा है उसका प्रभाव आना चाहिए। सूक्ष्मभूत न रहा, स्थूलभूत तो है, सो चेतना बराबर रहना चाहिए। स्थूलभूतका असर बड़ा होना चाहिए और कहते कि नहीं, यह बात स्थूलभूतमें पायी नहीं जाती, यह तो सूक्ष्मभूतमें पायी जाती है। तो इसमें फर्क क्या है ? सिर्फ नामका फर्क है। तुम कहते हो सूक्ष्मभूत और हम कहते हैं जीव। नामका अन्तर पड़नेसे पदार्थके स्वरूपमें अन्तर तो नहीं पड़ जाता और फिर दूसरी बात अब भी अगर हठ करो कि हम तो सूक्ष्मभूतको जीव नामसे कहेंगे ही नहीं,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह भी पृथ्वी, जल ग्रादिक है, स्थूलभूत भी पृथ्वी जल ग्रादिक है, तो इस हठपर फिर यह मानना पड़ेगा कि वह चेतन समुदायसे नहीं बनता, किन्तु सूक्ष्मभूतका ही ग्रसाधारण गुण है। नामपर ही डटे रहें, मगर वह पिंड बननेसे कोई शक्ति व्यक्त हुई है यह बात न ग्रायगी, किन्तु वह सूक्ष्मभूतका ही ग्रसाधारण गुण है चेतना। हम कहते हैं जीवका ग्रसाधारण गुण। स्वीकार तो यह कर लेना चाहिए कि जैसे सूक्ष्मभूतका ग्रस्तित्व माननेपर ग्राप ग्रायेंगे तो उसी तरह ग्रात्माका भी ग्रस्तित्व मान लेना चाहिये।

पदार्थ दो हैं—पुद्गल ग्रौर जीव। इनमें यह बात कहकर मत टालो कि शराब पीने से इन्द्रियाँ बेहोश होती हैं, जीव बेहोश नहीं होता, जीव ग्रमूर्त है, उसका ग्रभिभव नहीं बनता ग्रौर ग्रभिभव बने बिना ये जीवके स्वतत्त्व कहना ठीक नहीं मालूम होता। मूर्तिक कर्म पुद्गलके सम्बंधसे, बंधके प्रति एकत्व हो जानेसे इस ग्रमूर्त जीवका ग्रविभव हुग्रा करता है ग्रौर ग्रच्छा देखो जो इस हठपर ग्रड़े हैं कि शराबके सम्बंधसे इन्द्रियको ही बेहोशी हुई है तो वे यह बतलायें कि किन इन्द्रियोंकी बेहोशी कह रहे, वे ग्रन्तःकरण हैं या बाह्यकरण? ग्रन्तःकरणकी बेहोशी कहते हो या बाह्यकी। बाह्यइन्द्रिय तो ग्रचेतन हैं, उन्हें तो व्यामोह हो नहीं सकता ग्रौर ग्रन्तःकरण (भीतरी इन्द्रिय) की बेहोशी कहेंगे तो उनमें ये दो बातें तो सोचनी पड़ेंगी कि वे चेतन हैं या ग्रचेतन? ग्रचेतन हैं तो बेहोशी हो नहीं सकती ग्रौर चेतन हैं तो ज्ञान ही रूप तो कहलायगा वह। जिसे कहते हैं भावेन्द्रिय। भावेन्द्रियमें बेहोशी होना मायने जीवको बेहोशी होना। इस प्रकार मूर्त पुद्गल कर्मके सम्बंधसे जीवके स्वभावका ग्रभिभव बनता, तिरस्कार होता, ऐसी स्थितिमें उपाधिके उपशम ग्रादिकके भेदसे जीवमें ये ग्रौपशमिक ग्रादिक तत्त्व बन जाते हैं ग्रौर इन तत्त्वोंसे जीवका बोध बनता है। ग्रौपशमिक ग्रादिक भावोंको देखकर जीवके स्वरूप ग्रौर जीवकी परिस्थितिका सब परिचय मिल जाता है। यों जीवके स्वतत्त्वके परिचय करनेके प्रसंगमें प्रथम जीवके स्वतत्त्वका वर्णन हुग्रा।

बन्धदशामें एकत्व होनेपर भी विविक्तताके परिचायक ग्रात्मलक्षणकी जिज्ञासा—हम ग्राप सब जीव हैं ग्रौर इस देह पिण्डके ग्रन्दर बँधे हुए हैं। जीवका स्वरूप तो चैतन्य है जो कि ग्रमूर्त है, किन्तु बन्धन दशामें यह बन गया मूर्तिक। ग्रमूर्त होकर भी बँधा हुग्रा होने से यह मूर्तिक जैसा बन गया। तब दो दृष्टियोंसे यहाँ परखा जा रहा है कि बंधके प्रति एकत्व होनेसे याने गाढ़ बंधन होनेसे यह जीव मूर्तिक है, किन्तु जीवके लक्षणकी ग्रोरसे देखा जाय तो जीवका लक्षण तो सदा एकस्वरूप है। लक्षण ग्रव्याप्त नहीं होता कि कभी पाया जाय, कभी न पाया जाय। तो उस लक्षणकी ग्रोरसे देखते हैं तो जीव ग्रमूर्त है। जब बंधके प्रति एकत्व समझा ग्रौर उस दृष्टिसे निहारने चले तो जीवमें ग्रौदयिक ग्रादिक भावोंकी सिद्धि होती है। कषायादिक परिणाम जीवके स्वतत्त्व हैं, ग्रौर जब मात्र त्रिकालव्यापी लक्षणभूत

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चैतन्यस्वरूपकी ओरसे देखा जाता है तब कहा जायगा कि इस जीवका स्वतत्त्वमात्र जीवत्व भाव है। देखिये ५३ भावोंमें एक भाव जीवत्व और शेष भाव ५२ ये एक ओर, यह एक ओर। ५२ भावोंमें कुछ न कुछ अपेक्षा लगी हुई है। यद्यपि भव्यत्व और अभव्यत्व भावको भी पारिणामिक कहा है। वह कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे नहीं है, लेकिन परम्परया उन कारणोंकी अपेक्षा तो बन गई है। एक जीवत्व भाव जीवका सुलक्षणभूत त्रैकालिक पारिणामिक स्वरूप है। यों निष्कर्ष यह निकला कि जब बंध दशाको देखते हैं तो जीव की नाना दशायें होती हैं और जब लक्षणकी ओरसे देखते हैं तो जीवका एक जीवत्व चैतन्य स्वरूप है। ऐसी चर्चाके बाद यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि वह लक्षण क्या है? उसे विस्तारसे समझना चाहिए कि लक्षणके होनेसे यह जीव बंधनदशामें भी शरीरादिकसे न्यारा है, एकमेक नहीं हुआ है, वह लक्षण क्या है? उस ही लक्षणका वर्णन करते हैं।

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

जीवके लक्षणकी आख्या—इस सूत्रका अर्थ तो इतना ही है कि उपयोग लक्षण है। अब किसका लक्षण है यह शब्द इस सूत्रमें नहीं दिया है, लेकिन दूसरे अध्यायमें जो सबसे पहला सूत्र है उसमें 'जीवत्व' शब्द आया है। जीवस्य स्वतत्त्वं–इससे जीवस्य शब्दकी अनुवृत्ति की। उपयोगो लक्षणं, इस सूत्रका तात्पर्य बहुत ध्यानसे क्रमशः सुनेंगे तो इसमें आपको कितना ही तथ्य मिलेगा। सूत्रमें केवल इतने ही शब्द हैं उपयोग लक्षण है। किसका लक्षण है यह बात सूत्रमें नहीं लिखी, लेकिन जो पहला सूत्र हैं, जिसमें लिखा है जीवस्य स्वतत्त्वं, औपशमिक आदिक जीवके स्वतत्त्व हैं, उस सूत्रसे जीवस्य निकालकर यहाँ रखा, तब अनुवृत्ति करने के बाद सूत्र बना—जीवस्य उपयोगो लक्षणं, जीवका लक्षण उपयोग है। आप सोचेंगे कि पहले सूत्रके बाद ६ सूत्र और आ चुके हैं। इन ६ सूत्रोंका व्यवधान होने पर भी कैसे जीवस्यकी अनुवृत्ति यहाँ लगाई गई? बहुत पहले सूत्रमें एकदम शब्द हो उसकी तो अनुवृत्ति हो जायगी। जैसे कोई कथा लिखता है ना, कोई बात कहता है, तो सर्वनाम शब्द जो होता है उस प्रयोगसे जो प्रथम वाक्यमें हो वह ही तो लिया जायगा कि बहुत पहले कहे हुए, कल कहे हुए, जिसका नाम किया वह आदि शब्दसे कैसे ले लिया जायगा? तो 'जीवस्य' यह शब्द ६ सूत्रोंसे व्यवहृत हो गया, फिर कैसे लिया गया? तो उत्तर यह है कि जो ६ सूत्र हैं उन सूत्रोंमें भी जीवस्यकी झाँकी चली आ रही है।

जैसे दूसरे सूत्रमें कहा है कि २, ६ आदिक भेद वाला है, कौन है? स्वतत्त्व। किसके? जीवके। तीसरे सूत्रमें कहा है कि औपशमिक और चारित्र। किसके? जीवके। प्रत्येक सूत्रमें जीवस्यकी झाँकी चली आयी। इसलिए उस झाँकीके सिलसिलेमें यह भी 'जीवस्य' शब्द रहा। जीवका लक्षण उपयोग है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वतत्त्व और लक्षणमें अन्तर—देखिये इस सूत्रसे पहले जीवके स्वतत्त्वका वर्णन है। जीवके स्वतत्त्व ५ हैं–औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक। और यहाँ कह रहे--जीवका लक्षण उपयोग है, तब दो बातें आयीं ना तुलनामें---स्वतत्त्व और लक्षण। जीवके स्वतत्त्व तो और हैं और लक्षण कुछ और हैं। स्वतत्त्व और लक्षणमें अन्तर क्या है? क्यों जुदे-जुदे रूपसे यह कहा गया है? हाँ अन्तर है। स्वतत्त्व तो लक्ष्य है और उपयोग लक्षण है। वह किस प्रकार? उपयोग द्वारा क्या परखा जाना है? परखा तो जाना है जीव, मगर जीव क्या पर्यायोंसे भिन्न रहता है? प्रत्येक पदार्थ पर्यायमें होता है। पर्यायशून्य कोई द्रव्य नहीं होता। तो जीवकी पर्यायें इन ५ भावोंरूप हैं। तो उन ५ भावोंमें से देखिये दो हैं—क्षायिक और क्षायोपशमिक। क्षायिक भावमें केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायोपशमिक भावमें तीन मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगावधि और ४ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान और तीन दर्शन–चक्षु, अचक्षु, अवधि, इन सब भेदोंमें व्यापकर रहने वाला है उपयोग। देखना भेद तो बन गए ये, मगर ये रहे स्वतत्त्व और इनमें व्यापकर रहने वाला है उपयोग। तो जो सामान्य उपयोग है वह जीवका लक्षण है। यह न कह सकेंगे कि केवलज्ञान जीवका लक्षण है या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान आदि कोई उपयोगविशेष जीवका लक्षण है, क्योंकि लक्षण होता है त्रैकालिक। लक्षण कुछ लक्ष्यमें रहे, कुछ लक्ष्यमें न रहे, ऐसा नहीं होता। तो उपयोगसामान्य, ज्ञानसामान्य, दर्शनसामान्य यह जीवका लक्षण है और यह उपयोग इन १२ प्रकारकी पर्यायोंमें, तत्त्वोंमें व्यापक है। यदि मति, श्रुत आदिक ज्ञानोंको लक्षण कह दिया जाय, उपयोग विशेषको जीवका लक्षण कह दिया जाय तो वह लक्षण अव्याप्त रहा, सबमें नहीं पाया गया। जो केवलज्ञानी है उसमें ही केवलज्ञान है, सब जीवोंमें तो नहीं। जो मति-ज्ञानी हैं उनमें मतिज्ञान है, सबमें तो नहीं, किन्तु सामान्य सब जीवोंमें पाया जाता है, इस-लिए जीवका लक्षण उपयोग है। स्वतत्त्व तो विशेष बात है और उपयोग सामान्य बात है। इस तरह इस सूत्रका अर्थ हुआ—उपयोगः जीवस्य लक्षणं, उपयोग जीवका लक्षण है।

उपयोगका स्वलक्षण—उपयोग शब्दकी व्याख्या अकलंकदेवने ऐसे नपे-तुले शब्दोंमें की है कि जिसमें इस जीवके अनेक तथ्योंपर प्रकाश डाला है। अकलंकदेव एक बहुत बड़े नैयायिक, सैद्धान्तिक, वैयाकरण और आचार-विचारके बहुत निष्णात विद्वान् थे। बड़े-बड़े आचार्योंके द्वारा जो लेखनी चलती है, न उसमें कोई शब्द व्यर्थ होता है और न कोई बात छूट जाती है।

उपयोगका लक्षण अकलंकदेवने बताया है—बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासम्भव-मुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः। इसमें कितने पद हैं? बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वय-सन्निधाने यथासम्भवं उपलब्धुः चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः। जीवका लक्षण उपयोग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है, यह बात तो सूत्रमें कही है, और उपयोगका लक्षण क्या है, किसको उपयोग कहते हैं ? कैसे हम समझें कि यह उपयोग है ? तो कहा—परिणामः उपयोगः। परिणाम उपयोग है। कौनसा परिणाम ? परिणाम तो जगतमें सब पदार्थोंमें है ही। तो शब्द आया चैतन्यानुविधायी, जो चैतन्यका अनुविधान करता है, ऐसा परिणाम उपयोग है। जो चैतन्यस्वरूपके अनुसार बना करता है, व्यक्त होता है वह परिणाम उपयोग है। उपयोग शब्द एक ऐसा साधारण शब्द है कि जिसका लोग अक्सर करके प्रयोग किया करते हैं। जैसे—अजी, यह चीज तो खरीद लाये, पर इसका उपयोग तो करो। आपको अमुक चीज भेंट देते हैं, इसका उपयोग कीजिए। यह ग्रंथ लीजिए, इसका आप उपयोग कीजिए। आपने ज्ञान पाया है उसका उपयोग कीजिए। धार्मिक जितनी सुविधायें मिली हैं उनका उपयोग कीजिए। यों इस उपयोग शब्दका बहुत प्रयोग होता है, पर वह उपयोग है क्या चीज ? कोई उसका एक फल।

तो आत्माका उपयोग आत्मासे भिन्न नहीं होता। आत्माका जो चैतन्यस्वरूप है उसका जो उपयोग बनेगा वह आत्माका ही एक भाव है। वह भाव उपयोग है। क्या शब्द दिया है ? जो चैतन्यका अनुविधान करने वाला परिणाम है वह उपयोग है। खाली परिणाम का नाम उपयोग नहीं और खाली चैतन्यका नाम उपयोग नहीं। केवल चैतन्य जीवका लक्षण नहीं और केवल परिणाम जीवका लक्षण नहीं। मुझमें चैतन्यस्वरूप है कि नहीं है और परिणाम बनता कि नहीं, जानकारी रहती कि नहीं। कुछ न कुछ जानता रहता है ना, वह है परिणाम। जानता न हो, परिणाम हो तो क्या वह उपयोग है ? परिणाम न हो, चैतन्य मात्र हो तो क्या वह उपयोग है ? इन शब्दोंमें सांख्य सिद्धान्तको चेतावनी है। इस सिद्धान्त में आत्माका चैतन्यस्वरूप तो माना गया है—चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं, मगर परिणाम नहीं माना। जो यह परिणाम है जानकारी रखनेका, यह सब प्रकृतिका धर्म माना गया है। दो पदार्थ हैं इस सिद्धान्तमें, प्रकृति और पुरुष याने आत्मा और जड़ वस्तु। तो ज्ञानादिक जितने भी परिणाम हैं ये जड़ वस्तुके परिणमन हैं, आत्मामें परिणमन नहीं होते। मेरा तो मात्र चैतन्यस्वरूप है। युक्तिसे विचारो, अनुभवसे समझो, परिणाम बिना कोई सत् ही नहीं। देखिये—कैसे नपे-तुले शब्द हैं कि जिन शब्दोंसे असाध्य सिद्धान्तोंका निराकरण होता है और अपने आपमें कुछ उपलब्धि भी होती है। चैतन्यका अनुविधान करने वाला परिणाम उपयोग है। परिणामका भी बहुत जगह प्रयोग होता है। इसका परिणाम क्या है ? इसका परिणाम क्या निकलेगा ? इसका परिणाम तुम ही भोगोगे। वह परिणाम क्या है ? एक स्फुटन, एक व्यक्तपना। क्या व्यक्त होगा, क्या बीतेगी वह सब परिणाम। तो चैतन्यका अनुविधान करने वाला चैतन्यकी व्यक्तियोंरूप जो एक परिणाम है उसका नाम परिणाम है। यह परिणाम किसका होता है ? उपलब्धुः, यह शब्द डाला है। मायने आत्मा उपलब्धि करता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कुछ पाता है आत्मा। उस आत्माका है यह परिणाम उपयोग। देखो इसमें भी सांख्य सिद्धान्तका संशोधन होता है। प्रकृतिका नहीं है परिणाम उपयोग, किन्तु उपलब्धः का है, पुरुषका है, चेतन आत्माका है। तो इतनी बात आयी कि आत्माके चैतन्यस्वरूपका अनुविधान करने वाले परिणामको उपयोग कहते हैं।

बाह्याभ्यन्तर कारण नाम देकर भी द्वय शब्द और लिखनेका तथ्य—उपयोग बनता कैसे है? तो उसके लिए कहा है कि बाह्य और अन्तरङ्ग इस कारणद्वयके सन्निधान होनेपर यह परिणाम बनता है। देखिये जब कारणोंका जिक्र किया जायगा तब आप यह परखते जायेंगे कि ऐसा कारण तो सब जीवोंको नहीं मिलता। फिर उनका उपयोग कैसे बनेगा? इसीलिए एक शब्द दिया है—यथासम्भवं। जिन जीवोंको जो हेतु मिल सकता है, मिलेगा और उसके सन्निधान होनेपर आत्माके परिणाम बनते हैं, जानकारियाँ चलती हैं प्रतिभास चलता है उसका नाम उपयोग है। अब कारणकी बात देखिये, क्या कहा गया—बहिरंग और अंतरंग, इस कारणद्वयका सन्निधान होनेपर कितने कारण कहे गए हैं? दो—बहिरंग और अंतरंग, लेकिन एक शङ्का यह हो सकती है कि जब दो कारणोंके नाम डाल दिये बहिरंग और अन्तरङ्ग तो दो कारण तो अपने आप आ ही गए। फिर इसके बाद यह क्यों कहते हैं कि इस कारणद्वयके सन्निधानमें अगर इतना ही कह दिया जाय कि बहिरंग और अन्तरङ्ग कारणका सन्निधान होना तो इसमें और उसमें क्या अन्तर आया? और 'दो' शब्द डालनेकी जरूरत भी नहीं रहती। शब्द तो जितने कम बोले जायें उतना ही भला है। अर्थ पूरा आना चाहिए। तो इतना अगर कह दिया कि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणोंका सन्निधान होनेपर, तो भी वह ही बात थी और ऐसा कह दिया कि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग इस कारणद्वयका सन्निधान होनेपर तो वही बात रही। द्वय शब्द और क्यों डाला इसके अन्दर?

तो समाधान समझो—आचार्योंकी बात कोई व्यर्थ नहीं होती, उसमें कोई तथ्य होता है। यह व्यर्थ पड़ा हुआ द्वय शब्द यह सूचित करता है कि दो कारणोंकी बात नहीं कहीं गई, किन्तु २ × २ = ४ कारणोंकी बात कही गई। दो बहिरङ्ग कारण और दो अंतरङ्ग कारण, ऐसे चार कारणोंका सन्निधान होनेपर उपलब्धःके चेतनका सम्बन्ध रखने वाले परिणामको उपयोग कहते हैं। देखिये– आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं, इतना भर नहीं कहा, क्योंकि आत्माके परिणाम तो औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि अनेक हैं, पर उन सबमें से जो चैतन्यका अनुविधान करता है उन परिणामोंका नाम उपयोग है। चैतन्य मायने ज्ञान दर्शन, इन ज्ञान दर्शन गुणोंके जो परिणाम हैं वह उपयोग है।

उपयोजनके दो बहिरङ्ग कारणोंका वर्णन—हाँ कारणोंकी बात सोचिये—बहिरङ्ग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कारण दो हैं और अन्तरङ्ग कारण दो हैं। हम आप जो जानकारियाँ किया करते हैं इसमें बोलो रोशनीकी जरूरत पड़ती कि नहीं ? नहीं है रोशनी तो नहीं जान पाते। और आँख वगैराकी भी जरूरत पड़ती कि नहीं ? आँख फूटी है तो नहीं देख पाते। तो आँखें भी बहिरंग कारण हैं और दीपक भी बहिरंग कारण है। आँखें कोई आत्माकी चीज तो नहीं, जो द्रव्येन्द्रिय हैं वे तो जड़ हैं, भिन्न चीज हैं। तो बहिरंग कारण दो रूपोंमें आया। प्रकाशादिक और इन्द्रियाँ। इनमेंसे इन्द्रियाँ तो आत्मभूत हैं और दीपक अनात्मभूत है। देखिये अपेक्षासे अर्थ समझना है। कहीं बहिरंग कारण भी आत्मभूत होता है क्या ? न होना चाहिए, क्योंकि आत्मभूत है तो बहिरंग क्यों और बहिरंग है तो आत्मभूत कैसे, लेकिन इसमें अपेक्षा लगाना है। इस प्रकार कि दीपक तो अत्यन्त भिन्न कारण है। उसका तो कोई आत्मासे किसी भी प्रकारका बन्धन नहीं और द्रव्येन्द्रिय बहिरंग होने पर भी उस दीपक कारणकी अपेक्षासे ये आत्माके निकट हैं। आत्मा है, इन्द्रियमें आत्मप्रदेश हैं। द्रव्येन्द्रिय भी तो बाह्य निवृत्ति और अन्तरंग निवृत्ति दोनोंसे बनी है, तो प्रदीपकी अपेक्षा ये इन्द्रियाँ आत्मभूत हैं। आखिर जब दो कारण हैं एक प्रकाशादिक और एक इन्द्रिय तो उनमें कुछ फर्क नहीं है क्या भेद-अभेदका ? आत्मासे सम्बन्ध और असम्बन्धका। ऐसे दो बहिरंग कारण होते हैं। उपयोग बनानेके लिए हमारी जानकारियां चलतीं। यह बात सर्वत्र ध्यान रखनी कि जो बात कही जा रही है यह सब जीवोंमें घटित नहीं होती। क्या केवली भी इन्द्रियसे जानते हैं ? क्या उनको भी दीपककी आवश्यकता है ? औरको जाने दो, बिल्ली सिंह आदिकको भी जरूरत नहीं प्रकाशकी, वे बिना प्रकाशके ही देखते रहते हैं, इसीलिए यथासंभव शब्द दिया है। जहाँ जैसा सम्भव है उस प्रकार इन कारणोंका सन्निधान होता है तब जीवका उपयोग चलता है।

उपयोजनके दो अन्तरङ्ग कारणोंका वर्णन—अच्छा, अन्तरङ्ग कारण भी देखिये, अंतरंग कारण भी दो प्रकारके हैं– अनात्मभूत और आत्मभूत। यहाँ भी आप एक शंका कर सकते हैं कि अन्तरंग है तो अनात्मभूत कैसे और अनात्मभूत है तो अन्तरंग कैसे, लेकिन अपेक्षा तुलना करनेसे समस्याका समाधान स्वयं होता है। अनात्मभूत अंतरंग कारण है मन, वचन, कायकी चेष्टा, योग। मन लगे, ज्ञान करना चाहिए, कुछ यह प्रयत्न होता है, मन, वचन, कायमें कुछ, वह अन्तरंग कारण है। मन, वचन, कायका प्रयत्न इन इन्द्रियोंसे भी और नजदीककी चीज है इसलिए अंतरंग कारण है, पर जीवस्वरूपसे भिन्न है, अतएव अनात्मभूत है, किन्तु मन, वचन, कायके योगका निमित्त पाकर जो भावयोग होता है और साथ ही वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण, दर्शनावरणके क्षयोपशमसे जो आत्मामें एक प्रसाद होता है निर्मलता और प्रसाद मायने अभिमुख होना, ऐसा जो प्रसाद है वह आत्मभूत अन्तरंग कारण है। इस प्रकार दो प्रकारके बहिरंग कारण, दो प्रकारके अन्तरंग कारण, इनका यथासम्भव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सन्निधान होनेपर आत्मामें चैतन्यका सम्बन्ध रखने वाले जो परिणमन हैं, परिणाम है उसे उपयोग कहते हैं और यह उपयोग जीवका लक्षण है। यह इस सूत्रका अर्थ है।

उपयोगकी जीवलक्षणताका उपसंहार—अब तक यह बात कही गई है कि जीवका लक्षण उपयोग है और प्रकरणानुसार यों कह लीजिए कि स्वतत्त्वमय जीवका लक्षण उपयोग है। कभी उपयोग लक्षण है और स्वतत्त्व लक्ष्य है, क्योंकि स्वतत्त्वकी जीवसे अभिन्नता है। जिस कालमें, जो भाव है उस कालमें उस भावसे जीव तन्मय है। उस जीवकी पहिचान करायी जा रही है, किस लक्षण द्वारा? उपयोग द्वारा। उपयोग जीवमें सर्वदा पाया जाता है और चाहे किसी स्वतत्त्वमें हो, कषायमें हो, सम्यक्त्वमें हो, केवलज्ञानमें हो, अच्छे बुरे किसी भी भावमें जीव हो जीवमें उपयोग नियमसे है, ऐसा ज्ञान दर्शन सामान्यात्मक उपयोग जीवका लक्षण है। वह उपयोग कैसे उत्पन्न होता है? उसका कारण भी बताया गया है—बाह्य कारण और अन्तरंग कारण ये यथासम्भव मिल जायें तो आत्माके चैतन्यस्वरूपसे सम्बन्ध रखने वाला जो परिणमन होता है उसको उपयोग कहते हैं। सो देख लो जीवकी पहिचान उपयोग द्वारा ही हो पाती है। जैसे कोई पूछे कि बताओ कुर्सी, कागज, कलम आदि ये जीव हैं कि नहीं? तो कहते हैं कि नहीं हैं, क्योंकि ये जीव नहीं हैं, इनमें उपयोग नहीं पाया जाता, और बैल, घोड़ा, मनुष्य आदिक ये जीव हैं कि नहीं? हाँ हैं। कैसे समझा कि इनमें उपयोग पाया जाता है। तो उपयोग कहो याजानना देखना कहो, जो चैतन्यसे सम्बन्ध रखने वाला परिणमन है वह उपयोग है और यह उपयोग जीवका लक्षण है, ऐसा अनेक युक्तियोंसे सिद्ध किया गया है।

लक्षणका लक्षण तथा प्रकार—अब इस प्रसंगमें एक नई चर्चा आयी। उपयोगकी व्याख्या तो कर दी गई। अब सूत्रमें बचा हुआ जो दूसरा शब्द है लक्षणं, बस लक्षणकी बात कही जा रही है कि लक्षण किसे कहते हैं। लक्षणका लक्षण है परस्पर मिले हुए पदार्थोंमें जिसके द्वारा भिन्नता ज्ञात होती हो उसको लक्षण कहते हैं। जैसे लोकमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सभी तो एक जगह मिल रहे हैं और अनेक तो ऐसे मिले हुए हैं कि बंधनमें भी हैं, ऐसे अनेक पदार्थोंमें से जीवको छाँट करें, जिसके द्वारा उसे जीवका लक्षण कहेंगे याने जिसमें ज्ञान दर्शन है सो जीव। जिसमें उपयोग है सो जीव। तो अब देख लो, जीवके अलावा बाकी पदार्थ छूट गए ना? वे लक्षणसे बहिर्भूत हो गए। तो परस्पर मिलावट होनेपर जिसके द्वारा किसी पदार्थकी भिन्नता जाँच ली जाय उसको लक्षण कहते हैं।

जैसे दृष्टान्तमें ले लो स्वर्णका लक्षण क्या है? एक विशिष्ट पीलापन गुरुपन। पीला होकर भी वजनदार होना यह स्वर्णका लक्षण है। अग्निका लक्षण क्या? गर्मी। और छतरी वालेका लक्षण क्या? छतरीका सम्बन्ध होना। तो बहुतसे पदार्थ जहां

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं, उनमें से किसी पदार्थकी भिन्नता जिस चिन्हके द्वारा जानी जाय उस चिन्हका नाम लक्षण होता है तो ये लक्षण दो प्रकारके मिलेंगे, जिनसे पदार्थोंकी पहिचान बनती है। वे लक्षण कोई तो उस पदार्थसे अभिन्न होते जिनका लक्षण किया जाता, इसे कहते आत्मभूत तथा कितने भिन्न होते हैं इसे कहते हैं अनात्मभूत। जैसे अग्निका लक्षण गर्मी है तो यह आत्मभूत हुआ, क्योंकि गर्मी अग्निसे अलग चीज नहीं है। गर्मीकी ही आत्मा, अग्निकी ही आत्मा। तो जैसे अग्नि और गर्मी ये भिन्न नहीं हैं, तो यह लक्षण कौनसा कहलाया ? आत्मभूत। कोई लक्षण अनात्मभूत होता है याने लक्ष्यमें मिला हुआ नहीं, लक्ष्यसे न्यारा है। जैसे टोपी वालेका लक्षण क्या है ? टोपी। जो टोपी लगाये हो सो टोपी वाला। तो वह टोपी उस आत्मामें मिली है क्या ? न्यारी है। अलग अपनी सत्ता रखने वाली टोपी इस मनुष्यके साथ संसर्गमें है इसलिए इसे टोपी वाला कहा जाता है। डंडा वाला, छतरी वाला, केले वाला—तो ये भिन्न लक्षण हैं। लक्षण दो प्रकारके होते हैं कोई होता है आत्मभूत और कोई होता है अनात्मभूत।

बच्चे वालेके लक्षणका वाहियादपन—अच्छा यह बतलावो, लड़का वाला। कहते हैं ना कि यह बच्चे वाला है तो बच्चे वालेका लक्षण क्या हुआ ? बच्चा। वह आत्मभूत है या अनात्मभूत। लड़के वाला—ऐसा बोला तो उस आदमीसे वह लड़का भिन्न है कि अभिन्न याने लड़के वालेका लक्षण है लड़का तो वह लड़का आत्मभूत लक्षण है या अनात्मभूत ? अनात्मभूत। आत्मभूत नहीं है। आत्मभूत तो मोहियोंने मान रखा, अज्ञानियोंने समझ रखा कि यह मेरा प्राण है, यह मेरा सर्वस्व है, इससे ही मेरा बड़प्पन हैं, इससे ही मेरा पार पड़ेगा। अरे इस लोकमें भी लड़केसे पार न पड़ेगा। परलोककी बात क्या ? इस लोकमें भी महत्त्व नहीं बढ़ता लड़केसे। लड़का कोई गड़बड़ काम करे तो कहते हैं कि उनके लड़केने ऐसा काम किया, लेकिन महत्त्वका भी ठेका नहीं है लड़केसे और सुख भी नहीं है कोई, क्यों कि बच्चे दो तरहके ही तो निकलेंगे या तो अच्छे या बुरे याने सुपूत या कुपूत। अगर कुपूत है लड़का तो उसका दुःख पिता मानता है कि नहीं ? अरे बहुत दुःख मानता है पद-पदपर। वह व्यसनी हो गया, वह किसीसे उधार ले आया, किसीको पीट आया तो उसका दुःख मानते कि नहीं और अगर लड़का सुपूत निकला तो उसका भी दुःख मानते कि नहीं ? सुपूत लड़केका दुःख तो कूपूतसे भी ज्यादह होता है, क्योंकि कुपूत हुआ तो उससे उदासी हो गई, उपेक्षा कर दी, मेरा कुछ नहीं है। अधिक परेशान हुए तो सबको यह जाहिर कर दिया कि यह लड़का मेरा नहीं, इससे मेरा अब कोई मतलब नहीं, मैं इसका अब जिम्मेदार नहीं। लो सारी इल्लत बच गई और अगर पुत्र सुपूत हुआ तो उसके पीछे तो सारी जिन्दगी दुःखी होना पड़ेगा। वह सुखी हो जाय, इतना बड़ा बने, यों सारे जीवन भर उसके पीछे दुःखी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होना पड़ेगा। तो बच्चे वालेका लक्षण है बच्चा। तो यह आत्मभूत है कि अनात्मभूत ? अनात्मभूत और वाहियाद अनात्मभूत।

जीवके लक्षण उपयोगकी आत्मभूतता—लक्षण दो प्रकारके हुआ करते हैं—कोई आत्मभूत और कोई अनात्मभूत। तो यहां जो बताया जा रहा है सूत्रमें उपयोगो लक्षणं, जीवका लक्षण उपयोग है, सो यह बतलावो कि आत्मभूत लक्षण है या अनात्मभूत ? यह आत्मभूत है, क्योंकि जीवका जो चैतन्यस्वरूप है उसीका ही तो यह उपयोग है। वह जीवसे निराला नहीं है। देखो निरालेपनका यह परिचय है कि वह रहे अन्य प्रदेशमें, यह रहे अन्य प्रदेशमें। जीव तो रहता हो अपने प्रदेशमें, उपयोग रहता हो इससे अतिरिक्त प्रदेशमें तब तो समझो कि ये भिन्न हैं। किन्तु जीव व उपयोग एक ही जगह है, एक ही आधार है, एक ही स्वरूप है, तो उपयोग जीवका लक्षण है, इसे कहेंगे आत्मभूत लक्षण। मेरा स्वरूप ज्ञानदर्शन है, उसका जो व्यक्त रूप है, परिणाम है वह उपयोग है। ज्ञान दर्शनका उपयोग क्या ? जानकारी होना, प्रतिभास होना। उपयोग विशेषको जीवका लक्षण नहीं कह सकते। जैसे मतिज्ञान श्रुतज्ञान ये जीवके लक्षण नहीं हैं। यद्यपि जीवमें पाये जाते हैं, किन्तु यदि श्रुतज्ञान जीवका लक्षण कह दिया जाय तो जिसमें श्रुतज्ञान नहीं है वह अजीव बन बैठेगा। भगवानमें श्रुतज्ञान नहीं है तो वे अजीव हो जायेंगे। केवलज्ञान जीवका लक्षण नहीं है, क्योंकि जहां केवलज्ञान न हो वे अजीव हो जायेंगे, हम आप अजीव बन बैठेंगे। सो उपयोगविशेष जीवका लक्षण नहीं, किन्तु उपयोगसामान्य जीवका लक्षण है। चाहे सिद्ध भगवान हों, चाहे संसारी हों, निगोद हों सबमें उपयोग पाया जाता है।

सही लक्षणका परिचय—अच्छा थोड़ा अब लक्षणके परिचयकी बात समझिये। लक्षण सही कौन कहलाता है ? लक्षण मायने एक पहिचान, जिससे पदार्थोंकी परख होती है। जानते सब हैं, चाहे कोई मुखसे नहीं बता सके, मगर परखमें सब है।

अच्छा बतलाओ चनेका लक्षण क्या है ? आप कहेंगे कि जो गोल हो सो चना, तो बात नहीं बनी। जिसमें नोक निकली हो सो चना। यह भी बात नहीं बनी। गोल हों, नोक निकले हों, किनारे निकले हों सो चना, तो यह भी बात नहीं बनी, कितना ही बोलते जायें आप मुखसे न बोल पायेंगे, मगर परिचय जरूर है। चना देखकर कह उठते ना, यह है चना। लक्षण बिना परिचय नहीं बनता है। तो वह लक्षण निर्दोष कौनसा है जिससे कि लक्ष्यकी पहिचान हो ? लक्षण ऐसा होना चाहिए कि जिसका लक्षण किया जाय वह सबमें पाया जाय और उसके अलावा अन्य किसीमें न पाया जाय। वह लक्षण सही होता है। जिसका लक्षण किया जाता है उसका नाम क्या है ? लक्ष्य। और जिस पहिचान द्वारा लक्ष्य को पहिचाना जाता है उस पहिचानका नाम क्या है ? लक्षण। लक्ष्य और लक्षण—ये दो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बातें समझना।

जैसे अग्निका लक्षण गर्मी, तो लक्षण क्या हुआ ? गर्मी होना। लक्ष्य क्या हुआ ? अग्नि। जैसे जीवका लक्षण उपयोग। लक्षण क्या हुआ ? उपयोग, लक्ष्य क्या हुआ ? जीव। तो लक्षण पूरे लक्ष्यमें रहे और लक्ष्यको छोड़कर अन्यमें न रहे, मायने अलक्ष्यमें न रहे। जो हमारा लक्ष्य नहीं है, जिसका हम लक्षण नहीं कर रहे उसमें वह न पाया जाय तो लक्षण सही है। तो देखलो उपयोग लक्षण सब जीवोंमें है। कोई जीव छूटा नहीं और जीवके अतिरिक्त अन्य किसीमें है ही नहीं, मायने अलक्ष्यमें नहीं है, पुद्गलमें नहीं, धर्ममें नहीं, अधर्म, आकाश, कालमें नहीं, इस कारण जीवका लक्षण उपयोग किया है वह बिल्कुल सही है। तो लक्षण वही सही कहलाता जिसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष नहीं हैं। अव्याप्ति मायने क्या हुआ ? पूरा लक्ष्यमें न रहना, इसको कहते हैं अव्याप्ति। अ मायने नहीं, व्याप्ति मायने रहना, कुछ रहना, पूरा लक्ष्यमें न रहना इसका नाम अव्याप्ति है, यह दोष है। अगर उपयोग लक्षण ज्ञान दर्शन सामान्य सब जीवोंमें न होता तो उपयोगको जीवका लक्षण नहीं कहा जा सकता। चूंकि उपयोगसामान्य सब जीवोंमें पाया जाता है, इस कारण उपयोग जीवका लक्षण है और यदि उपयोग जीवके अलावा अन्यमें जीव पुद्गलमें रहता, धर्ममें रहता तो अतिव्याप्ति दोष होता। फिर उपयोग जीवका लक्षण न कहलाता। सो देखो उपयोग जीवको छोड़कर अन्य किसी पदार्थमें नहीं है। न पुद्गलमें, न धर्ममें, न अधर्ममें बस असंभव दोष तो इन दोनोंके लक्षणसे ज्ञानमें आ जायगा। लक्षण लक्ष्यमें रहे ही नहीं उसे कहते हैं असम्भव दोष। जैसे कह दें कि जीवका लक्षण है रूप रंग होना, यह बिल्कुल असम्भव है। जीवमें रूप रंग होता ही नहीं है।

जीवके विशुद्ध लक्षणकी चर्चा—अब देखो अगर और गहरी दृष्टिसे पहिचानना हो तो जरा बतलावो जीवका लक्षण लो। कषाय है क्या ? जहाँ कषाय हो सो जीव। जो कषाय करे सो जीव, जो क्रोध मान, माया, लोभ करे सो जीव। आप कहेंगे कि कभी यह जीव क्रोध करता और कभी क्रोध नहीं करता। पर घमंडसे बैठा है या मायाचारसे बैठा है, अन्य किसी कषायमें है तब तो वह जीव अजीव बन जायगा। अगर जीवका लक्षण घमंड करो तो जब घमंडमें नहीं है, लोभमें लगा है तो वह अजीव बन जायगा। इससे क्रोध, मान, माया, लोभ ये जीवके लक्षण नहीं हैं, किन्तु कषाय सामान्य जीवका लक्षण है, ऐसा कोई कहे तो क्यों कि कषाय सबमें पायी जा रही है, क्रोध है तो कषाय, मान है तो कषाय, तो यह जीवका लक्षण बन जायगा। बताओ यह बात ठीक है क्या ? कषाय करना यह जीवका लक्षण नहीं है, क्योंकि कषायरहित जो जीव हैं, बड़े योगीश्वर या अरहंत सिद्धभगवान, फिर तो ये अजीव बन बैठेंगे। कषाय जीवका लक्षण नहीं। अच्छा अब जरा और किसी दृष्टिसे पहिचानें

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह तो हुआ एक लक्षण दोषके कायदेके मुताबिक। अब यहाँ स्वरूपसे पहिचानें कि जब कषाय जीवमें उत्पन्न होते और कषाय स्वतत्त्व है, जीवके स्वतत्त्व ५३ कहे हैं, उनमें कषाय भी तो है। तो जब कषाय भाव जीवका स्वतत्त्व है तो उसे फिर लक्षण क्यों नहीं कहते ? अब न्याय-बिधानकी दृष्टि छोड़ दो, हम न्यायकी युक्तिसे बात नहीं करते, हम सीधी बात करते हैं कि जब जीवमें कषाय पायी जा रही हैं तो वह जीवका लक्षण क्यों नहीं ? तो अब जरा बहुत गहरे उतरकर लक्षण बनाओ, जो जीवमें अपने आप सहज अपने ही अस्तित्वसे पाया जाय सो जीवका लक्षण। और जो परके सम्बन्धसे, परके प्रभावमें जो बात बनती हो वह जीवका लक्षण नहीं। अब अध्यात्मपद्धतिसे जीवके लक्षणकी बात समझिये। जैसे कि समयसारमें जीवाधिकार और अजीवाधिकारमें बताया गया है। जीवका लक्षण सहज चैतन्यस्वरूप है।

औपाधिक भावोंकी जीवलक्षणता न होनेका कारण—बात यह होती है कि जब जीव कषायभाव करता है तो उस समय उसके कषाय भावका निमित्त पाकर जो अनेक कार्माणवर्गणायें लगी हैं जीवके साथ वे कर्मरूप परिणम जाती हैं। मायने ऐसा सूक्ष्म पुद्गल अणु मैटीरियल कि जो वज्रसे भी न छिड़े, इतनी सूक्ष्म कार्माणवर्गणा है, सो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि जीव मिथ्यात्वमें हो, कषायमें हो तो वे कार्माण कर्मरूप बन जाते हैं, मायने उनमें अनुभाग बन जाता है, वे पिंडरूप हो जाते हैं, कर्म खुद बिगड़ जाते हैं, कर्म अपने असली पहले स्वरूपमें नहीं रह पाते। जो विस्रसोपचयकी दशामें हैं उनमें स्वयं एकत्व था। आप जब बहुत बढ़िया लड्डू चबाते हैं तो आप भी बिगड़ते और लड्डू भी बिगड़ता। आप तो ऐसा बिगड़ते कि आपकी शक्ल उस समय बिगड़ जाती है, विश्वास न हो तो उस समयकी फोटो खिचाकर देख लो और लड्डू भी बिगड़ता कि नहीं, मुँह बाकर देख लो। यों ही जब जीव कषाय करता है तो जीव भी बिगड़ता और कर्म भी। जो कर्म बन्धनमें आये उन कर्मोंमें बहुत बिगाड़ हुआ, अनुभाग पड़ा, प्रकृति व्यक्त हो गई, स्थिति बन गई, जीवके साथ बन्धन हो गया, उसमें भी तो बहुत बिगाड़ हुआ, पर कर्म बेचारे जड़ हैं, सो जैसे चौकी जल जाय तो चौकीकी बलासे। उसे क्या कष्ट है ? चौकी तो बोलती नहीं मगर कोई कवि चौकीकी ओरसे बोले तो वह यही कहेगा कि हमको तो कुछ भी गम नहीं। न रही चौकी, राख बन गई, चौकी रहती तो जो चाहे उसपर बोझा रखता, हम तो अच्छे हैं, राख बन गए हैं। पुद्गल तो यों बोलता नहीं, उसकी ओरसे कोई कवि ऐसा बोल सकता है अथवा यों चलो कि दुष्ट और सज्जनमें जब संघर्ष हो जाय तो लोग कहते हैं कि इसमें इस दुष्टका क्या बिगाड़ ? वह तो बिगड़ा ही है। बिगाड़ तो इस सज्जनका है। तो कर्मबंध हुआ तो कर्ममें बहुत खलबली हुई, अनुभाग बना और उसका अंदाज यों लगाओ कि जब जीवके कषायभाव बनता है तो यहाँ जो बौखलाहट है, गड़बड़ी है, मलिनता है वैसी सब कर्म

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में भी है, क्योंकि उस कर्मके उदयका निमित्त पाकर ही तो यह हुआ है। दर्पणके सामने ४–५ रंगका रंगा हुआ कपड़ा रखा है तो दर्पणमें जो ४–५ रंगका फोटो है उसको देखकर आप यह कहेंगे ना कि वह कपड़ा भी उतने ही रंग वाला है। जिसका कि निमित्त पाकर दर्पणमें यह यह फोटो आयी। तो इसी तरहसे जीवमें जितनी अपवित्रता है, जो क्षोभ है, जो खराबी है, वैसी वही सब कर्ममें है, क्योंकि कर्मका अनुभाग जब खिलता है तो चूँकि जीव और कर्मका अधिकरण बाह्य आधार एक है, निमित्त बन्धन रूपमें भी एक है तो वह सब इस उपयोगमें प्रतिफलित होता है। यह प्रतिफलन एक आक्रमण है, तिरस्कार है, अंधकार है। यह जीवका स्वरूप नहीं।

कर्मानुभाग प्रतिफलन व चैतन्यस्वरूपमें भेदविज्ञान करनेकी महिमा—देखो पूर्वबद्ध कर्मके अनुभागका जो यहाँ खेलन हुआ, खिलना हुआ वह प्रतिफलन प्रकाशके रूपमें नहीं, किन्तु अंधेरेके रूपमें, तिरस्कारके रूपमें, बस यहाँ जो भेदविज्ञान कर सका सो तो सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी जीव है, उसको फिर किसी प्रकारका कष्ट नहीं। जो यहाँ भेदविज्ञान न कर सका वह कहाँ करेगा ? जैसे कोई बहुत ढालकी गली होती है, ऐसी कि जिसपर कोई गाड़ी मोटर चले तो एकदम लुढ़कती चली जाय। तो किसी एक ऐसे टीलेपर से वह गाड़ी चलनेको हुई कि वहीं अगर आप ब्रेक लगा सकें, रोक सकें तब तो भला है और वहीं अगर न रोक सकें तो वह तो ऐसा वेग है कि फिर आगे रोकना कठिन है। जो अपने आपके अन्दर इस उपयोगमें कर्मानुभागका प्रतिफलन है उसमें और जीवका स्वभाव चेतना—इनमें भेद नहीं डाल सकते और वहाँ लगाव बना दें तो उस लगाव बननेके बाद यह अधीर होकर पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें लिप्त होता है, दुःखी होता है और दुखी होकर कदाचित् ऊबकर यहाँ भेदविज्ञानका प्रयास करें कि यह मेरा नहीं, इन विषयोंसे मेरा क्या मतलब ? इस धनसे मेरा क्या मतलब ? तो यहाँ भेदविज्ञान करनेमें बहुत श्रम लगा रहा है, मगर सफल नहीं हो पा रहा, क्योंकि मूलमें ब्रेक न लगा सका। मैं चेतन हूं और यह ठाठ, यह माया, छाया, यह फिसाद यह कर्मका प्रतिफलन है। यहाँ जिसने भेद किया उसे सर्वत्र भेद है।

उपयोगविशेषकी जीवलक्षणरूपता न कहकर उपयोगसामान्य को जीवका लक्षण कहनेमें एक महत्त्वपूर्ण तथ्य—अब यों समझो कि ये कषाय जीवके लक्षण नहीं हैं। अच्छा कषाय तो जीवके लक्षण नहीं, मगर जो फुटकर हमारी जानकारियाँ चल रहीं, वह ज्ञान तो हमारा लक्षण होगा ? हम जान रहे हैं कि यह मन्दिर है, यह चौकी है, यह अमुक है, जान रहे, जो ऐसा जाने सो जीव। और उसके द्वारा हम सबकी परख भी कर लेते हैं तो ये विशिष्ट जानकारियाँ ये मेरे लक्षण हैं कि नहीं ? जीवके लक्षण हैं कि नहीं ? नहीं हैं, क्यों नहीं हैं कि इनमें अव्याप्ति दोष है, एक बात, यह तो हुआ न्यायशास्त्रके अनुसार उत्तर। चूंकि ये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

विशिष्ट जानकारी, यह उपयोग विशेष सब जीवोंमें नहीं रह रहा। सिद्धमें कहाँ ऐसी बात है ? आप लाल मिर्च खाना अच्छा मानते, मजा मानते, तो ऐसी जो जानकारी है सो आपके हो रही और के तो नहीं हो रही, और तो लाल मिर्चसे घबड़ा जायेंगे। अच्छा रद्दी जानकारियाँ, वैषयिक जानकारियां ये पवित्र आत्माओंमें कहाँ हैं, अरहंत सिद्धमें कहां हैं ? यह अव्याप्ति दोष है। यहां है अव्याप्ति दोष, न्यायशास्त्रके अनुसार तो यह उत्तर हुआ, मगर सीधे सादे मैदानमें उत्तर देते हैं अपने आपकी मूलका। ये जानकारियां जीवका लक्षण नहीं, क्योंकि ये जानकारियां जीवमें सहज अपने ही अस्तित्वके कारण परके संसर्ग बिना होती नहीं हैं, इसलिए जीवका लक्षण नहीं। फिर कैसे होती हैं ? ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम हो, मन, वचन, कायका योग हो, इतने फिसादोंके बीच ये हमारी आपकी जानकारियां बन रही हैं, ये जीवके स्वरूप नहीं हैं। तो जीवका स्वरूप क्या ? अनादि अनन्त अहेतुक जो जीवका स्वभाव है, चैतन्यस्वरूप है, सहज ज्ञान दर्शन है वह जीवका स्वरूप है। निश्चयसे तो उत्तर यह आया और व्यवहारसे कहो, पर्यायसे कहो, उत्तर यह आया और व्यवहारसे कहो, पर्यायसे कहो, उत्तर यह आया कि उपयोग जीवका लक्षण है। यहां देखो उपयोगमें और सहज चैतन्यमें अन्तर आ गया, मगर उपयोग निरन्तर रहता है, इस कारण जीवका लक्षण उपयोग बताया है। यह उपयोग सामान्य जीवका लक्षण है।

जीवके लक्षणपर विचार—जीवका लक्षण क्या है ? इसपर विचार चल रहा है। बात यह आयी कि जीवका लक्षण उपयोग सामान्य है। यद्यपि उपयोगके विशेष हैं, पर उन विशेषोंको जीवका लक्षण न कहा जायगा, किन्तु वह स्वतत्त्व है यह कहा जायगा, क्योंकि लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषसे रहित होना चाहिए। वह उपयोग विशेष चाहे मतिज्ञान हो, श्रुतज्ञान हो और चाहे केवलज्ञान हो, इसको अगर जीवका लक्षण कहा जायगा तो अव्याप्ति दोष आयगा मायने केवलज्ञान सब जीवोंमें तो नहीं, मतिज्ञान सब जीवोंमें तो नहीं, किन्तु उपयोग सामान्य चाहे कोईसा भी उपयोग विशेष हो, पर उपयोग अवश्य रहेगा। इस कारण जीवका लक्षण उपयोग सामान्य है, उपयोग विशेष जीवका लक्षण नहीं। इस बातका समर्थन अभी अनेक प्रकारोंमें आ चुका है और यह भी बताया गया कि यह उपयोग विशेष मतिज्ञान होना, श्रुतज्ञान होना आदिक ये यथासम्भव बहिरंग और अन्तरंग कारण मिलनेपर हुआ करते हैं सो यथासम्भव है ना, वहीं यह बात बतलाते हैं कि कारणोंके अनुसार उपयोग में विशेषतायें हैं, मगर कुछ भी कारण मिले, न उससे मतलब, कोई भी उपयोग विशेष हो न उससे मतलब, किन्तु जब जीवका स्वभाव चैतन्य है तो उस चैतन्यका उपयोग निरन्तर चलता ही रहता है। उपयोग बिना कोई पदार्थ ठहर ही नहीं सकता। उसका यह अर्थ नहीं कि दूसरा उपयोग उठाये तो उपयोग है। परिणामका नाम उपयोग है। तो जीवके चैतन्यका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जो परिणमन है उसे उपयोग कहते हैं और यह उपयोग जीवका लक्षण है ।

जीवके लक्षण उपयोगमें व जीवमें भेद अभेदकी चर्चा—अब जरा थोड़ेसे और न्याय के काट-छांटमें आइये । क्या बताया है ? जीवका लक्षण उपयोग है और यह लक्षण आत्मभूत है या अनात्मभूत ? तो क्या बताया ? आत्मभूत है । अब यहाँ एक शंका उठती है कि हमको तो उपयोग लक्षण आत्मभूत नहीं जंचता, क्यों नहीं जंचता कि उपयोग गुण है । जो गुण है वह ही गुणीसे अलग रहा, अगर यह आत्मभूत होता तो एकको गुण कहना, एकको गुणी कहना, यह पक्षपात क्यों ? जो आत्मभूत हो गया, जो एकमेक हो गया अब उसमेंसे यह कहना कि यह तो गुण है, यह गुणी है । तो कुछ तो फर्क आया । किसीकी महिमा बढ़ा दी, किसी की महिमा घटा दी । कोई प्रधान बन गया, कोई अप्रधान बन गया । जैसे किसीका कोई नौकर बहुत ही आज्ञाकारी हितकारी है, आप साथमें जा रहे हैं, आपको तो पहुंचाने जा ही रहा है, किसीने रास्तेमें कहा कि यह आपका कौन है ? तो आप कहते हैं कि यह हमारा ही आदमी है । कहा तो बड़ी शानसे कि मानो एकरसपना हो जाय और अपमानजनक शब्दोंमें न आये, बोला तो सम्मानजनक शब्दोंमें यह हमारा ही आदमी है, मगर इतना भी कहनेमें आयी तो अपमानकी झाँकी । शब्दमें जो वाच्य है वह तो बन गया महान और जिस को आदमी कहा वह बन गया हल्का ।

जीवका लक्षण है उपयोग, तो भले ही आत्मभूत कहकर बताया जाय, लेकिन आत्मभूत होता तो दोनोंका एक रसपना होना चाहिए था । यह भेद पड़ गया । इसमें तो लक्षण की आत्मभूतता न रही । वह हल्कापन आया । वह जीवका सेवक बन गया । तो गुण होने के कारण हम जीवका लक्षण उपयोगको आत्मभूत नहीं कह सकते । समाधान यह है कि जब किसीका लक्षण किया जाता हो और वह लक्षण उसके लक्ष्यसे अत्यन्त अभिन्न है तो भी उसमें भेद डाले बिना उसकी बात नहीं कही जा सकती, इसलिए गुणगुणी मात्रका भेद है । आत्मभूत जीवका लक्षण उपयोग याने प्रतिभास जानना देखना ये अभिन्न हैं कुछ, तब फिर शंकाकारका यह कहना है कि हम तो इसे भिन्न ही मानेंगे । जीव अलग है, गुण अलग है, यह गुणी है यह गुण है, ये भिन्न होनेसे आत्मभूत नहीं हैं । कहते हैं कि एकान्तभेद न करें गुण और गुणीमें कथंचित् अभेद है कथंचित् क्या है तो अभेद ही, मगर समझानेके लिए एक अभेद वस्तुमें लक्ष्य लक्षणका भेद किया जाता है । जीवका लक्षण उपयोग है और वह जीव में ही है ।

निज सहजचित्प्रकाशमें अहंप्रत्यय होनेकी महिमा—जो जीव अपने निधानमें दृष्टि नहीं करते वे संसारमें पुण्य पापके फलमें अटके रहते हैं और वे वास्तविक शान्ति नहीं पाते । अपनेसे बाह्यमें दृष्टि लगे तो वह बाह्य प्रसंग चाहे कितना ही भला मिले, लेकिन उसे आह:-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सन्तोष नहीं हो सकता। आखिर वैषयिक सुखोंको भोगकर बाह्यमें दृष्टि यहाँ वहाँ डालकर अज्ञानी जीव तो आकुलित ही रहते हैं। ज्ञानी जीव उसका प्रायश्चित करता है। अगर ज्ञान है, बुद्धि है, विवेक है तो अवश्य वैषयिक सुखोंमें लगनेके बाद वह पछतावा करेगा कि ये जीवनके अमूल्य क्षण मैंने यों ही गवाँ दिए। बाहरकी दृष्टि हटाकर, बाहरमें अपने सम्मान अपमानका विकल्प न करें। अगर बाहरी सम्मान अपमानमें अपने श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे उल्टे चलते हो तो यह है मेरा अपमान। लौकिक अपमानमें क्या दंड मिलेगा? अधिकसे अधिक लोग यह कहेंगे कि यह कुछ नहीं है, इससे अधिक कोई दण्ड नहीं दे सकता, पर यह आध्यात्मिक अपमान यदि अपना कर रहे हैं, अपने आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे चिग कर बाह्य विषयोंका आश्रय लेकर कर्मफलमें अगर हम डूब रहे हैं तो यह है अपने इस अन्तः आत्माका अपमान। इस अपमानका फल है नरक, निगोद, तिर्यंच, कीट, स्थावर आदि खोटी योनियोंमें जन्म होना।

तो लौकिक सम्मान अपमान महत्त्वकी चीज है या आध्यात्मिक सम्मान अपमान महत्त्व रखता है? जरा विचार करो। आज जितनी यह मन वाली दुनिया है ये सब प्रायः लौकिक सम्मान अपमानमें अपना सारा निर्णय रखते हैं और तभी धनकी तृष्णा होना, जरा जरासी बातमें लड़ाई होना, अपमान महसूस करना—ये सारे ऐब, ये सारी आपत्तियां क्यों आ रही हैं? जो अपने अंतस्तत्त्वका अपमान करता है उसपर खड़े बैठे हर जगह अनेक आपत्तियां आयेंगी ही और जिसने अध्यात्म सम्मान किया, अपने आपकी दृष्टिमें अपने सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिमें लिया, यह हूं मैं, उसको संतोष मिलता है। बस धर्मकी जड़ इतनी है, फैलाव बड़ा है। जड़ तो मूलमें छोटी ही होती है। धर्मकी मूल क्या है? यह समझमें आ जाय कि अपने सहज चैतन्यस्वभावको निरखकर ज्ञान द्वारा ज्ञानमें यह बात स्वीकार हो जाय कि मैं तो यह सहज चैतन्यस्वरूप हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, बस वह धर्म है। अब उसका धर्म चलेगा, मोक्षमार्ग बनेगा, मुक्तिके निकट जायगा, सदाके लिए जन्ममरणके संकटोंसे छूट जायगा। मूलमें यह बात करनी है कि अपनी ही दृष्टिमें अपना यह चैतन्यस्वभाव नजरमें आये, अनुभवमें आये और यह स्वीकार हो जाय कि मैं तो यह हूं।

सहज परमात्मतत्त्वके निर्णयमें कष्टजालका अनवसर—कोई नाम लेकर थोड़ी निन्दा करता है तो यह घबड़ा जाता है, बौखला जाता है, तमतमा जाता है, आँखें लाल हो जाती हैं। यह क्या है? अज्ञानकी लीला है। भले ही आप कहें कि जब गृहस्थीमें रहते हैं तो कुछ थोड़ा दिखाना तो पड़ेगा, नहीं तो ऐसी दशा हो जायगी कि जैसे एक साँपको किसीने उपदेश दिया कि तुम बिल्कुल शान्त रहा करो। तो वह बिल्कुल शान्त हो गया। अब उसे हर एक कोई पकड़े, घुमाये, छेड़े, मारे, वह बेचारा साँप बड़ा परेशान होकर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपने उपदेशकके पास पहुंचा और बोला—महाराज जबसे आपने हमें उपदेश दिया कि तुम शान्त रहो तबसे हमपर बड़ी विपत्तियाँ आ गई हैं।····क्या विपत्तियाँ आ गई ?···महाराज कोई पकड़ता है, कोई घुमाता है, कोई मारता है, हम बड़े परेशान हैं। तो उपदेशकने कहा—देखो हमने तुम्हें कहा कि तुम शान्त रहो, उपद्रव न करो, हमने तुम्हें फुंकारनेके लिए मना नहीं किया। अब क्या था, जो भी साँपके पास पहुंचे तो झट वह फुंकार मारे, सभी लोग डरकर उसके पाससे भागें। तो भाई ऐसे ही समझो उपदेश है गृहस्थोंको कि तुम शान्त रहो, पर मुनि जनों जैसा शान्त होकर तो गृहस्थ नहीं रह सकते। उनके सामने अनेक झंझट हैं, तो उन्हें कुछ झुँझलाहट जैसी बातें करनी पड़ती हैं। ठीक है, करें, दिखावटी किसी समय शान रख लें, प्रयोजन ही तो है, मगर उसे यह मत समझें कि यही मेरा सर्वस्व है, मेरा महत्त्व इसीमें है, इन सबको कलंक समझें। जितने गृहस्थीके प्रसंग हैं करते हुए भी—दूकान भी करते हैं, परिजनोंसे भी बोलते हैं, सब कुछ करते हुए भी समझें यह कि यह तो मेरे लिए कलंक है। तब फिर सही तत्त्व क्या है ? सही तत्त्व है—मेरा सहज चैतन्यस्वरूप। यह मैं हूं। और ऐसा मैं देखता रहूं तो काम क्या होगा ? ऐसा काम होगा कि दुनियाकी समझ में न आयगा, दुनिया तो यह जानेगी कि यह तो प्रमादी है, ठलुवा है, कुछ करता नहीं, कायर है, लेकिन कार्य होगा वह जो स्वभावमें मिल जायगा और इसलिए वह विशिष्ट न हो पायगा, पर अन्तः ही अनन्त आनन्दके स्वरूपकी झाँकी आयगी—मैं यह हूं।

सहज अंतस्तत्त्वके बोध बिना चेष्टाओंकी मात्र परिश्रमरूपता—दुनियामें घूम-घूमकर कुछ भी चेष्टायें कर लो, कुछ भी काम कर लो, लेकिन संतोष कहीं नहीं है। मोहकी नींदमें स्वप्न भले ही दिखेंगे कि मैं बहुत अच्छा हूं, मैं अब नेता बना हूं, मेरी बहुत प्रतिष्ठा है····, कुछ समझ भी रहा, मगर यह तो बड़ी विपत्ति है, बड़ी विडम्बना है। उसने अपने लिए तो कुछ नहीं किया। आत्मज्ञान बिना सब बेकार बातें हैं इस आत्माके लिए, आत्मकल्याणके लिए। तो वह आत्मा क्या है ? उसका ही एक प्रकरण चल रहा है। हम आत्माको पहिचानें किस तरह ? आत्माको पहिचानें उपयोग द्वारा, जिसमें प्रतिभास है, समझ है, जानन-देखन चल रहा, ऐसा एक अमूर्त आत्मा हूं मैं। और वह इस ही अपनेमें है, अपनेसे बाहर नहीं है। कुछ क्षण यदि अपने आपमें कुछ भी लीन होनेका प्रयत्न न रखें और धर्मके नामपर बाहरी कुछ भी काम कर लिए जायें तो बाहर-बाहर ही भटकना रहा। जिस धर्मभावके कारण कर्मका विनाश होता है, निर्जरा होती है, संतोष होता है, मुक्तिके निकट पहुंचते हैं वह बात रंच भी नहीं पायी। और एक इस आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपकी झाँकी हो जाय तो आप धर्मके नामपर कहीं भी कुछ भी कर रहे हों उसमें धार्मिकता कई गुणित हो जायगी। आप रसोई बनाने बैठें तो आटा भी गूंथो, पतीलीमें चावल भी डालो, रोटियाँ बनाकर तवेपर भी

http://sahjanandvarnishastra.org/

डालो, रोटी पकनेका इंतजार भी करो, बार-बार चूल्हा भी फूंको, यों रोटी बननेके सारे प्रयत्न तो खूब कर डालो, पर एक जो रोटी बननेका मूल साधन अग्नि है वह न हो तो क्या रोटी पक जायगी ? नहीं पक सकती। आगके बिना तो यहाँ की जाने वाली सारी चेष्टायें व्यर्थ हैं, समय ही व्यर्थ खोता है, और सारा सामान खराब हुआ सो अलगसे। तो वहाँ रसोईघरमें मूल गल्ती क्या हुई ? रसोई बननेका जो मूल कारण अग्नि है उस अग्निका तो कुछ काम ही नहीं किया। तो इसी तरह हम कर रहे हैं सब कुछ धर्मके नामपर भी, गृहस्थी के नामपर भी, सामायिक, पूजा, पाठ आदिक, पर उनमें एक टाल-मटोल ही रहा। मगर एक जो आत्मबोध होता है उस सम्यग्ज्ञानकी अग्नि पाये बिना हमारी मन, वचन, कायकी समस्त चेष्टायें परिश्रममें शामिल हुईं और जीवन बेकार गया वह अलगसे बात है।

यद्यपि व्यवहारमें तो कर्तव्य यह है ताकि और लोग भी दर्शन करें, स्वाध्याय करें, पूजन करें, वह परम्परा चले और इनमें रहकर कभी कोई सद्बुद्धि रखकर कुछ आत्मज्ञानको पावे, मगर जो आत्मज्ञानका उद्देश्य रखता ही नहीं इस ओरसे कुछ भी बात चित्तमें नहीं आती और करने करनेकी बात बनी हुई है तो उसका है यह फल, ऐसे रसोईकी चेष्टा करने वालेकी तरह। अपना उद्देश्य बनावें, चित्तमें लगन तो रखें कि हमको तो सहजपरमात्म-स्वरूपका अनुभव करना है, इसके लिए ही हम सब काम कर रहे हैं, इतनी बात चित्तमें आये तो उसका भी काम बनेगा।

जीवकी उपयोगात्मकताका प्रकाश—आत्मा क्या है ? उसके समझानेको यह सूत्र है—उपयोगो लक्षणं, मोक्षशास्त्रका द्वितीय अध्यायका....। इसके बारेमें कुछ वर्णन तो हुआ था। अब यह चर्चा चल रही है कि वह उपयोग जीवसे अभिन्न है या भिन्न ? बताया अभिन्न, पर शंकाकार यह कहता है कि हम तो भिन्न समझते हैं, क्योंकि यह गुण है, आत्मा गुणी है। एक नैयायिक सिद्धान्त, मीमांसक सिद्धान्त भी यह मानता है कि आत्मा अलग चीज है और गुण अलग चीज है। द्रव्य अलग, गुण अलग। यद्यपि थोड़ी बुद्धिमानी तो की उन्होंने, उसका समवाय सम्बंध माना और अनादि सम्बंध माना, लेकिन दृष्टि देखो कि अनादि सम्बंध है याने ऐसा भी नहीं है कि ज्ञान पीछे आया हो, आत्मा पहलेसे। जबसे आत्मा है तबसे इसके साथ ज्ञान लगा है, लेकिन ज्ञान अलग पदार्थ है आत्मा अलग पदार्थ है और उसका एक समवाय सम्बंध बन रहा है। ऐसा जैनशासनने नहीं स्वीकार किया। जैन-शासन कहता है कि आत्मा ज्ञानात्मक है, दो भिन्न पदार्थ नहीं है और तब ही ज्ञान कह दो तो आत्मा कहा गया और आत्मा कह दो तो ज्ञान कहा गया। जीव और ज्ञान—इनमें गुणगुणीका भेद समझाने भरके लिए है। कैसे लोगोंको समझायें कि जीव क्या है ? कुछ तो कहना चाहिए। सो समझानेके लिए भेद किया गया है। कहीं पदार्थमें भेद नहीं पड़ा। जीव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानात्मक है गुणगुणी भेद कथंचित् अभिन्नमें बन सकता, भिन्नमें गुणगुणी बन ही नहीं सकता।

जो लोग कहते हैं कि ज्ञान अलग पदार्थ है, जीव अलग पदार्थ है उनके यहाँ गुण-गुणी की कल्पना ही नहीं बन सकती, क्योंकि अगर भिन्न पदार्थोंमें गुणगुणीकी बात कही जाय तो कोई अटपट कह दे तो क्या है ? कोई कहे कि ज्ञान तो भींतका लक्षण है, ज्ञान तो पुद्गलका लक्षण है। जब अत्यन्त भिन्न है तो यह कैसे कहा जायगा कि यह लक्षण इसका है ? लक्ष्य-लक्षणभेद कथंचित् अभिन्नमें होता है। यहाँ जीवका लक्षण उपयोग बताया है। वह उपयोग जीवसे न्यारा नहीं है, जीव ही उपयोगात्मक है। उपयोग जरा प्रसिद्ध है, जीव जरा अप्रसिद्ध है। तो प्रसिद्धके द्वारा अप्रसिद्धका ज्ञान कराया जाता है। लक्ष्य-लक्षण भाव बनानेका यह तथ्य है। जीवका लक्षण क्या ? ज्ञान। यह ज्ञान जीवसे अभिन्न है, भिन्न नहीं। भिन्न होता तो यह जीवका ज्ञान है, ऐसा कैसे कहा जाय ?

लक्ष्यसे लक्षणकी अत्यन्त भिन्नता होनेपर लक्षणत्वकी अनिष्पत्ति—अगर कहो कि भाई जो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं वे भी तो लक्षण बन जाते हैं। जैसे किसीने कहा कि जरा अमुक सेठजीको बुलाना तो वह दूसरा बोला—हम नहीं जानते कि अमुक सेठ जी कौन हैं ? अजी जो टोपी लगाये हैं वह। तो सेठजी का लक्षण टोपी हो गया। उसके द्वारा वह पहिचान लेगा कि यह हैं अमुक सेठजी। तो टोपी तो भिन्न चीज है। डंडा वालेका लक्षण डंडा। भिन्न है ना डंडा। तो भिन्न भी तो लक्षण होता है, ऐसे ही जीवका ज्ञान जीवसे भिन्न रहा आये तो जीवका लक्षण बन जायगा। इसका उत्तर यह है कि लक्षण सर्वथा भिन्न होता ही नहीं। कोई न कोई रूपसे अभेद है, सम्बन्ध है, कुछ बात है, सम्पर्क है, संसर्ग है, अगर बिल्कुल भिन्न लक्षण बन सके तो यह लक्षण है, इसकी भी पहिचान नहीं बन सकती। लक्षण की लक्षणता कहनेमें यह दूसरा लक्षण जरूर बना देंगे जिससे यह समझ आ जायगी कि यह लक्षण इसका है तो फिर उसकी समझके लिए तीसरा बनावें और उसकी समझके लिए चौथा आदि लक्षण बनाते रहे तो पदार्थ समझमें न आयगा। इससे मानना पड़ेगा कि लक्षण लक्ष्यसे अत्यन्त जुदा नहीं होता है। अपनेको अनुभव करें, इन्द्रियका व्यापार बंद करके, दृष्टि बंद करके, सबका ख्याल छोड़कर भीतरी अनुभव करें तो अपने आप समाधान होगा कि यह है सहजस्वरूप। बस वह ज्ञानसामान्य जीवका लक्षण है, यह बात इस सूत्रमें कही गई हैं।

आत्मपरिचयसे मुक्त्युपायका प्रारम्भ—संसारके संज्ञी जीव संकटोंसे छुटकारा चाहते हैं और सदा सुखी रहें ऐसी सुख शान्ति चाहते हैं। जो सब चाहते हैं उसी बातका वर्णन इस मोक्षशास्त्रमें किया गया है। भला बतलाओ कि जो हमारी भावना है, जो हम चाहते हैं वही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बात यदि मिल जाय तो कितना अपने सौभाग्यकी बात है ? उस ग्रन्थमें मोक्षमार्गका वर्णन है याने संसारके संकटोंसे छुट्टी पा लेनेके उपायका वर्णन है। तो वह उपाय क्या है, जिसको तुम संकटोंसे छुट्टी दिलाना चाहते हो ? उसका सही स्वरूप जान लें, बस इस उपायके बलपर सब उपाय बनते चले जायेंगे। मैं आत्मा क्या हूं, सही अपने आप परके सम्बन्ध बिना मैं स्वयं क्या हूं ? तब यह निर्णय बनेगा। देखिये निर्णय बनता है अनुभवपूर्वक। अनुभवमें पार उतर आये तो वह सच्चा निर्णय कहलाता है। तो अपने आत्माके इस सहज चैतन्यस्व-रूपका अनुभव हो, ज्ञान बने, विश्वास बने और फिर उसीको धुन रहे, फिर बाह्य उपाय कुछ करने पड़ेंगे, क्योंकि अनादिसे बहुत उल्टा यह जीव चला आया है। बाह्य उपाय निःसंगता है, निःसंगता याने समस्त परिग्रहोंका परित्याग। उस उपायसे फिर अपने आपमें रमण करने का काम करें। कर्म टूट जायेंगे, जन्ममरण टूट जायगा और शाश्वत सत्य शान्ति प्राप्त होगी ?

आत्मपरिचयके उद्यममें प्रकृत प्रयास—लो अब करायें आत्माका परिचय। अच्छा, हाँ आचार्योंने आत्माका परिचय कराया है किस ढंगसे कि पहले यह जानें कि तुम जीव हो तो तुम्हारा स्वरूप तो बहुत सही है, चैतन्य है, पर तुम सत्य मान रहे हो, कोई तुम्हारे साथ दूसरी चीज लगी है, उसका नाम है अजीव। जीव और अजीवका जब संघर्ष है तो कैसा है ? पहले जीव अजीवका सम्बंध बना, आस्रव आना हुआ, बंध बना, उसके बाद उसका उदय उदीरणा रूपसे निर्जरा चली, जीवको संकट बन गया। तब क्या करना ? पहला काम यह करना कि आस्रव न बने, फिर बंध न होगा, और निर्जरा सो चलती रहेगी, क्योंकि जो परि-णाम आस्रव और बंधको ध्वस्त कर सकते हैं वे ही परिणाम पहले बांधे हुए कर्मोंकी निर्जरा कर देते हैं। लो अब सही मिल जायगा मोक्षमार्ग तो इन ७ बातोंका वर्णन आवश्यक समझा गया। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, अच्छा इनका वर्णन चलेगा, मगर वर्णन चलानेसे पहले थोड़ी और भूमिका रह गई, क्या कि इन सबको जाननेके तरीके हैं क्या ? पहले तरीकोंका निर्णय कर लिया, फिर उन तरीकोंसे इसकी जानकारी बनावें तो वे तरीके मुख्य हैं प्रमाण और नय। इसीके अन्तर्गत फिर और उपाय बताये गए। एक प्रयोगात्मक सत्, संख्या, क्षेत्र, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान, निर्देश, स्वामित्व आदिक, निक्षेप व्यवहारका तरीका, इन सब तरीकोंका वर्णन पहले अध्यायमें हो चुका। अब इस तत्त्वका वर्णन चलना है तो दूसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका वर्णन है। जो उपाय बताया गया वह भी जीवकी कला है, इसलिए पहले अध्यायको भी कह लीजिए जीवतत्त्वका वर्णन है, पर विधिवत् तो दूसरे अध्यायसे जीवतत्त्वका वर्णन है। अब जीवका परिचय पाना है तो परिचय पानेका उपाय पर्याय है, व्यवहार है, यह है प्रारम्भिक उपाय। हम किसी भी चीज

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

को अवस्थाओंसे ही तो परखेंगे। तो प्रथम जीवके स्वतत्त्व कहे गए। उन स्वतत्त्वोंमें पर्याय रूप भाव व एक जीवत्वभाव, वह एक द्रव्यदृष्टिका भाव है। तो स्वतत्त्वका भली-भाँति वर्णन हुआ। उसके बाद यह प्रश्न आया कि जिस जीवके ये स्वतत्त्व बताये जा रहे हैं, जिस जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावके रूपमें स्वतत्त्व बताये जा रहे हैं उस जीवका लक्षण क्या है ? पहिचान क्या है जिससे हम जीवको समझ सकें ? तो उसकी पहिचानको बताने वाला यह सूत्र है—उपयोगो लक्षणं। जीवका लक्षण उपयोग है। इस सम्बंधमें बहुत कुछ ज्ञातव्य बातें की जा चुकी हैं। आज एक नई आशंका चलेगी। यह बताया था कि जीवका लक्षण उपयोग जो है सो जीवसे अभिन्न है। जीवका उपयोग याने ज्ञान दर्शन जीवसे अभिन्न है, अलग नहीं है। जो दार्शनिक अलग मानते हैं कि वे गुण अलग हैं, पदार्थ अलग हैं उनका निराकरण हो चुका।

उपयोगकी जीवसे अभिन्नता होनेपर एक आशंका—आज यह बात चलेगी कि शंकाकार यह कह रहा है कि तुम उपयोगको जीवसे अभिन्न बतला रहे हो याने जीव उपयोगात्मक है। तो देखो जो पदार्थ यदात्मक है उसका उस रूपसे उपयोग न होगा। जीव अगर ज्ञानदर्शनात्मक है तो जीवका उपयोग ज्ञान दर्शनरूपसे हो नहीं सकता। कैसे ? उनका दृष्टान्त है—जैसे दूध, क्षीर। दूधका नाम क्षीर है, दुग्ध दुग्धात्मक है, दूध दूधरूप है, अभिन्न है, तन्मात्र है। वही तो है। तो दूध जब दूधमय है तो उस दूधका दूध रूपसे उपयोग तो नहीं होता, दही रूपसे होगा, और और रूपसे होगा, याने दूधका दही बनावे, और कुछ बनावे, और और तरहसे उपयोग होगा। दूधका दूध रूपसे क्या उपयोग है ? यह तो दूधरूप है ही। ऐसे ही अगर ज्ञान दर्शन जीवसे अभिन्न है तो जीवका ज्ञान दर्शन रूपसे उपयोग न होना चाहिए, अन्य रूपसे होता रहे, यह एक आशंका रखी गई है। अच्छा अभी शंकाकार यह कहता जा रहा है।

अब दूसरी बात शंकाकारकी सुनो—जीव उपयोगात्मक है, उपयोगमय है तो यह कह रहे हो कि जीव उपयोग रूपसे परिणमता है और बताये जा रहे हो तदात्मक, एक रूप, तो जब एक रूप हो गया जीव और उपयोग तो दोनोंकी समान बात होनी चाहिए। हम यह कह देंगे कि उपयोग जीवरूपसे परिणमता है। तुम कह रहे हो जीवका लक्षण उपयोग है, हम कह बैठेंगे कि उपयोगका लक्षण जीव है। जब जीव और उपयोगको अभिन्न कह दिया, एक कह दिया उस मय है तब उसमें यह भेद कैसे हो सकता कि यह इसका लक्षण है ? यदि भेद डालेंगे तो हम उल्टी बात कहेंगे। उसका क्या निराकरण ? तो यदि सर्वथा अभिन्न है जीव और ज्ञान दर्शन यह एकमेक है तो जीवका ज्ञानदर्शन रूपसे उपयोग नहीं बन सकता। ऐसी आशंका एक किसी दार्शनिकने रखी है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवसे अभिन्न उपयोगके विषयमें की गई शंकाका समाधान—देखिये कुछ आपत्तियां युक्तियोंपर निर्भर होती हैं और उनका निराकरण अनुभव करता है। और युक्तियाँ भी करेंगी। तो युक्तियोंसे तो शंकाकारने ठीक निभा लिया। जो चीज जिसमय है। उसका उस रूपसे उपयोग नहीं हो सकता। दूध दूधमय है तो दूधका दूध रूपसे उपयोग क्या ? अन्य रूपसे उपयोग होता है। युक्तियाँ तो आ गईं, मगर आपका हृदय स्वीकार नहीं करनेका। युक्ति ही तो है। तो उनमें जो निर्बलता है उसको प्रकट करना, समाधान करना, चूंकि जीव उपयोगमय है, जीवसे उपयोग अभिन्न है, इसी कारण जीवका ज्ञानदर्शनरूपसे उपयोग बनता है। जो जिस रूप है उसका उसी रूपसे उपयोग होता है, यह भी एक युक्ति है। यह कैसे समझा ? अच्छा तो इससे उल्टी बात समझो। जो जिस रूप नहीं है, जो जिससे बिल्कुल जुदा है उसका उस रूपसे उपयोग होना सम्भव है क्या ? जैसे आकाश और रूप। रूप तो पुद्गलका अभिन्न गुण है ना ? रूप आकाशका तो गुण नहीं तो कभी आकाश रूपसे परिणम सकता क्या ? नहीं परिणम सकता। क्यों नहीं परिणम सकता ? आकाश बिल्कुल जुदी चीज है, रूप बिल्कुल अलग वस्तु है। जहाँ भिन्नता है वहाँ तो यह सकते हो कि वह उस रूप नहीं परिणम सकता। जो अभिन्न होगा वही उस रूपसे परिणम सकेगा। शंकाकार क्यों उल्टी-उल्टी बात कह रहा ? जीव ज्ञान दर्शनमय है, इस कारण जीव ज्ञान दर्शनरूपसे उपयुक्त होता है। साथमें दूसरी बात भी सुनो—शंकाकार खुद ठीक वचन नहीं बोल पा रहा। उसका यह कहना था कि दूध दूधात्मक है, इस कारण दूध दूधरूपसे उपयुक्त नहीं होता। दूधका दूध रूपसे उपयोग नहीं बन सकता, क्योंकि वह दूध रूप ही है। अरे भाई यह बात ठीक नहीं। दूध चूँकि दूधरूप है इसलिए उसका दूध रूपसे उपयोग चल रहा। देखो दूध क्या चीज है ? गायने तृण खाया, पानी पिया, सो ये तृण जल आदिक जो दूध रूपताको प्राप्त होनेके सम्मुख पुद्गल है, वही तो दूध संज्ञाको प्राप्त होने वाला है। तो जिसमें दूध की शक्ति है उनसे अव्यतिरेक है, अभिन्न है, देखो वह दूध रूपसे परिणाम रहा है ना। और अब दूध बननेके बाद भी वह दूध दूधरूपसे परिणमता रहता है ना। ऐसे ही आत्मा भी आत्मामें जो ज्ञानका स्वभाव है उस शक्तिकी व्यक्ति हो रही है। घट जाना, पट जाना, अमुक पदार्थ को जाना तो देखो हमारा यह ज्ञानस्वरूप, हमारी यह ज्ञानशक्ति इन इन पदार्थोंके जाननेके रूपसे परिणाम रही है कि नहीं ? स्पष्ट सिद्ध है कि आत्मा ज्ञानरूप है। तो वह ज्ञानरूपसे परिणमता है और ज्ञानरूपसे उपयोग चलता है। हाँ, जीव अगर भिन्न होता, जीव ज्ञानरूप न होता तो उसका ज्ञान उपयोग नहीं बन सकता। बात तो है यह और शङ्काकार उल्टी बात रख रहा है।

जो जिस स्वरूप है उसका उस रूपसे परिणाम न मानने वाले शङ्काकारका स्वयं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पतन— क्या कह रहा शङ्काकार कि जो जिस रूपमें है, जो जिस स्वरूप है वह उस रूपसे परिणमता नहीं, वह उस रूपसे उपयोग करता नहीं, तो ऐसा कहने वाले शङ्काकार बहुत बुरी तरहसे फंसे। कैसे? जरा हठ पर अड़ा रहा शङ्काकार। वह यह कह रहा है कि जो चीज जिस स्वरूपमें है, जिसमें तन्मय है उसका उपयोग उस रूपसे नहीं होता। उसका कहना यह है। तो अच्छा बताओ कि तुम जो बात कह रहे हो, कोई भी पुरुष जो भी बात कहता है बड़े ढंगसे युक्तिपूर्वक तो उसकी बातमें दो चीजें पायी जाती हैं। अपने पक्षका समर्थन करना, और विपरीत बातका खण्डन करना। बातमें ये दो गुण होते ना? कोई कुछ बात रखे तो अपना समर्थन करे और दूसरेका निराकरण हो जाय। यह ही तो बात है। हमने कहा, घड़ी तो घड़ी है, यह बात बन जाय और कुछ नहीं है सो अन्यका निराकरण हो जाय। कोई भी बात बोलेगा तो उस बातमें ये दो तारीफ होती हैं—अपने पक्षका साधन करना और दूसरेके पक्षका दूषण देना। यह होता है समस्त उपदेशोंमें। अब शङ्काकार इस बातपर अड़ गया कि जो जिस स्वरूपमय है उसका उपयोग उस रूपसे नहीं होता तो बताओ तुम्हारे वचन अपने पक्षके साधकरूप हैं कि नहीं? तुम्हारी बात अपने पक्षको सिद्ध करने वाली है कि नहीं? हाँ है। और दूसरी बातका निराकरण दूषण करने वाला है ना? हाँ है। तो तुम्हारे वचन स्वपक्षके साधनरूप हैं, परपक्षके दूषणरूप हैं। ध्यान देनेकी बात है। जो भी आप बोल रहे हों, जो भी आप प्रस्ताव रख रहे हों, जो भी आप चीज बता रहे हों वह अपनी बातका समर्थन करने रूप है और अन्य बातका दूषण देनेके लिए है और साथमें यह भी कह रहे कि जो जिस रूप है उसका उपयोग उस रूप नहीं हो सकता, उसके खिलाफमें होगा, दूसरा रूप होगा। अच्छा देखो—तुम्हारे वचन तुम्हारे पक्षका साधकरूप हैं तो इससे उल्टा हो जायेगा, क्योंकि जो जिस रूप है उसका उस रूपसे परिणमन नहीं है, मायने अपने पक्षका दूषण रूपसे उपयोग बनेगा और दूसरेके पक्षका साधन करनेरूपसे उपयोग बनेगा आपका। तो आपको दोनों तरफसे मात खानी पड़ी। यह हठ न करो कि जो पदार्थ जिस स्वरूपमय है उसका उस रूप से उपयोग नहीं होता, बल्कि यह कहो कि जो पदार्थ जिस स्वरूप है उसका उसही रूपसे उपयोग होता है, दूसरे रूपसे नहीं। जीव चूँकि ज्ञान दर्शन रूप है इसलिए जीवका उपयोग ज्ञान दर्शनरूपसे ही होता है। जानन देखनरूपमें ही जीवका उपयोग बनता है, इसलिए उपयोग जीवका लक्षण है और वह जीवसे अभिन्न है।

जो जिस स्वरूप है उसका उस रूपसे परिणमन होनेका शङ्काकारके सिद्धान्त द्वारा समर्थन—अब और भी बात देखिये—ये शंकाकार याने चार्वाक् आदिक तो यह कह रहे हैं कि जो पदार्थ जिस रूपमय है उसका उस रूपसे परिणमन नहीं होता, उसका अन्य रूपसे परिणमन होता है। दृष्टान्त क्या दिया? दूध दूध रूपसे क्या परिणमेगा? वह तो दूध है, दही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रूपमें परिणमेगा। ऐसा कहने वाला शङ्काकार अपने पक्षका भी विरोध कर रहा है। देखो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमें रूपादिक हैं कि नहीं ? ये दार्शनिक पृथ्वीमें तो गंध मानते, जलमें रस मानते, अग्निमें रूप मानते और वायुमें स्पर्श मानते। जो बात जरा ज्यादह समझमें आयी उसको मान लिया और जैनसिद्धान्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन सबमें चारों बातें—(रूप, रस, गंध, स्पर्श) मानता है। जो जिस रूपमय है उसका उस रूपसे परिणमन तो तुम मान रहे हो। जो कुछ दिख रहा है ये पृथ्वी, अग्नि आदिक ये गंधरूप हैं, तो उनका इस रूप से परिणमन तो तुम मान रहे हो। तो जैसे यहां इन दिखने वाली वस्तुओंका, रूप, रस, गंध वाली चीजोंका रूप, रस आदिक रूपसे परिणमन मानते हो, उपयोग मानते हो, ऐसे ही आत्मा ज्ञान दर्शनमय है, तो उसका भी ज्ञान दर्शन रूपसे उपयोग होता है, इसमें कोई शङ्का नहीं।

जीव है, ज्ञान दर्शन रूप है, इसमें जानने देखनेकी शक्ति है और यह जानन देखन रूपसे अपना परिणमन करता है, ऐसा यह उपयोग जीवका अभिन्न लक्षण है। तो यह बात न कहनी कि जो जिस रूपमय है, जो पदात्मक है, जिस आत्मामें है वह उस रूपसे नहीं परिणमता, बल्कि यह कहो कि जो पदार्थ जिस रूपमें है उसका उस रूपसे परिणमन होता है। देखो दूधका दूध रूपसे परिणमन चल रहा है। जब गायसे निकाला गया दूध तो कुछ गर्म निकला। थोड़ी देरमें ठंडा हो गया, फिर छानकर उसे गर्म किया, उसमें फिर शक्कर गुड़ वगैरा डालकर उसे मीठा कर दिया, कुछ भी हो, दूध दूधरूप ही तो चल रहा। गर्म था तब दूध, ठंडा हुआ तो दूध ही परिणमा था। तो दूधके परिणाम कैसे नहीं हैं ? दूधका दूध रूपसे उपयोग है, इसी प्रकार आत्मा ज्ञानरूप है। कभी मतिज्ञानरूप परिणमे, श्रुतज्ञानरूप परिणमे, अवधिज्ञानरूप परिणमे, केवलज्ञानरूप परिणमे, ज्ञान ज्ञानरूपसे ही तो परिणमेगा। जो जिस रूप है वह उस रूपसे ही परिणमेगा, अन्य रूपसे नहीं परिणमता। जो जिस स्वरूप में है वह उस रूपसे न परिणमे तो उस पदार्थका अभाव हो जायगा। अगर दूध दूधरूपसे न परिणमे तो फिर दूध कहाँ रहेगा ? इसी प्रकार यह जीव ज्ञान दर्शनमय है, इसका अगर ज्ञान दर्शनरूपमें उपयोग न होगा तो जीव ही कुछ न रहा। इसलिए जीवका ज्ञान दर्शन उपयोग है उस रूपसे इसका परिणमन होता रहता है और यह उपयोग जीवका अभिन्न लक्षण है।

केनचित् प्रसिद्ध व केनचित् अप्रसिद्धकी प्रसिद्ध लक्षण द्वारा साधना—लक्षण बताये जाते हैं अप्रसिद्धकी सिद्धि करनेको। लक्षण वह होता है जिसको सब जानें, जिसके जाननेमें ज्यादा असुविधा नहीं है, जो प्रकट है, और जिसके बारेमें कम समझ बनती है, अप्रसिद्ध है वह होता है लक्ष्य। जैसे बहुत आदमी बैठे हैं—उनमें से किसी ने किसीसे कहा कि भाई

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

फलाने चंदको बुलाओ। कौन है फलाने चंद ? जो इस इस तरहसे बैठे हैं वह हैं। तो यह बात झट देखकर समझमें आ जायगी कि अमुक पुरुष हैं फलाने चंद। तो लक्षण होता है प्रसिद्ध और जिसकी पहिचान करायी जाती है वह होता है अप्रसिद्ध। यह ही बात जीव और उपयोगके बारेमें है। ज्ञानकी तो बड़ी प्रसिद्धि है। हर एक कोई जान रहा है। यदि कोई यह कहे कि जीव है ही नहीं तो उससे कहो कि जीव है नहीं, ऐसा तुम्हारा ज्ञान चल रहा है कि नहीं ? हाँ ज्ञान तो चल रहा है। ज्ञानको कौन मना करे ? जीवको मना कर रहे तो उसे समझा दो धीरेसे कि जिसमें यह ज्ञान चल रहा कि जीव है ही नहीं, सब गपोल बात है। जो यह ज्ञान चल रहा है जिसमें वही जीव है, ज्ञान है प्रसिद्ध और जीव है अप्रसिद्ध। ज्ञान तो अपनेपर गुजर रहा ना, इसलिए ज्ञान तो स्वसम्वेदन है और जीव जीव एक समूचा है, उसके बारेमें कुछ शंका होती है, उसका समर्थन किया।

एक बात और समझो कि लक्षणके द्वारा वह लक्ष्य जाना जाता जो किसी रूपमें प्रसिद्ध है और किसी रूपमें अप्रसिद्ध है। अगर लक्ष्य पूरा अप्रसिद्ध है, जरा भी उसके बारेमें मालूमात नहीं है तो उसका लक्षण नहीं बन सकता, और यदि वह पूरा प्रसिद्ध है, स्पष्ट है, तो लक्षण न बनेगा। लक्षण तो पहिचाननेके लिए बनाया जाता। अब वह हो गया प्रसिद्ध। लक्षण काहेको करना ? जैसे किसीको समझाते हैं—देखो अग्नि है, क्योंकि गर्म होनेसे। अब गर्मी अग्निका लक्षण बना। तो गर्मी तो प्रसिद्ध है ना ? जिसके द्वारा हम आग पहिचाना करें, वह लक्षण तो बिल्कुल स्पष्ट है, मगर अग्नि क्या अप्रसिद्ध है ? नहीं। क्या प्रसिद्ध है ? नहीं। जो यह है इतनी बात तो प्रसिद्ध है। कोई चीज सामने दिख रही है जिसको हम अग्नि बता रहे हैं तो जो यह है उतना वस्तुरूपसे तो वह प्रसिद्ध है, पर आग है इस रूपसे अप्रसिद्ध था, उसे यों सिद्ध कर रहे कि यह आग है। कोई भी आप लक्ष्य-लक्षण बनावें यह ही तरकीब मिलेगी सबमें। लक्षण होता है प्रसिद्ध और लक्ष्य होता है किसी रूपमें अप्रसिद्ध और किसी रूपमें प्रसिद्ध। जिस रूपसे प्रसिद्ध है उसमें अप्रसिद्धकी बात घटाना यह ही कहलाता है लक्ष्यमें लक्षणना।

कथंचित् प्रसिद्ध व कथंचित् अप्रसिद्ध जीवकी प्रसिद्ध उपयोगलक्षण द्वारा सोदाहरण सिद्धि—किसीने पूछा कि भाई गायका लक्षण क्या है ? जो गायको नहीं जानता था कि यह गाय है, गायका लक्षण क्या है ? तो कहा—देखो जिसके गलेसे कंधेके जोड़ तक झाल लटकती हो उसे गाय कहते हैं। तो अब देखो झाल तो दिखती है, झाल रूपसे वह प्रसिद्ध है और जिसको हम गाय जानना चाहते वह गाय अप्रसिद्ध है। पशुरूपसे तो प्रसिद्ध है, पर वह गायरूपसे अप्रसिद्ध है उसकी निगाहमें, तब ही तो लक्षण बना। अगर वह पशुरूप या किसी रूपसे भी सामने न हो गाय तो लक्षण न बनेगा। किसका लक्षण बने ? और अगर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गाय रूपसे एकदम खुलासा सिद्ध है तो लक्षणकी चर्चा करना बेवकूफी है। क्यों समय खोते, जानते तो हैं। किसी रूपसे अप्रसिद्ध हो और किसी रूपसे प्रसिद्ध हो तो प्रसिद्ध अप्रसिद्धको समझनेके लिए लक्षणकी जरूरत पड़ती है। तो यह जीव ज्ञानरूपसे तो प्रसिद्ध है। जाननेका किसे ज्ञान नहीं ? अब यह बतला रहे कि जिसमें ज्ञान है उसे जीव कहते हैं। यों जीवका लक्षण ज्ञान दर्शन अथवा उपयोग है। और यह उपयोग जीवसे अभिन्न है। दूसरी बात—अगर जीवका ज्ञान दर्शन रूपसे परिणाम नहीं मानते तो अब यह परिणामरहित हो गया ना, पर्यायरहित हो गया। तो अब वह कूटस्थनित्य हो गया। जो कूटस्थनित्य है, जिसमें कुछ भी अदल-बदल नहीं, उसका कोई स्वभाव नहीं, और जिसका कोई स्वभाव नहीं उसकी सत्ता ही नहीं। जीव ज्ञानदर्शनमय है, उसका ज्ञानदर्शन रूपसे उपयोग है और वह उपयोग जीवसे अभिन्न है।

जिस जीवके औपशमिक आदिक स्वतत्त्व बताये गए हैं उस जीवका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर इस सूत्रका अवतार हुआ है। जीवका लक्षण उपयोग है, वह उपयोग चैतन्यस्वभावका परिणाम है। यह परिणाम आत्माका है और यथासम्भव अंतरंग कारण और बहिरङ्ग कारण मिलनेपर होता है। इस कथनमें सब जीवोंको लक्षित किया गया है। यथा-सम्भव कारण मिलनेकी बातसे सर्व बातें सर्व जीवोंके ध्यानमें आती हैं। एकेन्द्रिय जीवके केवल स्पर्शनइन्द्रिय बहिरंग कारण और तत्सम्बंधी भाव अंतरंग कारण है। उनको अन्य बाह्य पदार्थोंके कारण भी नहीं होते। दो इन्द्रिय जीवके केवल दोइन्द्रियका व्यापार ही कारण है, ऐसे ही जिसके जितनी इन्द्रियाँ हैं उतनी इन्द्रियाँ ही साधन हैं। सैनी जीवोंके उपयोगका साधन मन भी है,। अधिक बाह्य कारणोंमें कितने ही जीव सिंह, बिल्ली आदिक बिना प्रदीप के ही जान जाते हैं। मनुष्य प्रदीपका सन्निधान, प्रकाशका सन्निधान होनेपर जानते हैं। जो अवधिज्ञानी जीव हैं वे इन्द्रियके व्यापार बिना ही जान जाते हैं। केवलज्ञानी जीवोंको इन हेतुवोंकी रंच भी आवश्यकता नहीं। कारण ही न चाहिए, ऐसा यथासम्भव अन्तरंग कारण और बहिरंग कारण मिलनेपर जीवके चैतन्यका सम्बंध रखने वाला जो परिणाम है वह उपयोग है। ऐसा इस सूत्रमें कथन किया गया है।

लक्ष्यभूत आत्माका अभाव होनेसे उपयोगके लक्षणत्वकी अनुपपत्तिकी शंका—अब उपयोगलक्षणको सुनकर एक शंकाकार कहता है कि इतना अधिक परिश्रम एक व्यर्थ ही किया जा रहा है। बड़े सूत्र रचे जा रहे हैं, उपयोग लक्षण है, बड़ी मेहनत की जा रही है। अरे आत्मा नामकी कोई चीज ही नहीं है, फिर लक्षण बनानेकी जरूरत क्या ? अरे कोई चीज हो उसका लक्षण बनाओ। जैसे पुरुष है, कोई तो उसका लक्षण बनाओ। पदार्थ चौकी बगैरा है तो बना लीजिए लक्षण, पर आत्मा नामकी तो कोई चीज ही नहीं है, उसका लक्षण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्या ? उपयोग लक्षण नहीं हो सकता। जो चीज नहीं है क्या उसका भी लक्षण बनाया जाता ? यदि असत्‌का लक्षण बनाया जाने लगे तो खरगोशके सींगका लक्षण बनाओ, आकाश के फूलका लक्षण बनाओ, मेढककी चोटीका लक्षण बनाओ। जो असत् है उसका लक्षण क्या बनाओगे ? अगर कोई पूछता है कि आत्मा असत् है यह कैसे समझा ? तो बहुत सीधी बात है, आत्माका कोई कारण नहीं है। जिसका कारण नहीं उसकी सत्ता कैसे हो ? अरे इंधन है तो अग्निकी सत्ता है। बिना कारणके सत्ता कहाँसे आयगी ? एक बात। दूसरी बात, इस आत्माका कोई कार्य ही नहीं दिख रहा। जिसका कोई कार्य नहीं वह तो बेकार है, उसकी सत्ता क्या ? जैसे—गधेके सींगका कुछ काम होता क्या ? किसीके चुभ जायगा क्या ? जब उसका कोई कार्य ही नहीं है तो फिर सत्ता क्या ? और तीसरी बात बहुत सीधी यह है कि आत्मा दिख ही नहीं रहा, प्रत्यक्ष ही नहीं, पाया ही नहीं जा रहा, नहीं तो हमारी हथेली पर धर दो, हम कह देंगे कि हाँ आत्मा है, और घोषणा करा देंगे। तो जब आत्मा नहीं दिखता है, न प्रत्यक्ष है, न उसका कोई कारण है, न कार्य है तो उसकी सत्ता कैसे ? और जो है नहीं उसके बारेमें बहुत-बहुत प्रलाप करनेसे फायदा क्या है ? इसलिए उपयोग लक्षण कहना ठीक नहीं और सूत्र बनानेका क्यों प्रयास किया जा रहा है ? ऐसी एक आशंका हो रही है।

अकारणवान कहकर आत्माका अभाव बताने वाले शंकाकार द्वारा दिये गये अकारणवत्व हेतुमें असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक दोष आनेसे आत्माकी स्पष्ट सिद्धि—अब उक्त आशंकाके समाधानमें कहते हैं– क्या कहा शंकाकारने ? आत्मा नहीं है, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं, उसका कोई कार्य नहीं, उसकी उपलब्धि नहीं, तीन युक्तियोंको रखा है शङ्काकारने। तो अब पहली युक्तिपर विचार करें। शङ्काकारका कहना है कि आत्माका कोई कारण नहीं है जिससे कि आत्मा बनता हो तो उसकी फिर सत्ता कैसे ? सो देखिये—इस विषयमें चार बातें समझनी हैं पहली बात तो यह है कि शङ्काकारका यह हेतु असिद्ध है, आत्माका कारण है। नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव, पशु, पक्षी यद्यपि एक दृष्टिसे ये पर्याय कहे जाते हैं, मगर ये पर्याय हो तो लें आत्माके बिना। ये आत्मासे अभिन्न हैं। तो ये आत्मा ही हैं। व्यवहारमें ये जीव ही कहे जाते हैं। नारकी जीव, पशु जीव, पक्षी जीव, देव जीव, ये जीव ही तो कहे गए हैं और इन जीवोंका कारण है। मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, कषाय और योग—ये सब बातें इन गतियोंमें उत्पन्न होनेके कारण हैं ना ? ये गतियाँ ये सब कोई जीव ही तो हैं। लो कारण बन गया। दूसरी बात यह समझो। तुम क्या कह रहे हो शंकाकार ? आत्मा नहीं है, क्योंकि कारणरहित होनेसे। अरे तुम तो कारणरहितका हेतु कहकर आत्माका अभाव बताना चाहते हो और बात यहाँ उल्टी तुमपर घटती है। अरे जो कारणरहित है वह

http://sahjanandvarnishastra.org/

उटकर द्रव्य है। आत्मा है क्योंकि कारणवान न होनेसे। जो कारणवान होगा वह द्रव्य न होगा, उसकी आदि होगी। हम आत्माकी आदि नहीं मानते। आत्मा तो अनादि कालसे है और आत्माकी अनादिसे सत्ता तब ही है जब कि वह स्वयंसिद्ध है। उसका कोई कारण नहीं। किसी कारणसे आत्मा बना नहीं, इसीलिए आत्मा भले प्रकार अनादि अनंत अस्तित्वको लिए हुए है। जो जो भी पदार्थ हैं वे कारणरहित ही हैं। यदि कहो कि नहीं, है तो वह कारणकी जरूरत क्या ? ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जगतमें जिसकी सत्ता हो और कारणवान हो। कारणवान तो पर्याय होती है, वस्तु नहीं होती कारणवान। पर्यायमें कारण चाहिए। जो है पदार्थ उसकी अवस्थायें बननेके लिए कारण चाहिए। पदार्थोंके अस्तित्वके लिए कारण नहीं। अगर कारण है तो उसका अस्तित्व नही, क्योंकि जिसका कारण है वह पहलेसे "है" न होगा। कारण बननेके पहले सत्ता न मानी जायगी। अगर कारणवान है आत्मा तो कारण जुटाने के बाद ही तो आत्माका अस्तित्व कहलायगा और कारण जुटानेसे पहले आत्माका अस्तित्व न रहा, क्योंकि कारण तो इसलिए जुटाया जाता है कि कार्य बन जाय। तो तुम्हारा जो हेतु है कि अकारणवान है इसलिए आत्मा नहीं है यह तो विरुद्ध हेतु हो गया। इस ही हेतुसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो गया। तीसरी बात असिद्ध विरुद्ध और अनेकांतिक दोष भी है। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे तो पदार्थ अकारणवान है और पर्यायार्थिक दृष्टिसे पदार्थ कारणवान है।

आत्माका अभाव सिद्ध करनेके लिये कहे गये दृष्टान्तोंकी स्वपक्षसाधनमें असमर्थता— चौथी बात यह है कि जो दृष्टान्त दिया है कि मेढकको चोटी, सो सर्वथा असत् है ही नहीं। बोलो गधेके सींग, खरगोशके सींग, आकाशके फूल ये जो दृष्टान्तमें दिया है ये सर्वथा असत् नहीं हैं। अगर सर्वथा असत् होते तो इनके बताने वाले शब्द भी न होते। जितने शब्द हैं उतने अर्थ हैं। ऐसे कोई शब्द न मिलेंगे जो किसी असत्का नाम बताते हों। है तब ही तो उसका शब्द बना। शब्दका अर्थ क्या है ? शपति आह्वयति अर्थं इति शब्दः, जो पदार्थका नाम कहे उसको शब्द कहते हैं। यह संस्कृत धातु है शप्, तो शब्द ही यह बताता है कि उसका वाच्यभूत पदार्थ है। अच्छा, अब देखो मेढककी चोटी निकलवाते हैं।

देखो कर्म आवेश विभिन्न होते हैं। कोई जीव कर्मोदयसे मेढककी पर्यायमें पहुँचा, मेढक बन गया। अब वह ही जीव (मेढक) मरकर स्त्री हो गया। अब स्त्रीभवमें तो चोटी है ना ? और जीव वह एक ही है। जो मेढक था सो स्त्री बना। तो जब जीव एक है, एक दृष्टि से कह देंगे कि मेढककी चोटी। अच्छा आपके पुराणोंमें जो बहुत वर्णन आता है ना—कमठ ने उपसर्ग किया पार्श्वनाथ भगवानपर। बताओ यह बात सच्ची है क्या ? सच नहीं है। अरे कमठ तो था तब जब यह मरुभूति था, उसके भाईका नाम था कमठ। अब पार्श्वनाथके समय में कमठ है कहाँ ? वह तो गुजर गया, कितने ही भव गुजर गए। अब तो ज्योतिषी देव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बना है, उस ज्योतिषी देवने उपसर्ग किया, कमठने नहीं। पर कहते तो सब यही हैं कि कमठ ने उपसर्ग किया पार्श्वनाथपर। तो उसका अर्थ यह है कि जो कमठ पर्यायमें जीव था वही जीव भव धारण कर करके ज्योतिषी देव हुआ, और उस ज्योतिषीने क्या उपद्रव किया सो उसे कहते हैं कमठके द्वारा उपद्रव हुआ। तो पुराणोंमें तो यह बात बड़ी शानके साथ कहते हो, फिर मेढककी चोटीकी बात कहनेमें क्यों डरते हो? अरे जो पहले मेढक था वह मरकर स्त्री हो गया, वहाँ चोटी हो गई, सर्वथा असत् तो न रहा। एक नयवाद ऐसा है कि वह किसी भी व्यवहारका लोप नहीं कर सकता। तो एक जीवके सम्बंधसे मंडूक शिखंड कहा जा सकता है। इसका नाम शिखंड है, जिसे चोटी कह दो। अच्छा अब कारणकी बातमें चलो, मंडूक शिखण्डमें कारण है कि नहीं? याने जो अभी मेढककी चोटी बतायी उसका कारण है कि नहीं? है कारण। स्त्री भोजन करती है उससे शरीर बढ़ता है, बल बढ़ते हैं, चोटी बनती है, बिना कारणके तो नहीं है।

तो शंकाकारका जो अकारणवान है आत्मा ऐसा कहकर उसका जो नास्तित्व सिद्ध करनेका प्रयत्न है, वह युक्त नहीं है। अच्छा आकाशका फूल। यह सर्वथा असत् नहीं है। कैसे? देखो फूल मायने क्या? वनस्पति नामक नामकर्मके उदयसे एक वृक्ष उत्पन्न हुआ। वह वृक्ष क्या है? जीव और पुद्गलका समुदाय है। खाली पुद्गल पुद्गलका नाम पड़ा है क्या जीव और पुद्गल। इन दोनोंका समुदायरूप पर्याय है वह। उस वृक्षका हुआ फूल और इसके साथ-साथ और भी पुद्गल परमाणु हैं, उसकी जड़में आये, पानी आया, मिट्टी आयी, खाद आयी, वे ही सब भिन्न भिन्न फैल गए। कारण बन गए। तो वह पुष्प वृक्षका है, इसमें तो संदेह नहीं। इतना कहा जाता कि यह वृक्षका फूल है, क्योंकि वह फूल वृक्षमें व्याप्त है, वृक्षमें लगा है। तो जैसे फूल वृक्षमें व्याप्त है, ऐसे ही वह फूल आकाशमें व्याप्त नहीं क्या? जैसे वृक्षसे अलग कहीं फूल नहीं पड़ा, ऐसे ही आकाशसे अलग कहीं फूल है क्या? वृक्षमें व्याप्त है। आकाशमें व्याप्त है और बल्कि फूल टूट जाय तो वृक्षसे तो मतलब नहीं रहा, पर आकाशमें अब भी व्याप्त है। इतना डबल सिद्ध है कि फूल आकाशका है। फूल बेचारा वृक्षसे टूट जाय तो वृक्षमें व्याप्त अब न रहा, मगर आकाशमें व्याप्त अब भी है। एक इस चीजको समझनेकी बात है केवल। शंकाकार जो शंका कर रहा है उस शङ्काके निराकरणमें कितनी ही बातें कही जाती हैं, अन्य दृष्टियोंसे और बात है। तो शंकाकारने जो दृष्टान्त दिया वह दृष्टान्त भी ठीक घटित नहीं है, ऐसे ही सभीमें ले लो।

कहीं प्रसिद्धका अन्यत्र समवाय जोड़नेका नाम लोकव्यवहारगत असत्त्व— अब दूसरी बात यह है—जैसे कह रहे गधेके सींग, अरे तो अर्थ यह है, सर्वथा असत् कुछ नहीं। सींग भी होते हैं, गधा भी होता है। अब जो सींग गाय, भैंस आदिकमें समवायसे रहता है वह सींग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस गधेके सींगपर समवायसे नहीं है। बात तो इतनी है कि कहीं गधेका और सींगका सर्वथा अभाव नहीं है। सर्वथा अभाव हो तो उसका शब्द ही नहीं दुनियामें। तो इस प्रकार आत्मा अकारणवान है—ऐसा कहकर आत्माको नास्तित्व नहीं कहा जा सकता।

अकार्यत्व हेतुकी असिद्धता होनेसे आत्माके अभावकी सिद्धिकी असंभवता—इसी तरह आत्मा अकार्य है, ऐसा कहकर भी आत्माका लोप नहीं किया जा सकता। कौन कहता है कि आत्माका कार्य नहीं ? सुख होना, दुःख होना, ज्ञान होना ये किसके कार्य हैं ? तो आत्मा कार्यवान है इसलिए आत्माका अस्तित्व है।

आत्माका अभाव सिद्ध करनेमें अप्रत्यक्षत्व हेतुकी विफलता—तीसरी बात शङ्काकारने यह कही थी कि आत्माका प्रत्यक्ष ही नहीं हो रहा, अप्रत्यक्ष है, जैसे गधेके सींग, ये अप्रत्यक्ष हुए। हों तो बताओ। तो जो अप्रत्यक्ष है, जो दिख नहीं रहा है उसका तो अस्तित्व नहीं, ऐसे ही आत्मा अप्रत्यक्ष है तो उसका अस्तित्व नहीं है। शंकाकारका यह कहना भी युक्त नहीं। पहली बात तो यह है कि यह हेतु असिद्ध है, आत्मा अप्रत्यक्ष है सो ठीक नहीं, बराबर आत्मा प्रत्यक्ष है। केवलीभगवान जानते हैं, अवधिज्ञान अमूर्तको नहीं जानता, मगर ऐसे कारणोंसे बहुत स्पष्ट अनुमानसे जानता है। हम आप लोग अनुमानसे जानते, आगमसे जानते, वह अप्रत्यक्ष नहीं। अच्छा देखो—थोड़ा न्यायकी छटासे बात कह रहे तीन चार मिनट। ध्यान देकर सुनना तो समझमें बात आयगी। शंकाकार कह रहा कि आत्मा अप्रत्यक्ष है। तो अप्रत्यक्षका अर्थ बता दो क्या है ? अप्रत्यक्षके दो अर्थ होंगे। अप्रत्यक्ष मायने परोक्ष, प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु और कुछ है, एक अर्थ यह होगा—प्रत्यक्ष नहीं, और आगे बोलो कुछ नहीं है। जहाँ निषेध आता है वहाँ दो अर्थ होते हैं—(१) प्रसज्यप्रतिषेध और (२) पर्युदास। हर बातमें। अजी इस आदमीको मत लावो, तो इसके दो अर्थ हो गए—मायने दूसरेको ले आवो, एक तो यह अर्थ हुआ और एक यह हुआ कि लावो ही मत। तो अप्रत्यक्षमें दो अर्थ हुए—(१) प्रसज्यप्रतिषेध और (२) पर्युदास। मायने प्रत्यक्ष नहीं है आत्मा, किन्तु परोक्ष है। चलो रहने दो, परोक्ष है, है तो सही आत्मा। अगर अप्रत्यक्षका अर्थ यह किया जाय कि परोक्ष है तो उससे तो आत्माकी सिद्धि हुई। और यदि अप्रत्यक्षका यह अर्थ किया जाय कि प्रत्यक्ष नहीं, आत्मा प्रत्यक्ष नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा तो है, प्रत्यक्ष नही है। शब्द ही यह बात बतलाता है, क्योंकि निषेध उसका किया जाता जो चीज है।

जैसे घड़ा नहीं है, मायने घड़ा कोई वस्तु है, उसका अभाव है तो आत्मा कोई वस्तु है, उसका अभाव है, यह ही तो अर्थ हुआ अनुपलम्भका। किन्हीं भी शब्दोंमें बोलो, आत्माको मना नहीं कर सकते। अरे जो तुम बोलने वाले हो, समझने वाले हो, कहने वाले हो,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मना करने वाले हो तो तुम भी हो कोई कि नहीं ? जिसमें ऐसा ज्ञान जगता है, मना करते हो वह ही तो आत्मा है। अब उसका नाम तुम चाहे कुछ रख लो। चेतन और अचेतन—इन दो का कोई निराकरण नहीं कर सकता। इस कारण आत्मा अप्रत्यक्ष है, ऐसा हेतु देना असिद्ध दोषसे दूषित है।

दूसरी बात यह है कि जो अप्रत्यक्ष है उसका ज्ञान होता कि नहीं, यह बतलाओ ? जो तुम्हारे सामने नहीं आया उसका भी ज्ञान होता कि नहीं होता ? अगर होता है तो तुम्हारा हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। गधेके सींग, बोलो इनका ज्ञान होता कि नहीं ? ज्ञान तो होता और सींग सो है नहीं, मगर एक ध्यान हो तो देनेकी बात है। ध्यान देकर गधेके हिरण अथवा भैंसके जैसे सींग लटका दो। तो ऐसा जान नहीं सकते क्या ? तो यह दलील देना कि अप्रत्यक्ष है, यह बात युक्त नहीं।

स्वसम्वेद्य ज्ञानकी तरह आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि—दूसरी बात यह है कि ज्ञान ही का नाम आत्मा है और ज्ञान स्वसम्वेद्य है, अपने ही द्वारा अपनी समझमें आ रहा। कितनी ही कल्पनायें करते, गुनगुनाते, जानते, वह आत्मा नहीं है क्या ? और योगियोंको प्रत्यक्ष है। सो जैसे स्वसम्वेद्य होनेसे ज्ञानकी तुम सत्ता मानते हो, ऐसे ही स्वसम्वेद्य होनेसे आत्माकी भी तुम सत्ता मानो। ज्ञान और आत्मा जुदा नहीं। तो देखो पद-पदमें शंकाकारों की ड्यूटी बदल रही है। एक आत्माका निषेध करने वाले चार्वाक, एक आत्माका निषेध करने वाले ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध। ज्ञानको तो मान लेंगे कि है, मगर आत्माको न मानेंगे। क्यों भाई ज्ञानकी तरह आत्मा मान लेंगे तो क्या नुक्सान है ? तो उसका शंकाकारके पास यह जवाब है कि ज्ञान तो होता है क्षणिक। वह हर समय नहीं चलता। एक समयको ज्ञान हुआ दूसरे समय न रहा, दूसरे समय दूसरा ज्ञान हुआ। तो अगर आत्मा मान लोगे कि यह सदा रहने वाला है, पहले भी था तो हमें अपनी खबर रहेगी कि मैं था, मैं हूं, उस आत्माकी हम धारा बनायेंगे तो हम बड़ी गड़बड़ीमें पड़ जायेंगे। अभी तो यह है कि आत्माका निषेध करें, मोक्ष पा लेंगे। आत्मा है नहीं, इसलिए इसका क्या ? मुक्ति पा लें ऐसा शंकाकारका सिद्धान्त है, लेकिन नहीं, आधार बिना गुण नहीं, गुण बिना द्रव्य नहीं, तो चूंकि ज्ञान है तो उससे तन्मय आत्मा है। तो शंकाकारने यह शंका उठायी थी कि तुम उपयोग लक्षण है, उपयोग लक्षण है, बार-बार क्यों बोल रहे हो ? अरे आत्मा ही कुछ नहीं है तो लक्षण किसका बताते हो ? उस शंकाके समाधानमें यहाँ दो बातें कही गई हैं कि आत्माका अस्तित्व है और जिन-जिन हेतुवोंको देकर आत्माका नास्तित्व सिद्ध करना चाहा शंकाकारने उन्हीं हेतुवोंसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया गया है। आत्मा है और वह अप्रसिद्ध है। सबकी जानकारीमें है नहीं, तो उसकी कोई प्रसिद्ध बात बतानी जरूरी है। सो उस जीवकी प्रसिद्ध पहिचान है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उपयोग, जिसका सब लोग अनुभव कर रहे हैं। यह उपयोग जीवका लक्षण है।

नास्तित्व व अप्रत्यक्षत्व धर्मके आधारभूत आत्माकी सिद्धि—प्रसंग यह चल रहा है कि नास्तिकवादी यह कह रहे हैं कि आत्मा है ही नहीं, फिर आत्माके बारेमें कोई चर्चा करना बिल्कुल बेकार है। आत्मा नहीं है—इस बातको सिद्ध करनेके लिए कोई अधिक असुविधा नहीं है। सीधा हेतु है, नहीं है, दिखता नहीं है, अप्रत्यक्ष है इसलिए आत्मा नहीं है, ऐसी शंका करने वालेको इस समाधानसे संतोष हो ही गया होगा, और न हुआ हो तो अच्छा वे यह बतायें कि आत्माके बारेमें यह कह रहे हो कि आत्माका नास्तित्व है, आत्मा अप्रत्यक्ष है, इस कारण आत्माका अभाव है। तो यह बतलावो कि आत्मामें नास्तित्व धर्म है कि नहीं ? अप्रत्यक्षत्व मायने प्रत्यक्ष न होना, यह धर्म आत्मामें है या नहीं ? अगर कहो कि नास्तित्व आत्मामें नहीं है तो इसका अर्थ यह हो गया कि आत्मा है। अगर कहो कि नास्तित्व आत्मामें है तो आत्माकी सिद्धि हो गई किसी भी रूपसे सही, है एक ऐसा आत्मा कि जिसमें नास्तित्व धर्म है। अब यह अर्थ लगा लो कि परकी अपेक्षा नास्तित्व है। है कोई ऐसा आत्मा जिसमें अप्रत्यक्षत्व धर्म है। अर्थ लगा लो—प्रत्यक्ष तो नहीं है, मगर परोक्षसे आत्मा जान लिया जाता है। कोई भी वचन केवल विधिको सिद्ध करने वाला नहीं है व केवल निषेधको सिद्ध करने वाला नहीं है। विधि और निषेध दोनोंका समाधान करने वाला होता है वचन।

ज्ञानकार्यके चिन्हसे ज्ञाता आत्माकी सिद्धि—अच्छा अब सीधी बात देखो, आत्मा मायने ज्ञाता, गृहीता, जाननहार। तो ऐसा आत्मा है, क्योंकि इतनी बातें तो देखी जाती हैं कि विषयका ज्ञान चल रहा। कोई पदार्थ जाना गया तो जानना तो चल रहा ना ? अब यह जानना इन्द्रियमें नहीं है, यह जानना इन्द्रियजन्य विज्ञानसे नहीं, यह जानना किसी जड़में नहीं, तो इसमें तो बाधा न जानना और जानना सो चल रहा है। अपने-अपने अनुभव करो, बोलो जानता है ना खुद ? आप लोग कुछ न कुछ जान रहे हैं कि नहीं ? जान रहे हैं। तो यह ज्ञान जिसमें हो उसीका नाम आत्मा है। तो ज्ञानधर्मसे आत्माकी सिद्धि होती है, वही ज्ञानका पर्याय है उपयोग। उपयोग जीवका लक्षण है जो जीव नहीं। उसमें उपयोग नहीं होता, जिसमें उपयोग नहीं वह जीव नहीं कहलाता। हम लोगोंको अपने आत्मा का कुछ विश्वास होता कि नहीं कि मैं ही देखने वाला, जानने वाला हूं। जिसको मैंने कल देखा था वही देखने वाला मैं आज हूं, तो सबकी बात मैं याद कर रहा हूं। तो देखो आत्मा का बोध हो रहा कि नहीं।

आत्माके विषयमें संशय विपर्यय होनेका अर्थ आत्मकी सिद्धि—और देखो, अगर कोई यह कहे कि हमको तो आत्माके विषयमें संशय हो गया। अच्छी बात है। अगर संशय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो गया तो यह तो बहुत अच्छी बात है अज्ञानकी अपेक्षा तो आत्माकी सिद्धि की हकमें। संशय तो वस्तुमें होता कि अवस्तुमें ? अगर आत्माके बारेमें संशय हो गया है तो इससे ही सिद्ध है कि आत्मा वस्तु है। अगर रस्सीमें संदेह हो गया है कि यह रस्सी है या साँप, तो रस्सी है या साँप– इस विकल्पका जो लक्ष्य है, ऐसा कोई मैटर पड़ा है तब हो रहा ना संशय "यह" इतनी बात तो सही है ही। अब रस्सी है या साँप है, यह बात आगे निर्णयकी है। "यह रस्सी है या साँप है।" इसमें यह जिसके लिए कहा वह ज्ञान तो सच्चा है। अब संशय ज्ञान हुआ तो संशयज्ञानमें कुछ तो सच्चाई है और कुछ मिथ्यापन है, बिल्कुल मिथ्या नहीं। यह मनुष्य है या खम्भा तो मनुष्य और खम्भा रूपसे निर्णय तो नहीं हुआ, मगर 'यह' इस शब्दने जिसको बताया, दिखाया वह तो पक्का है ना ? हाँ पक्का है ही। अब क्या है ? इस विशेषतामें संदेह है। तो जिन जीवोंको आत्माके बारेमें संशय हो गया तो उनके इस संशयके कारण ही आत्माकी पुष्टि हो जाती है। कोई कहे नहीं हमको तो आत्माके बारेमें विपर्यय ज्ञान है, बिल्कुल उल्टा ज्ञान हो रहा। उल्टा सही, पर उल्टे ज्ञानमें भी यह इतना तो कहते ही हैं। जैसे पड़ी तो थी सीप और कहा—यह चाँदी है, तो 'यह' इस शब्दसे जो जाना गया वह तो पक्का है। अब चाँदीका धर्म है या नहीं, यह आगेकी बात है। तो अगर आत्माके बारेमें विपरीत ज्ञान हो जाय तो चलो यह भी अच्छा है। हुआ तो किसीके बारेमें विपरीत ज्ञान। तो जिसको लक्ष्यमें लिया, यह है आत्मा, शरीरको मान लिया जैसे आत्मा तो यह हूं मैं तो शरीर तो न रहा मैं, मगर 'यह' जिसके लिए कहा वह कुछ वस्तु तो अवश्य है। तो इससे सिद्ध है कि आत्मा अवस्तु नहीं। हो गया ना मैं हूं, अनादि कालसे हूं, अनन्त काल तक रहूंगा और मुझमें सब प्रकारके परिणमन चलते हैं।

आत्माके क्षणिकत्व व असत्त्वकी असिद्धि—यहाँ शंकाकार कहता है कि नहीं। आत्मा बहुत देर ठहरने वाला नहीं, थोड़ा भी ठहरने वाला नहीं है, किन्तु अपने समयमें आत्मा उत्पन्न हो जाता, दूसरे समयमें वह नष्ट हो जाता। और उसमें जो यह भ्रम लग गया है कि वही आत्मा हूं मैं जो सुबह था, जो कल था, उसका नाम है। वह सब संतानसे जाना जाता है। जैसे एक दीपकमें तेल जल रहा है तो तेलकी एक-एक बूँद दीपक बनती जाती है, भ्रम ऐसा लगा कि यह दीपक तो घंटे भरसे जल रहा, मगर दीपक तो उसे कहते हैं जो तेल बिन्दु जला और रोशनी हुई। मगर भ्रम रहता ना कि वही दीपक है जो सुबह था, सो अब है। तो वहाँ भ्रम हुआ, निमित्तकी संतान चल रही याने एक तेलका दीपक बना तो तुरन्त दूसरे बूँदका दीपक बना, फिर तुरन्त ही तीसरे बूँदका दीपक बना। तो जैसे वे दीपक हैं तो भिन्न-भिन्न, मगर भ्रम हो गया। ऐसे ही क्षणिकवादी कहते हैं कि आत्मा है तो भिन्न-भिन्न, एक समयमें एक ही आत्मा है, दूसरे समय नहीं ठहरता, मगर उसके बारेमें भ्रम हो गया

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तब संतान, तो उत्तर देते हैं कि तुम्हारी संतान वास्तविक है या काल्पनिक ? वास्तविक है तो उसीका नाम आत्मा है। केवल नाममें फर्क हो गया। तुम उसका नाम रखते हो संतान, हम उसका नाम रखते हैं द्रव्य, आत्मा। लो यों सिद्ध हुआ कि आत्मा है, और अनुभव भी बताता है कि जिसमें सुख होता, दुःख होता, कल्पनायें जगतीं, वह ही तो आत्मा है, और जो दृष्टान्त दिया है, यहाँ दीपका उपादान तेल तो है, सो असत्की उत्पत्ति तो नहीं, सो आत्मा जब है तो उसकी पहिचान करें, क्योंकि संतोष मिलेगा तो आत्मामें ही रमनेपर संतोष मिलेगा। बाहरी पदार्थोंमें कहीं भी आप चित्त लगायें तो शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए आत्मज्ञान करना आवश्यक है।

उपयोगकी अनवस्थितता होनेसे जीवलक्षणताके अभावकी आशंकाका समाधान— अच्छा देखो जो आत्माका अभाव सिद्ध कर रहे हैं उन्होंने यह भी कहा था कि अगर आत्मा को भी मानो, प्रथम तो है नहीं, और कदाचित् मान लो कि है आत्मा, तो उसका लक्षण उपयोग नहीं बन सकता। सूत्र बनाया ना—उपयोगो लक्षणं, जीवकी पहिचान क्या है ? उपयोग, सो कहते हैं कि उपयोग लक्षण नहीं बन सकता, क्यों नहीं बन सकता कि उपयोग अनवस्थित है। कभी कुछ जाना, कभी कुछ। तो यह उपयोग चंचल है, एकसा नहीं रहता, इसलिय यह लक्षण नहीं बनता। कोई कहे कि न रहे एकसा, और बन जाय लक्षण तो सुनो—एक अनजान आदमी आया और उसने किसीसे यह पूछा कि फलाने लालका घर कौनसा है ? तो वह कहता है कि देखो दाहिने हाथकी तरफ मुड़ जाना, और जिस मकानपर कौवा बैठा है वह है फलाने लालका मकान। तो देखिये—क्या पहिचान बतायी ? कौवा। और अगर वह कौवा उड़ जाय तो फिर ? तब तो फिर यह लक्षण बनाना सही न रहा ना ? जो अस्थिर है वह लक्षण नहीं बनता। तो ऐसे ही कौवाकी भाँति यह उपयोग चंचल है। अभी कुछ जान रहे, अभी कुछ। तो जो चंचल है, अस्थिर है वह जीवका लक्षण कैसे बन जायगा ? शंकाकारने अपना बुद्धिबल लगाकर अच्छी शंका की।

उत्तर इसका यह है कि उपयोग एकान्तसे अस्थिर नहीं है। जो उपयोग विशेष है वह तो स्थिर नहीं है। अभी अमुकको जान रहे, उसे छोड़ दिया दूसरी चीजको जानने लगे तो यह स्थिर तो न रहा उपयोगविशेष, जानकारियाँ ये न रहीं स्थिर, सो ठीक है, मगर जो उपयोगसामान्य है, कुछ भी उपयोग बने, मगर रहा तो उपयोग ही। यह उपयोगसामान्य स्थिर है, स्थायी है, और हम उपयोगसामान्यको ही जीवका लक्षण बता रहे, इस कारण उसमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं है। उपयोग जीवका लक्षण है, यह उपयोगसामान्य, उपयोग तो स्थिर है, क्योंकि यह द्रव्यदृष्टिसे परखा गया तत्त्व है उपयोगसामान्य। सो यह उपयोगसामान्य जीवका लक्षण है। है ना उपयोग सदा जीवमें कि उस कौवाकी भाँति है जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मकानपर बैठा, तो थोड़ा बैठा और उड़ गया, ऐसा क्या जीवमें उपयोग होता है कि अभी तो जीवमें उपयोग है और बादमें उपयोग न रहेगा, ऐसा नहीं है। अगर ऐसा हो जाय कि जीवमें कभी उपयोग आया, फिर मिट गया तो इसके मायने हैं कि जीव भी न रहा। दूसरी बात—किसी उपयोगका उत्पाद हुआ और किसीका विनाश हुआ तो होने दो, एक उपयोग मिटा, दूसरा उपयोग हुआ, हो जाने दो, फिर और उपयोग मिटा, फिर और हुआ तो होने दो। होता रहेगा ऐसा। उनमें जो उपयोग सामान्य है वह है जीवका लक्षण, क्योंकि अगर उपयोगका सर्वथा विनाश हो जाय, जैसे कि मकानसे कौवा उड़ गया, इस तरह आत्मासे अगर उपयोग खतम हो जाय, रहे ही ना, ऐसा सर्वथा विनाश हो जाय तब तो किसीको किसी बात की याद न रहना चाहिए। आत्मा क्षण भरको हुआ और मिट गया, अब नया आत्मा आया तो पहले आत्माके किए हुए कामका उस दूसरे आत्माको कैसे ख्याल रहेगा ? सो उपयोगका अगर विनाश मान लिया जाय तो फिर कभी यादगारी ही नहीं रह सकती। स्मरण चलता, वह सिद्ध करता है कि उपयोग पहले था, अब है, आगे रहेगा। उपयोगका कभी अभाव नहीं है, तो ऐसा जो उपयोगसामान्य है वह है जीवका लक्षण। यहाँ तक कितनी बातें सिद्ध हुईं ? जीव तत्त्व है और उसका लक्षण उपयोग है।

जीवसे अभिन्न उपयोगमें जीवलक्षणताकी प्रसिद्धि—अब एक नया शंकाकार यह बात रख रहा कि उपयोगका सम्बन्ध जीवका लक्षण है, न कि उपयोग लक्षण है। जैसे टोपी वाले आत्माका लक्षण क्या है ? टोपी। शङ्काकार कहता है कि गलत। टोपी लक्षण नहीं है किन्तु टोपीका सिरमें सम्बन्ध बताना यह है लक्षण। डंडा वालेका लक्षण क्या ? डंडा। शंकाकार कहता है कि डंडा लक्षण नहीं है, किन्तु डंडेका सम्बन्ध होना, यह है लक्षण। इस प्रकार जीवका लक्षण उपयोग नहीं है, किन्तु उपयोगका सम्बन्ध होना जीवके साथ यह है जीवका लक्षण।

तो शंकाकारका यह कहना सही नहीं है, क्योंकि उपयोग और जीव यदि जुदे-जुदे रहें तो इनका कभी जीवके साथ सम्बन्ध हो नहीं बन सकता। तो जुदे रहने वाले दो प्रदेशों में जैसे मानो हिमालय और एक विन्ध्याचल, तो इन दो प्रदेशोंमें कभी आदान प्रदान स्वागत सत्कार हो जायगा क्या ? ऐसे ही जीव जुदा हो और उपयोग जुदा हो तो किसी समय उपयोगका जीवके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अब और जरा स्पष्ट भाषामें समझो—जीवका लक्षण ज्ञान बताया और बतलाते हैं कि ज्ञान जुदा पदार्थ है, जीव जुदा पदार्थ है। ज्ञानका जीवके साथ सम्बन्ध बन रहा इसलिए जीवको लोग ज्ञानी कह डालते हैं। जीव तो खाली सूना चैतन्यमात्र है तो उनके सिद्धान्तमें ज्ञान जीवका लक्षण नहीं है। जीव ज्ञानात्मक नहीं है। किन्तु जीवके साथ ज्ञानका सम्बन्ध

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, यह ही जीवका लक्षण है, सो यह बात यों नहीं बनी कि अत्यन्त जो भिन्न हैं उनका आपसमें सम्बन्ध नहीं। तो इस कारणसे उपयोग जीवका लक्षण नहीं हुआ और यह उपयोग जीवसे अभिन्न है याने जीवका आत्मभूत लक्षण है, जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका यह लक्षण है ऐसा मत कहो। यह तो समझानेके लिए है, पर वास्तविकता यह है कि जीव ज्ञानस्वरूप है और उस ज्ञानके द्वारा ही हम आत्माकी पहिचान करते हैं। अब जरा भीतर निहारो—मैं जानने वाला पदार्थ हूं। किसको जान रहा हूं ? निश्चयसे अपनेको ही जान रहा हूं, बाह्य पदार्थोंका जानना नहीं बन रहा मुझमें। बाह्यपदार्थ तो विषयमात्र हैं और इस कारणसे यों कहा जाता व्यवहारमें कि हमने इसको जाना, इसको समझा, यों कहते हैं, मगर वास्तवमें आत्मा अपने आत्माको जानता।

अब जैसा विषय आया, पदार्थ आया ज्ञान उस रूपसे आत्माको जानता। यों ज्ञान जीवका लक्षण नहीं, किन्तु ज्ञानका सम्बन्ध जीवका लक्षण है तो उनकी इस कथनमें ये आपत्तियाँ आती हैं कि अगर ज्ञानका जीवके साथ सम्बन्ध जोड़े तब जीव ज्ञानी कहलाता। तो जब ज्ञानका सम्बन्ध न जोड़ पाया था तब जीव क्या था ? वह अजीव था क्या ? अचेतन था क्या ? फिर जीव बना क्या ? नहीं। जीव द्रव्य, सभी द्रव्य अनादि अनन्त हैं। आत्माका ऐसा ही स्वरूप है झलकने वाला कि इसमें जो सत् है उनके बारेमें परिचय बन जाता है। तो यों जीवका लक्षण उपयोग अभिन्न है और ऐसा अभिन्न है कि चाहे ज्ञान कहो, चाहे जीव कहो दोनों एकार्थक बन जाते हैं, केवल समझानेके लिए उनमें गुणगुणीका भेद डालते हैं। गुणी तो आत्मा है और उसमें ज्ञान गुण रहता है। इससे अपनेको क्या शिक्षा लेनी है कि मैं सहज ज्ञानात्मक हूं। ज्ञान सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूं। ज्ञानको ही मैं करता हूं, ज्ञानको ही मैं भोगता हूं, इतना दृष्टिमें रहे तो इसे ज्ञानानुभूति बनती है और फिर संसारके संकटोंसे छूट जानेका उपाय इसे हस्तगत हो जाता है।

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

जीवोंके लक्षणभूत उपयोगके भेदोंके वर्णनका प्रारम्भ—इस सूत्रमें उपयोगके भेदोंका वर्णन है। उपयोग जीवका लक्षण है, यह उपयोग जीवके स्वतत्त्वमें से ही है, परंतु लक्षणरूप से उपयोग ही है। जीवके भाव ५३ कहे गए हैं। २ औपशमिक, ९ क्षायिक, १८ क्षायोपशमिक, २१ औदयिक और ३ पारिणामिक। इन ५३ भावोंमें से जीवकी पहिचान कराने वाले कुछ भाव हैं। यद्यपि औपशमिक आदि भावसे भी जीवकी पहिचान होती है, मगर डाइरेक्ट नहीं होती, ज्ञानसे औपशमिक भाव जाना और ज्ञानको जाना सीधे तरहसे, तो ऐसा लक्षण तो उपयोग है जो क्षायिक भावमें केवलज्ञान, केवलदर्शन; क्षायोपशमिक भावमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान, चक्षुदर्शन,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, ये जीवकी पहिचान बताने वाले भाव हैं। वैसे कषायसे भी जीवका परिचय होता है कि यह जीव है, क्योंकि यह कषाय हो गई, मगर जीवका लक्षण नहीं बन सकता, इसका कारण यह है कि किन्हीं जीवोंमें कषाय है किसीमें नहीं है। अगर कषाय जीवका लक्षण होता तो सब जीवोंमें कषाय पायी जाती। चूँकि सब जीवोंमें कषाय नहीं है इस कारण कषाय जीवका लक्षण नहीं है और इस दृष्टिसे उपयोगके भेद भी जीवके लक्षण नहीं।

जैसे कहे कोई कि मतिज्ञान जीवका लक्षण है तो मतिज्ञान सब जीवोंमें क्यों नहीं पाया जाता। अव्याप्त है मतिज्ञान, अतः यह जीवका लक्षण नहीं। उपयोगसामान्य जीवका लक्षण है तथा उन ५३ भावोंमें जो उपयोगके भेदरूप हैं उनका आधारभूत जो सामान्य उपयोग है, वह जीवका लक्षण है और शेषके जो भाव हैं औपशमिक आदिक तन्मय जो आत्मा है वह लक्ष्य होता है याने ५३ भावोंमें लक्षणभूत भाव तो उपयोग है और शेष भाव लक्ष्य हैं। मोक्षशास्त्रमें जीवतत्त्वकी चर्चा चल रही है कि जीव कैसे-कैसे होते हैं, तो यह वर्णन तो पहले दूसरे अध्यायके सूत्रोंमें है कि ५३ भावोंमें जीव पाया जाता है। उन भावोंमें जो उपयोग है वह तो लक्षण है और बाकी भाव सब लक्ष्यभूत हैं। तो जीवका लक्षण जो उपयोग है उसके कितने भेद हैं? उन भेदोंकी बात चल रही है।

उपयोगके मूल भेदोंका वर्णन—उपयोग दो प्रकारका है– (१) साकार उपयोग और निराकार उपयोग, चाहे यह कहो कि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। जो सामान्यको विषय करे वह तो है निराकार याने दर्शनोपयोग और जो विशेषको विषय करे वह है साकार मायने ज्ञानोपयोग। देखिये– जाननहार भी सामान्यविशेषात्मक है और जो जाननेमें आता है पदार्थ वह भी सामान्यविशेषात्मक है। जो भी सत् है, वस्तु है वह सब सामान्यविशेषात्मक है। तो ज्ञेय पदार्थकी ओरसे कहो जो सामान्य विषय हो रहा है वह तो है दर्शनोपयोगका विषय और जो विशेष विषय हो रहा है वह है ज्ञानोपयोगका विषय। इतना ही नहीं, किन्तु यह समझना कि सामान्यविशेषात्मक ज्ञेय पदार्थका जो सामान्यरूपसे चेतन हो रहा है वह तो है दर्शनोपयोग और सामान्यविशेषात्मक पदार्थका जो विशेषरूपसे चेतन हो रहा वह है ज्ञानोपयोग। अब जीवकी ओरसे देखिये—प्रत्येक द्रव्य सामान्यविशेषात्मक होता है, तो जीव भी सामान्यविशेषात्मक रहा। तो जीवका जो स्वभाव है चेतना वह चैतन्य सामान्यविशेषात्मक रहा। तो जो सामान्य चेतना है वह तो है दर्शनोपयोग और जो विशेष चेतना है वह है ज्ञानोपयोग। उपयोगके भेदोंसे उपयोगकी बात भली प्रकार समझमें आती है। जीवका लक्षण उपयोग है। इस सूत्रके इतने पदका अर्थ यह हुआ– सः द्विविधः, वह उपयोग दो प्रकारका है। और वह दोनों प्रकारका उपयोग अष्ट चतुर्भेदः, आठ चार भेद वाला है। ८ भेद हैं ज्ञानोप-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

योगके और ४ भेद हैं दर्शनोपयोगके तो अपने आप क्रम यह बन गया कि उपयोग दो तरहका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग।

ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोगमें प्रथम ही ज्ञानोपयोग शब्द देनेका प्रयोजन—ज्ञानोपयोग को पहले क्यों कहा और दर्शनोपयोगको बादमें क्यों कहा ? उपयोग दो तरहका—(१) ज्ञानोपयोग और (२) दर्शनोपयोग। तो ज्ञानको पहले कहनेका कारण है कि ज्ञान द्वारा ही सब कुछ जाना जाता है। ज्ञान पूज्य है, आदरणीय है, क्योंकि ज्ञानने ही दर्शनकी खबर दिलाया। ज्ञान ही समस्त पदार्थोंको प्रकट कराता है तो ज्ञान तो है पदार्थोंका ज्ञान कराने वाला विभावक और दर्शन है केवल अवलोकन मात्र। एक प्रतिभास हो गया। सो यद्यपि हम आपके पहले होता है दर्शन, बादमें होता है ज्ञान। फिर भी इस क्रमका उल्लंघन करके ज्ञानको पहले कहा है, दर्शनको बादमें कहा। इसका कारण यह है कि ज्ञान ही सबका परिचय कराने वाला है।

जैसे णमोकार मंत्रमें ५ परमेष्ठियोंमें सबसे महान् सिद्धभगवान हैं, क्योंकि आत्माकी सर्वोपरि स्थिति सिद्धप्रभुकी है। अरहंत भी बहुत दिनों तक अरहंत नहीं रह पाते, वह भी सिद्ध हो जाते हैं, तो सर्वोपरि परमेष्ठी सिद्ध हैं तिसपर भी णमोकार मंत्रमें अरहंत भगवानका नाम पहले लिया णमो अरिहंताणं। इसका कारण यह है कि अरहंतभगवानके यहाँ दर्शन हो सकते, उनका समवशरण भी होता है, उनका दिव्य उपदेश होता है। तो जिनका जो कुछ आगम है, जितना हम शास्त्रों द्वारा जानते हैं उस सबकी परम्परामें मूल अरहंत भगवान हैं, और अरहंत भगवानके उपदेशसे ही सिद्धप्रभुका परिचय मिला है। इस कारण बड़े सिद्ध होनेपर भी अरहंतका नाम पहले लिया है। यह बात थोड़े अन्तरमें ही फब सकती है। अरहंत और सिद्ध दोनों सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं, भीतर दोनों एक समान हैं। सिर्फ बाहरी भेद है कि सिद्धके शरीर नहीं, अरहंतके शरीर हैं। सिद्धके अघातिया कर्म भी नहीं, अरहंतके अघातिया कर्म हैं। तो यह उपरी ही दोष थोड़ासा रह गया है, अन्दर दोनोंमें समानता है, इसलिए उनमें तुलना करके सिद्धसे पहले नाम लिया। नहीं तो कोई कहने लगे कि पहले तो साधुका नाम लो, क्योंकि उससे पहले वास्ता पड़ता है तो सिद्धमें और अरहंतमें इतना अन्तर है। बहुत अन्तरमें नहीं सोचा जा रहा। अरहंत और सिद्ध ये निकट हैं, केवलज्ञानी हैं, वीतराग हैं, निर्दोष हैं, मुक्त हैं, पवित्र हैं, केवल अघातियाकर्मका अन्तर है, और फिर समस्त उपदेशोंके मूल अरहंत प्रभु हैं। तो जैसे सर्व तत्त्वोंका स्पष्ट ज्ञान होनेमें मूल निमित्त अरहंत प्रभु हैं, इसलिए अरहंतका नाम पहले रखा है, इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन—इन दो में दर्शनकी भी समझ बनाने वाला और पदार्थोंकी भी समझ बनाने वाला ज्ञान है, इसलिए उपयोगके क्रममें ज्ञानोपयोग पहले और दर्शनोपयोग पीछे बताया।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अष्टचतुर्भेदके कथनसे प्रथम ज्ञानोपयोगका नाम देनेकी सूचना— अब एक शंका यहाँ यह हो सकती है कि सूत्र तो इतना ही है कि वह दो प्रकारका है और ८ व ४ भेद वाला है। सूत्रमें तो ज्ञानोपयोगका संकेत पहले दिया, दर्शनोपयोगका बादमें दिया। यहाँ तो कुछ नहीं लिखा। सूत्रका अर्थ तो इतना ही है कि वह दो भेद वाला है और ८ व ४ भेद वाला है, फिर कैसे जाना कि सूत्रमें ज्ञानोपयोग पहले कहा, दर्शनोपयोग बादमें कहा ? तो यह बात समझाई गई है—८ व ४ भेद वाला है, इन शब्दोंसे यहां तो स्पष्ट है ना ८ पहले कहा, ४ बादमें कहा। अब ८ भेद हैं ज्ञानोपयोगके, इसलिए पहले ज्ञानोपयोग आया। ४ भेद हैं दर्शनोपयोगके इसलिए बादमें दर्शनोपयोग आया। तो हम लोगोंके दर्शनोपयोग पहले होता, ज्ञानोपयोग बादमें होता, लेकिन वर्णनके प्रसंगमें ज्ञानोपयोगका नाम पहले लिया और दर्शनोपयोगका नाम बादमें लिया।

दर्शनोपयोग क्या चीज है ? दर्शनोपयोग तो वास्तवमें यह है कि जाननहार आत्मा का जो एक निर्विशेष प्रतिभास है वह है दर्शनोपयोग, लेकिन छद्मस्थ जीवोंमें दर्शनोपयोग किस तरह होता और केवलज्ञानीमें किस तरह होता, इसमें भेद आ गया। और वह भेद है आवरणके कारण। भगवानका ज्ञान दर्शन निराकरण है इसलिए ज्ञान और दर्शन दोनों उपयोग एक साथ चलते हैं। वे किस तरह चलते कि ज्ञानके द्वारा तो त्रिलोक त्रिकालज्ञात हुए और त्रिकाल त्रिलोकका ज्ञान करने वाले इस आत्माका प्रतिभासके साथ-साथ चल रहा तो यह दर्शनोपयोग भी साथ ही साथ हो रहा। भगवानके ज्ञानोपयोगमें अन्तर नहीं आता, इस लिए निरन्तर ज्ञानोपयोग है तो अगर ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग वहाँ साथ न हों तो यों कहो फिर कि दर्शनोपयोग कभी होगा ही नहीं। उनके ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग दोनों ही प्रतिसमय चलते हैं, किन्तु छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शनमें आवरण पड़ा है, उनका क्षयोपशम चलता है। तो जिस समय जीव ज्ञान कर रहा है उस समय ज्ञानकरनहार आत्माका प्रति भास करलें यह छद्मस्थ जीवोंमें नहीं बनता, किन्तु जब किसी वस्तुका ज्ञान नहीं कर रहा यह जीव, ज्ञान कर चुका, अब दूसरी वस्तुका ज्ञान करे तो बस एक वस्तुका ज्ञान कर चुका, दूसरेका ज्ञान करने वाला है, इस बीचमें आत्माका सामान्य प्रतिभास होता है जो कि नवीन ज्ञानको उत्पन्न करने के लिए बल देता है वह दर्शनोपयोग है छद्मस्थका तो यों कहो कि दर्शनोपयोगमें जो विषय बना, जो सामान्य प्रतिभास हुआ उसको जीव अगर इस तरह पकड़ ले कि यह हूं मैं तो उसको सम्यग्दर्शन हो जाता है। जिस जीवको सम्यग्दर्शन हुआ है उसको इस सहज त्रैकालिक चैतन्य सामान्यके अनुभवसे हुआ है। उसमें यह विकल्प नहीं बनता उत्पन्न होनेके समय कि यह मैं हूं, मगर उसकी प्रतीतिमें उस 'मैं' का अनुभव रहता है और वहाँ सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो दर्शनोपयोग यह पहले होता है, हम आपके, फिर भी

http://sahjanandvarnishastra.org/

दर्शनोपयोगका और और पदार्थोंका इस आत्माका ज्ञान कराने वाला ज्ञानोपयोग है, इस कारण ज्ञानोपयोगका प्रथम पाठ है।

ज्ञानोपयोगके भेदोंका वर्णन—हाँ तो ज्ञानोपयोग है ८ प्रकारका—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान और कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान। इनमें ५ तो हैं सम्यक् और तीन हैं मिथ्या और उन ५ में एक केवलज्ञान तो है परिपूर्ण और शेष ४ हैं अधूरे। मतिज्ञान नाम किसका कि इन्द्रिय और मनके व्यापारके निमित्तसे जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है, जैसे आँखें खोलीं, देखा, परिचय हुआ यह मतिज्ञान है, फिर मतिज्ञानसे जो जाना उस ही के बारेमें कुछ और-और बातें भी समझी जायें जैसे मति-ज्ञानसे समझा कि यह भींत है, अब उसे और समझा कि यह इस जगहकी भींत है, इसने बनवाया है, ऐसा स्वरूप है आदिक विशेषतायें जाने तो वह कहलाता है श्रुतज्ञान।

अब देखते जाना कि इन ज्ञानोंसे जब हम जानते हैं तो यह उपयोग लग रहा कि नहीं। उपयोग लगनेकी बात मुख्य संसारी जीवोंमें है, छद्मस्थमें नहीं, भगवानके उपयोगमें नहीं लगता, मगर जानते तो हैं इस कारण उनके ज्ञानोपयोग कहा है। उपयोग लगनेकी बात तो छद्मस्थ जीवोंमें होती है और उपयोग लगनेका फल है पदार्थका परिचय होना, जानना बने, इस फलके कारण भगवानके भी ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग कहा, पर उपयोग नहीं लगाते वह। उसकी पर्याय बन रही है। तो इन सब ज्ञानोंमें देखिये उपयोग काम कर रहा। उपयोगका अर्थ है कि ज्ञेय वस्तुके जाननेके लिए ज्ञानका अभिमुख होना। अवधिज्ञानसे जाना कुछ मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थको, वह इन्द्रिय और मनकी सहायतासे नहीं ज्ञान हुआ, लेकिन अवधिज्ञानका उपयोग करनेसे पहले कुछ विकल्प तो बनता है। किसीने पूछा कि मैं पहले भवमें क्या था तो ये मुनिराज उसका उत्तर देनेके लिए कुछ उस ओर चिन्तन तो करते हैं। अब जानने चले अवधिज्ञान द्वारा तो वहाँ इन्द्रिय और मनका काम नहीं हो रहा, केवल आत्मीय शक्तिसे स्पष्ट ज्ञान हो गया। कैसा स्पष्ट ज्ञान होता अवधिज्ञानमें कि जैसे आंख द्वारा हमको यह स्पष्ट ज्ञान होता कि यह अमुक चीज है, इसी तरहसे इससे भी और अधिक स्पष्ट उनको परिचय मिलता है रूपी पदार्थमें। वहाँ भी उपयोग है, मनःपर्ययज्ञानमें भी उपयोग है। ये मुनिराज किसीके मनकी बातको जाननेका जब उपयोग करते, विकल्प करते तब तो वह मतिज्ञान श्रुतज्ञान है और जब वे मनःपर्ययज्ञानके क्षेत्रमें उतरते हैं तो वहाँ इन्द्रिय और मनकी सहायता नहीं है। केवल आत्मीय शक्तिसे दूसरेके मनमें रहने वाले विकल्पको स्पष्ट जान जाते हैं। उपयोग यहां भी हो रहा और केवलज्ञानमें, वह उपयोग तो नहीं लगा रहे मगर जानन हो रहा है स्पष्ट समस्त विश्वके पदार्थोंका तो ज्ञानका जो परिणमन है वह भी उपयोग है। इसे कहो उपयोगका होना और उन्हें कहो उपयोगका लगाना। इस तरह भी इन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का अन्तर समझा जा सकता है और उपयोग जैसे मति, श्रुत, अवधिमें लगाया जाता ऐसे ही कुमति, कुश्रुत, कुअवधिमें भी ज्ञान तो वही है, पर मिथ्यात्वका सम्बंध होनेसे यह मिथ्याज्ञान है और मिथ्यात्वका सम्बन्ध न होनेसे वह समीचीन है। तो ज्ञानोपयोगमें उपयोग पाया जाता है, उपयोग सामान्य है, वह जीवका लक्षण है। उसके भेदोंमें ये सब बातें कही जा रही हैं।

दर्शनोपयोगके ज्ञातव्य तत्त्वका प्रकाश—अब दर्शनोपयोगको देखिये दर्शनोपयोग चार प्रकारका है—(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन। वैसे प्रकार दो ही हैं—(१) क्षायोपशमिक दर्शन और (२) क्षायिक दर्शन। क्षायोपशमिक दर्शन ३ हैं, इस प्रकार दर्शनोपयोग चार हैं। चक्षुदर्शन—आँखके निमित्तसे उस ज्ञानसे पहले जो आत्माका सामान्य आलम्बन हुआ, सामान्य प्रतिभास हुआ जिसके बलसे चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान बनने वाला है उसे कहते हैं चक्षुदर्शन और आंखोंको छोड़कर बाकी इन्द्रिय और मनके द्वारा जो ज्ञान होने वाला है उस ज्ञानोपयोगसे पहले जो एक आत्माका सामान्यप्रतिभास है, आत्मा का आलम्बन है, जिसके बलसे ज्ञान प्रकट होने वाला है वह अचक्षुदर्शन है।

देखिये, दार्शनिकोंने आश्रय तो आत्माका लिया। जिनका यह भी कथन है कि दर्शन उसे कहते हैं कि सर्व पदार्थोंका सामान्य ग्रहण है, तो यह बतलावो कि सब पदार्थोंका सामान्य ग्रहण किस तरह होता है? जगतमें अनन्तानन्त पदार्थ हैं। इन समस्त पदार्थोंमें जो सामान्य तत्त्व है, सामान्य सत्ता, जिसमें सर्व पदार्थ गर्भित हो जाते हैं, उसका जब अवलोकन होगा तो कोई पदार्थ उसके चित्तमें है क्या? अगर कोई पदार्थ चित्तमें है तो वह विशेष प्रतिभास कहलायगा, सामान्य प्रतिभास नहीं। तो सामान्य प्रतिभासके समय पदार्थ विशेष की चेतना नहीं चलती। तो अगत्या आत्मा तो कहीं गया नहीं, उसकी चेतना चलती है, मगर खेद तो यह है कि यह जीव पाई हुई सुविधाका सदुपयोग नहीं करता, इस जीवको सुविधा है, क्योंकि दर्शनोपयोग इसके चलता रहता है। दर्शनोपयोगमें आत्माका बल, ज्ञानके लिये सम्पन्न होता है, आत्माका आलंबन होता है, आत्माका विषय होता है, मगर इस मोही जीवमें ऐसा वेग और प्रवाह है कि उस समय यह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं यह हूं। यह ही खेदकी बात है। इस परमात्माका परमात्मत्व देखो कि इसकी बान निरन्तर मिल रही है, जिसे कहें एक उदाहरण उस परमात्माका सेम्पिल निरन्तर दिखता जा रहा है, मगर यह मोही जीव उस परमात्मत्वके सेम्पिलको ग्रहण नहीं कर पाता कि ओह यह मैं हूं। तो चक्षु और अन्य इन्द्रिय मनके द्वारा जो ज्ञान होने वाला है उससे पहले जो सामान्य प्रतिभास है, आतमबलका प्रकट करने वाला है, जानकारीके लिए बलाधायक ये सब चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन हैं, अब अवधिदर्शन अवधिज्ञानसे पहले होने वाले दर्शनको अवधिदर्शन कहते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अवधिज्ञान उत्पन्न होनेके लिए यह जीव पहले तो विकल्प करता है। जानूँ, किसे जानूँ··· ऐसी एक चित्तमें बात उठती है कि इसे जानूँ। उसके बाद होता है अवधिदर्शन और अवधिदर्शनके ही तुरन्त पश्चात् अवधिज्ञान होता है। मनःपर्ययज्ञानसे पहले दर्शन नहीं है, किन्तु मतिज्ञान होता है। उस मतिज्ञानसे पहले दर्शन था। इस प्रकार ये क्षायोपशमिक दर्शन ३ हैं—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन। केवलदर्शन क्षायिक है। कैसा निरन्तर ज्ञान दर्शनका उपयोग चल रहा कि समस्त पदार्थ जाननेमें भी निरन्तर आ रहे और समस्त पदार्थोंके जाननहार आत्मामें भी प्रतिभास निरन्तर चल रहा है।

आत्माकी ऋद्धियोंका हेतु सहज अन्तरतत्त्वका आलम्बन—ऐसा महान केवलज्ञान बने, केवलदर्शन हो, मनःपर्ययज्ञान हो, सम्यक् अवधिज्ञान हो, इन बातोंको सुनकर तो चित्तमें होता है कि यह मेरे प्रकट हो जाय, मगर ऐसा सोचनेसे यह निधान प्रगट नहीं होता, किन्तु आत्माका सम्यक् बोध करके, इन विकल्पोंको हटाकर आत्मरसका जो अनुभव लेता है उसके ये सब ऋद्धियाँ अपने आप उत्पन्न होती हैं। केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, इनको ऋद्धि बताया है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो ऋद्धि नहीं, मगर मतिज्ञानमें कोई अतिशय बन जाय तो वह भी ऋद्धि कहलाती है। जैसे दूरसे देख लेना, सुध लेना, चक्रवर्तीके कटक की भी आवाज हो तो उसे पृथक् पृथक् सुन लेना, ये ऋद्धियाँ बन जाती हैं। श्रुतज्ञान तो ऋद्धि नहीं है, मगर आगमका विशेष ज्ञान हो तो वह ऋद्धि बन जाता है। जैसे दसपूर्वविद् होना, द्वादशांग वेदी बनना, ये सब ऋद्धियाँ हो जाती हैं। तो ये ऋद्धियाँ चाहनेसे नहीं मिलतीं, किन्तु सर्व चाह छोड़कर एक सहज आत्मतत्त्वका आराधन चले तो ये ऋद्धियाँ स्वयमेव प्राप्त होती हैं और ऐसी ऋद्धियाँ हैं कि जिसे प्राप्त हो जायें उसे कहो खबर भी न रहे कि मुझे कुछ ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं, पर उसके ऐसी अद्भुत योग्यता और शक्ति प्रकट हो जाती है।

ये सब ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग जिस उपयोगके भेद हैं वह उपयोग सामान्य यहाँ जीवका लक्षण कहा गया है। इस प्रकार दूसरे अध्यायमें इस प्रसंग तक जीवके स्वतत्त्व क्या हैं, इसका वर्णन हुआ। ये स्वतत्त्व जिस जीवके हैं, उसका लक्षण क्या है यह भी वर्णनमें आया, वह लक्षण है उपयोग और जो उपयोग जीवका लक्षण है उस उपयोगके कितने भेद हैं इसका वर्णन इस सूत्रमें कहा गया है।

मोक्षमार्ग समझानेकी प्राथमिकताका कारण—मोक्षशास्त्रमें सर्वप्रथम सूत्र आया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। बस इस समस्त ग्रन्थका आधार यही सूत्र है। इस सूत्रमें जो बताया है उस विषयके बाहर इस ग्रन्थका एक भी अक्षर नहीं है। इस सूत्रके बारेमें कुछ शंकायें हो सकती हैं कि सर्वप्रथम

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह मोक्षमार्गकी ही बात क्यों कही ? पहले मोक्षकी बात कहते कि मोक्ष यह है फिर मोक्ष-मार्ग बताते । एक बात । दूसरी बात मोक्षसे पहले तो संसार है । तो क्रमभंग क्यों किया ? संसारकी बात पहले बताते, फिर मोक्षमार्ग और मोक्ष ये सब बातें कहते और बंध बंधमार्ग और फिर मोक्ष कहते । ऐसा न बताकर एकदम मोक्षमार्गकी बात कही, सो ऐसा कहनेके कुछ कारण हैं । पहली बात यह है कि आचार्य महाराजका यह उद्यम संसारके जीवोंको सुगम विधिसे संसारके दुःखोंसे छूटकर मोक्षमें पहुंच जानेके उपाय बतानेके उद्देश्यसे है । अगर बंध और बंधमार्ग बता देते तो यह संसारका रोगी घबड़ाकर यह सुनना ही छोड़ देता और बात जाने दो । यह तो जब बंधकी विधियाँ बतायी जायेंगी तो उसमें उलझ जायगा । संसारके रोगीको तो एकदम सीधा दुःखोंसे छूटनेके उपायकी बात चाहिए । फिर क्या रोग, क्या नहीं है, इसकी थोड़ी तसल्ली हो जानेके बाद तसल्ली कर दी जाती । यों बंध और बंधमार्गकी बात पहले नहीं कही । रही मोक्षकी बात, क्यों नहीं मोक्षकी पहले बात की ? मार्ग पीछे बताते । जिसका मार्ग बताना है उसकी बात तो कहनी चाहिए ना । तो मोक्षकी बात यों नहीं आवश्यक समझी कि मनुष्य मोक्षमार्गके बारेमें विवाद नहीं रखते । सामान्यतया सभी दार्शनिक मोक्ष मानते हैं और सामान्यतया मोक्षका अर्थ भी यह कहते कि सब दुःखोंसे छुटकारा होना । कर्म छूटें, संसारमें रुलना छूटे यह मोक्ष है ऐसा सब समझते तो मोक्षके स्वरूपमें विसम्वाद हो न रहा । कुछ सूक्ष्म दार्शनिक बातमें विसंवाद है सो उसको कहनेका शुरूमें कोई मतलब नहीं । तब मोक्षके मार्गमें विवाद हैं अतएव मोक्षमार्गकी बात प्रथम कहनी पड़ी । कोई मानता है कि बस ज्ञानभर करलो मोक्ष हो जायगा । कोई मानता है कि अरे अभी यज्ञ करो, ध्यान करो, प्राणायाम करो, ऐसे-ऐसे क्रियाकाण्ड करो तब मोक्ष मिलेगा । तो मोक्षके मार्गके बारेमें लोगोंको बहुत विसम्वाद है । कुछ लोग कहते हैं कि कुछ भी कर लो रास्ते अनेक हैं मोक्षमें पहुंचनेके । जिस रास्तेसे जावोगे उसीसे मोक्षमें पहुंच जावोगे । तो यों अनेक प्रकारके लोग भाव रखते हैं । उस विसम्वादको दूर करनेका प्रयोजन होनेसे सर्वप्रथम मोक्षमार्गका वर्णन किया ।

मोक्षशास्त्रकी रचनाका आधार मोक्षमार्गका प्रतिपादन—अब इस मोक्षमार्ग वाले सूत्रसे ही समस्त ग्रन्थोंका सम्बन्ध है, कह तो दिया कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, पर ये हैं क्या तो सम्यग्दर्शनकी बात पहले कही । बात तो कहें वह जो लोगोंको प्रथम-प्रथम बताना चाहिए और जो निश्चयसे सम्यक्त्व है वह भी स्वयं अनुभव कर लिया जाता है, अथवा किसी विधिमें निश्चयदृष्टिसे समझेंगे तत्त्वोंको तो पा लेंगे । सम्यक्त्वको बताया— तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यक्त्व है । अच्छा तो वे तत्त्व कितने हैं, कौनसे हैं, जिनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व होता । तो जीवादिक ७ तत्त्व कहे— जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोक्ष । अच्छा इन सब बातोंको हम समझें कैसे ? लोगोंको बिठायें कैसे ? तो प्रथम अध्याय में केवल जानकारीका उपाय बताया है । प्रमाणसे जानो, नयसे जानो, अन्य अनुयोग द्वारोंसे जानो । सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन आदिकसे जानो । तो उपायोंका वर्णन है प्रथम अध्यायमें कि पदार्थ जाना किस उपायसे जायगा ? जब उपायोंका वर्णन कर चुके और इसमें प्रथम अध्याय समाप्त हो गया तो अब जीवादिक ७ तत्त्वोंकी चर्चा चलेगी, ऐसा उनका संकल्प हुआ और उसके अनुसार द्वितीय अध्यायमें जीवतत्त्वका वर्णन है । जीवतत्त्वका इतना बड़ा वर्णन है कि थोड़ी-थोड़ी बात बताने पर भी ग्रन्थरचनामें जो अध्याय विभागकी माप सोची उससे अधिक हो जाती है । इस कारणसे दूसरा तीसरा चौथा इन तीन अध्यायोंमें जीवतत्त्वका वर्णन है । कोई कह सकता ऐसा कि तीन अध्यायोंमें क्यों वर्णन किया ? एक ही अध्यायमें सब कह देते, दूसरा रहने देते । तो साहित्यकी दृष्टिसे सूत्ररचनाका ही एक इस तरहका ढाँचा होता कि उनमें जो विभाग बनाया, उनमें रचना पूर्ण रूपसे समान तो नहीं, मगर करीब-करीब समान होना चाहिए, एक बात । दूसरी बात यह है कि जीवके स्वरूपके वर्णनके वे भी जुदे विभाग हैं । दूसरे अध्यायमें जीवोंका एक सामान्य तौरसे वर्णन है । तब तीसरे अध्यायमें गतियों और उन गति वाले जीवोंके निवास स्थान आदिकके हिसाबसे वर्णन है, मगर देवगति का स्वतंत्र चौथे अध्यायमें वर्णन किया । तो दूसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका वर्णन है ।

जीवके स्वतत्त्वके और जीवके लक्षणके प्रतिपादनपर जीवके भेदविस्तारकी निर्भरता— द्वितीय अध्यायमें पहले जीवके स्वतत्त्व कहे । औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र आदिक ५३ भाव हैं वे जीवके स्वतत्त्व हैं । उनका वर्णन करनेके बाद एक जिज्ञासा हुई कि ये स्वतत्त्व जिस जीवके कहे उस जीवको पहिचाननेका लक्षण क्या है ? तो उत्तर दिया—उपयोगो लक्षणं । जीवका लक्षण उपयोग है । अब उपयोग और स्वतत्त्वमें फर्क क्या ? पहले बताया जीवके स्वतत्त्व ५३ भाव और अब कहते जीवका लक्षण उपयोग है । तो अन्तर यह था कि स्वतत्त्व और स्वतत्त्व वालेको ही पहिचानना है, इसलिए वे सब लक्ष्यमें चलेंगे । पहिचान तो उपयोग है और कौनसा उपयोग ? सामान्य उपयोग । उपयोगके भेद भी बताये गए—ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, लेकिन ये जीवके लक्षण नहीं हैं, हैं जरूर उपयोगके भेद, मगर लक्षण वह होता है कि जिसका लक्षण किया जाय उस सबमें पहुंचे । और जिसका लक्षण नहीं करना उसमें न पहुंचे तो मतिज्ञान सब जीवोंमें नहीं पहुंचता । सिद्ध छूट गए । केवलज्ञान सब जीवोंमें नहीं है । संसारी ये छद्मस्थ छूट गए । न तो केवलज्ञान जीवका लक्षण है, न मतिज्ञानादिक लक्षण हैं । लक्षण है उपयोगसामान्य, जिसके ये १२ भेद हैं—८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग । यह सब वर्णन होनेके बाद अब विशेष वर्णन करनेके लिए यह जानना आवश्यक हुआ कि उपयोग लक्षणके द्वारा जिस जीवतत्त्वकी पहिचान करायी गई वे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवतत्त्व किस प्रकारसे कहाँ कैसे अवस्थित हैं, क्या उनकी स्थिति है ? यह बात बतानेके लिए प्रथम सोपाधि निरुपाधिकी दृष्टिसे भेद बतानेको सूत्र प्रारम्भ होता है।

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

उपयोगलक्षणसे लक्षित जीवके भेदके प्ररूपक प्रकृत सूत्रकी रचनामें लाघवका सुझाव और उसका अनौचित्य—उपयोग लक्षणके द्वारा जिस जीवतत्त्वको दर्शाया गया वे जीव दो प्रकारके हैं—(१) संसारी जीव और मुक्त जीव। जो प्रकृत सूत्र रचना हुई है उसमें तीन शब्द पड़े हैं—संसारिणः मुक्ताः च, संसारी और मुक्त जीव। तो इस रचनापर एक आशंका हो सकती है कि अगर दो ही नाम ले लेते संसारी और मुक्त और समास कर देते तो सूत्र बहुत छोटा हो जाता—संसारिमुक्ताः। उसमें णः न लेना पड़ता और न "च"। दो अक्षर कम हो जाते और ऐसे कई सूत्र हैं। जहाँ स्थावरके भेद बताये तो एकदम कह दिया पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः लगातार नाम हैं। न बीचमें विभक्ति है और न च शब्द है और न कुछ टूट है। एक समास है, जिसका अर्थ है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, अर्थ सही हो जाता है। तो ऐसे ही संसारी और मुक्त इन दोनोंको इकट्ठा रख देते, क्यों अलग किया और क्यों च शब्द दिया ? तो ऐसा कोई शंकाकार सोच सकता है, मगर आचार्यजन इतने प्राज्ञ होते हैं कि सहज ही उनके मुखसे वाणी निकली और उसमें कोई दोष नहीं आता। तो यहाँ जो सूत्र कहा है संसारिणो मुक्ताश्च, संसारी और मुक्त यह सूत्र ठीक है। यह योजना ठीक नहीं कि इस विस्तारको न लेवे और बनावे संसारिमुक्ताः समास हो गया और खुश होवे कि णः भी मिट गया, च भी मिट गया। सो ऐसी शङ्का रखना व्यर्थ है। सोचो इसका छोटा सूत्र क्यों नहीं बनाया ? संसारिमुक्ताः। तो आचार्यके कौशल्यको अकलंकदेव बतलाते हैं कि यदि ऐसा कर देते संसारिमुक्तः, अलग-अलग विभक्ति न रखते और च शब्द न डालते तो इसका पूर्व सूत्रसे सम्बन्ध हो जाता। उपयोगी दो तरहके हैं। उपयोगका ही तो सूत्र था पहले। दूसरी बात यह है कि जब समास करते हैं ना—संसारिमुक्तः तो समासके कायदेके अनुसार मुक्त शब्द पहले आ बैठता तब बनता मुक्तसंसारिणः। क्यों मुक्त शब्द पहले बैठाल दिया जाता कि समासमें यह नियम होता है कि जिसमें थोड़े शब्द हों वह पहले रखा जाता है। यह है द्वन्द्व समास। द्वन्द्व समासमें सब शब्द प्रधान होते हैं। जैसे कोई आदमी दो चार लड़कोंका नाम लेकर बुलाये कि फलाने तुम आवो, फलाने तुम आवो तो वे सब लड़के प्रधान हैं, सबको बुलाया, तो मानो चार लड़के हैं। चारोंके चार नाम हैं, अब किसीका बहुत बड़ा नाम है। मान लो किसीका ६-७ अक्षरोंमें नाम है, किसीका दो तीन अक्षरोंमें नाम है। आप जब बुलाने बैठेंगे तो प्रकृत्या आपके मुखसे छोटे अक्षर वाला नाम पहले निकलेगा और द्वन्द्व समासमें भी यही कायदा है। तो यों मुक्त शब्द पहले लग बैठता तो अर्थका अनर्थ हो जाता,

Version 1

फिर यह अर्थ होता कि छूट गया है संसार जिसका वह जीव है और बाकी सब अजीव हो गए। संसारीकी बात ही न आ पायगी। और यहाँ बताते हैं जीवके भेद कि जीव दो प्रकार के हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव।

अवनतिसे उन्नतिकी ओरका क्रम—सूत्रमें जो क्रम दिया है उसके अनुसार अब व्याख्या बनायें। संसारी किसे कहते और मुक्त किसे कहते ? देखिये—जीव जातिकी अपेक्षा सब समान हैं और इसी कारण जीवका लक्षण उपयोगसामान्य किया गया है। जिस लक्षणकी निगाहसे मुक्त हो चाहे संसारी हो सब समान हैं ? कोई प्रधान हो, कोई अप्रधान हो सो नहीं। स्वरूप दृष्टिसे चैतन्यमात्र जीव है। कुछ अध्यात्मसे तो यह बनावें कि जो एक चैतन्य सामान्य है, जीवत्व भात्र है उसका उपयोग जिसके नहीं है उसकी पूर्ण विशुद्धता जिसके नहीं है वह है संसारी और जिसके जीवत्व केवल प्रकट हो गया, उपाधि भी न रही वह है मुक्त जीव। इसमें यह उपाय भी समझ लेना कि जो जीव अन्तः जीवत्वभावकी आराधना करते हैं यह मैं हूं, देखिये कितना सरल तरीका है सर्व झंझटोंसे छूट जानेका। परवाह न करें, निर्धन हैं तो बीमार हैं तो, या अन्य किसी प्रकारकी असुविधा है तो इस जीवको रंच भी असुविधा नहीं। कैसे हो असुविधा, ? पदार्थ न्यारे-न्यारे हैं, जीव जुदे-जुदे हैं, अणु-अणु जुदे हैं। एक द्रव्यपर दूसरा द्रव्य करेगा क्या ? कोई किसी दूसरेकी परिणति नहीं कर सकता। असुविधा क्या ? अब हम ही अगर संसारके बहुतसे जीवोंसे ममता करके उन्हें अपनायें या अपनी नाम-वरी, कीर्ति या शरीर किसी भी चीजसे ममता करके उसे अपनायें तो दुःख भोगने कोई दूसरा न आयगा। वस्तुस्वरूपमें अन्याय नहीं है कि गड़बड़ी तो कोई करे और दुःख कोई भोगे। जो गड़बड़ी मचायेगा सो ही दुःखी होगा। जो जड़ वैभवोंकी कीर्तिमें शरीरमें ममता रखेगा, उसका ख्याल बनायेगा वही दुःख भोगेगा, दूसरा नहीं। और जो इन बाहरी बातोंकी परवाह न करके एक अपने अनादि अनन्त अहेतुक सहज चैतन्यस्वभावको ज्ञानमें लेकर 'यह मैं हूं' ऐसा अपना अनुभव करेगा वह मोक्षमार्ग पायगा, मोक्ष पायगा।

मोहकी महापापरूपता और मोहसे मुक्ति होनेपर सर्वसंकटोंसे मुक्त होनेकी सुगमता—शरीरमें आत्मदृष्टि करना महा पाप है। कषायसे भी अधिक पाप है मोह। कोई कषाय तो कम रखता हो, क्रोध भी न करे, शान्तसा रहे, घमंड भी न बगराये, प्रथम तो यह बात जरा असम्भव है कि जिसके मिथ्यात्व लगा, शरीरमें आत्मबुद्धि है उसके कषाय भी कम हो जाय, यह कहीं बिरलेके हो सकता है। नहीं तो कुछ लोकापवादसे डरकर कि हम कषाय न करें, क्रोध न करें, घमंड न करें, नहीं तो लोगोंमें हमारी प्रतिष्ठा न रहेगी। मायाचार तो गुप्त चीज है, उससे तो डरता नहीं, क्योंकि उसकी मायाचारी किसीको आँखों दिखती नहीं, परन्तु इस मायाको तो शल्य बताया है। यह माया शल्य काँटेकी तरह चुभा

http://www.jainkosh.org

करती है। लोभकी भी करतूत लोगोंको दिख जाती। उससे भी भय करते कि अधिक लोभ न करें, नहीं तो लोगोंमें प्रतिष्ठा खत्म हो जायगी। तो जब तक मिथ्यात्व नहीं छूटा, देहमें ममता नहीं छूटी, अहंकार नहीं छूटा तब तक वास्तविक मायनेमें कषायोंपर विजय करना भी कठिन है अगर सीधा और वृक्षको मूलसे हटाना ही है तो जड़से ही तो लोग प्रहार करते हैं कि फिर न उगे, तो ऐसे ही यदि दुःखोंको मेटना है तो सीधे अपने अनादि अनन्त चैतन्य-स्वभावमें 'यह मैं हूं,' ऐसा अनुभव करना है। बाकीके लिये बच्चे बन जावो। परवाह न करो कि हमारी प्रतिष्ठा है कि नहीं, धन वैभव है कि नहीं। जो मोक्ष चाहता है, मोक्षमार्गमें लगना चाहता है उसको बड़े-बड़े बलिदान करने पड़ते हैं। किसका बलिदान ? विषय कषायोंका, कीर्ति, नाम, लोभ घमंड आदिक विकारोंका बलिदान करना होता है। तो मुक्त होनेका उपाय तो एक निज सहज चैतन्यस्वभावमें 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव करना है। ऐसे अनुभवको त्यागकर, ऐसी प्रतीतिको त्यागकर किसको रिझानेके लिए क्या चेष्टा करना हैं, सो बतलावो ? किसको रिझाया जाय कि सुखी हो लें ? है कोई दुनियामें ऐसा ? फिर क्यों इस अनुभवके मार्गसे हटना और दुःखके मार्गमें लगना। इस सहज स्वभावका जिसने आत्मसात् किया वह पुरुष मोक्षमार्गी है, मुक्त होगा।

जीवोंका स्वरूप एक होनेपर भी व्यक्तित्वकी अप्रतिषेध्यता होनेसे जीवकी विविधता— यह जीवसमुदाय सब लक्षण दृष्टिसे सब समान हैं, एक है फिर भी यह भेद निषिद्ध नहीं है। मना नहीं किया जा सकता। ये दो भेद हैं ही—कोई संसारी और कोई मुक्त। जिसके संसार लगा है वह संसारी और जिसका संसार छूट गया सो मुक्त। संसार मायने क्या कि अपने आत्मा ही द्वारा जो कर्मोंका ढेर लगा लिया, बंध गए उसके फलमें इस आत्माको नये नये भवों की प्राप्ति हुई, इसे संसार कहते हैं। आत्मा ही कर्मोंको संचित करता है मायने आत्माके मोह और कषाय भावका निमित्त पाकर ये कार्माणवर्गणायें कर्मरूपसे परिणम जाती हैं, और जब उनका उदयकाल आता तो इस आत्मामें ही विकारोंका भव धारणका योग लेना पड़ता। एकके किएको दूसरा नहीं भोगता। आत्मा ही कर्ता है और आत्मा ही भोक्ता है। यह बात संसारी जीवोंके लक्षणके जाननेके प्रकरणमें भली भाँति समझ लेनी चाहिए। जैसे कि अन्य कोई दर्शन मानते कि प्रकृति तो करती है और आत्माको फल भोगना पड़ता है, उनका स्पष्ट मंतव्य है, जो तीन गुण वाली प्रकृति है—सत्त्व, रज, तम। वह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही ज्ञान करे, घमंड करे, शरीरको अपनाये, शरीरको बनाये, विषयोंको भोगे, विषयों को पैदा करे, ये सब प्रकृतिके काम बताये और पुरुष मायने आत्मा। तो प्रकृतिके किए हुए कर्मोंके फलको भोगता है, करता है अचेतन और भोगता है चेतन। देखिये—जो कोई भी दार्श-हुए, सामान्य बुद्धिके तो वे भी न थे, उनकी कुछ व्याख्या की जावे तो अपने को भी ऐसा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लगेगा कि करता कोई है और भोगता जीव है। भोगने वाला तो जीव ही है और कौन भोगेगा ? छोटी-छोटी बातें लो चले जा रहे, कहींके पत्थरकी चोट लग गई और दुःखी हम हो गये या भींतका पत्थर सिरमें लग गया तो चोट तो पत्थरकी लगी सिरमें, मगर दुःखी जीव हो गया, और जो लोग कहते कर्मके उदयसे जीवको फल भोगना पड़ता और कषाय कर्मके उदयसे होती है तो कर्मके उदयसे कषाय हुई और कषायमें जीवको दुःखी होना पड़ा। जो बंध हुआ उसका कारण क्या ? तो किसीने किया यह ओटोपाये। क्रोध, मान, माया, लोभादिक किसने कराये ? कर्मके उदयसे हुए। कर्मने ही बंधन कराया, पर भोगना किसे पड़ा फल ? जीवको। कुछ कुछ लगेगा ऐसा, पर वास्तविकता नहीं है ना यह, तो उसमें दोष आता है। अगर यह बन जाय नियोग कि करने वाला और है, भोगने वाला और है, प्रकृतिने तो पाप कराया, कषाय कराया, बंध कराया, बंधन कराया, जन्म मरण कराया और भोगना पड़ा जीवको। अगर ऐसी बात बने तो जीवका कभी मोक्ष हो ही नहीं सकता, क्यों कि जीव अगर करने वाला होता तो कुछ वश भी चलाता, अधिकार भी चलाता। विकार न करना, थोड़ा करना, डरकर करना, मगर जब प्रकृति करने वाली है जीवकी तो इसके हाथ पैर कट गए, अब क्या अधिकार रहा जीवका ? उसका तो फल भोगने भरकी बात रह गयी। तो करे कोई और फल भोगे जीव तो करने वाला गम क्यों खायगा ? वह क्यों नम्र पड़ेगा, क्यों हल्का बनेगा, अपना कुल क्यों मिटायेगा। सो प्रकृति करती रहेगी, जीव फल भोगता रहेगा, मोक्षकी क्या गुंजाइश ? और कहो कि नहीं, कुछ कुछ जीवको चलती तो अन्यके करने की बातका नाश कर दिया इस जीवने। यह ही बात कर्म और जीवके बारेमें भी है।

कर्मानुभाग विपाकका निमित्त होनेपर होने वाले उपयोग परिणामकी चेतन क्रिया-निष्पन्नता — कोई यों पूछ बैठे कि जैन भी तो यह कहते हैं कि कर्मका उदय होता है उस समयमें कषायादिक जगते हैं तो कर्मने किया ना कषायोंको, और भोगा किसने ? कर्म थोड़े ही भोगने आयेंगे। अचेतन क्या भोगेगा ? जीव ही तो भोगता, सो यह उलाहना देना ठीक नहीं। वास्तवमें कर्म नहीं करता कषाय। कर्म तो अपना खेल रचता है। कर्ममें अनुभाग बंधा था, उस अनुभागका उदय आया, कर्ममें अनुभागका विरूप बना, कर्मकी दशा बिगड़ी, बस, चूंकि यह जीव उपयोगस्वरूप है, ज्योतिस्वरूप है तो इसमें वह सारा अंधेरा झलक गया, प्रतिफलित हुआ। ऐसा एक निमित्तनैमित्तिक योग है। सूर्यके नीचे बादल आ जायें और यहाँ प्रकाश न रहे, कुछ अंधेरासा हो गया तो लोग कह तो देंगे यह कि बादलने आज अंधेरा कर दिया, मगर बात यह गलत है। बादलने अंधेरा नहीं किया। बादलोंने तो अपने ही प्रदेशमें अपना फैलाव बनाया, घूम रहे हैं वे बादल, यहाँ अंधेरा नहीं करता, मगर वह निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा कि प्रकाश तो हो और उस पर बादल आ जायें तो वह प्रकाश

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अभिभूत हो जाता है, अंधेरा आ जाता है। तो अंधेरेको करने वाला वह ही पदार्थ है, जिस पर अंधेरा है, पर योग है ऐसा। यही बात कर्मके बारेमें है। कर्मका अनुभाग उदयमें आया तो वह प्रतिबिम्बित हुआ तो वह उपयोग भी अंधेरेमें हो गया। अब यह अधीर होकर, घबड़ा कर विषयोंमें लगता है। इसकी फिर परम्परा बनती है संसारकी। तो यहाँ वश है, कुछ थोड़ा किसी प्रकार बोध हो जाय उसका भी उपाय है। जब जान गए कि यह कषाय मेरे गाँठकी चीज नहीं है, जैसा रंग रूप उन कर्मोंमें है, जैसी क्षोभ कषाय उन कर्मोंमें बसी है उसका प्रतिफलन है, उसमें मैं जुड़ गया इसलिए मैं कषायवान बन गया। मैं क्यों जुड़ूँ ? मैं अपने चैतन्यस्वरूपका ही अनुभव करूँ, यह हूं मैं, अन्य कुछ नहीं हूं। तो देखो मोक्षमार्ग चलने लगा ना उसका। तो आत्माके द्वारा ही वे सब बातें बंधनकी चलती हैं। वहाँ भी निमित्तनैमित्तिक योग है और आत्माको ही उन कर्मोंवश होकर भवान्तरोंको प्राप्त करना पड़ता है, बस यह ही संसार है। यह संसार जिसके लगा वह संसारी और यह संसार जिनका दूर हो गया उन्हें कहते हैं मुक्त जीव। सूत्र भावसे पढ़ तो सब लेते हैं पर इस तरह क्यों बना सूत्र, इसका क्या अर्थ है, इसमें कुछ और परिवर्तन करें तो क्या हर्ज है, ये सब बातें समझने पर आगम के प्रति एक भक्ति प्रकट होती और तथ्य बड़ा स्पष्ट हो जाता है। तो यहाँ इस सूत्रसे 'संसारिणः मुक्ताः च' इन तीन शब्दोंमें रखना पड़ा।

जीवकी मूल अभिलाषा और पौरुष्य—सबकी मूल अभिलाषा यह है कि मुझे सुख शान्ति चाहिए। अपनी सुख साताके एवजमें कितना ही कुछ कहीं हो जाय सब कुछ मंजूर है, पर अपने को सुख साता मिले। तो इसमें निष्पक्ष दृष्टिसे यही वर्णन है कि मेरेको साता कैसे मिल सकती है ? इससे सबसे पहले उस 'मैं' को समझना है जिसको साता शान्ति चाहिए। और फिर परखते जाइये—एक गणित जैसे हिसाबसे कि हाँ यह ही शान्तिका उपाय है या नहीं। मैं हूं एक जाननहार वस्तु। जो जानता रहता है वह मैं एक पदार्थ हूं। जिसका चेतना, आत्मा, जीव, ब्रह्म आदि ये सब नाम हैं, इस मुझको शान्ति चाहिए। जहाँ यह ख्याल आया वहाँ शरीर तो उड़ गया। उस ही के साथ अगर शरीर जुड़े तो सारी भूल होती जायगी। शरीरको अलग रखें, इस दृष्टिसे स्थूल बात भी यह ही है कि जब शरीरको छोड़कर जीव चला गया तो यह शरीर तो यहीं सड़ता है, गलता है, जलता है। मैं शरीर नहीं, इतनी हिम्मत बनाकर एक आत्मवेगसे इस बातको समझनी है कि मैं शरीर नहीं, मैं जीव हूं, आत्मा हूं, मेरेको शांति चाहिए, उस आत्माके नातेसे बात सुनना समझना और करने योग्य है, सो करना। यह सभी जीवोंकी बात है। कहाँ कल्याणके मार्गकी बात है जिसमें कुछ न कुछ सोचा जा रहा ? यह न सोचा जाना चाहिए कि मैं अमुक धर्मका हूं, मजहबका हूं, अमुक कुलका हूं या अमुक पोजीशनका हूं। इन सबकी होली करनी होगी अपनी दृष्टि द्वारा

http://sahjanandvarnishastra.org/

और केवल एक सामने बात रखनी है कि मैं जीव हूं और मैं भ्रमवश अनादिसे संसारी बना हूं, दुःख पा रहा हूं, बस अब हमने समझा देखा, अब मुझे न चाहिए, मुझे चाहिए कि वह आत्मीय आनन्द मिले। अब तो उस आनन्दके अनुभवकी ही बांछा है और कुछ नहीं। जिसकी दृष्टिमें इस प्रयोगके सामने तीन लोकका वैभव जीर्ण तृणवत् जंचे वही मोक्षमार्गमें कदम बढ़ा सकता है।

व्यावहारिक परिचयका प्रयोजन विभक्तताका प्रत्यय—मैं जीव हूं, ऐसे ही जीवका कुछ व्यावहारिक परिचय कराया जा रहा है कि जीव होते कैसे-कैसे हैं, किस-किस दशामें हैं ? तो भेदसे शुरू हुआ। संसार और मुक्त दो प्रकारके जीव हैं—जो कर्मबन्धनसे छूट गया, जो विषय कषायके भावबन्धनसे छूट गया, जिसको अब शरीर कभी न मिलेगा, जो केवल ज्ञानपुञ्जके रूपमें रहता है, ऐसा ज्ञानप्रकाशमात्र वह शुद्ध परम आत्मा मुक्त जीव है। ऐसा मैं हो सकता हूं, क्योंकि यह तो सब हिसाब जैसी बात है। जातिमें अन्तर नहीं है। मुक्त जीवमें और मुझमें जातिका कोई अन्तर नहीं। चैतन्यस्वरूप वे हैं, चैतन्यस्वरूप मैं हूं, और चैतन्यस्वरूप होनेके कारण आनन्द दर्शन ज्ञान वहाँ है, यह भी है। फर्क एक दूसरी चीजके सम्बन्धसे बना। वहाँ दूसरी चीजका सम्बन्ध नहीं। यहाँ सम्बन्ध है, क्या क्या ? कर्म अणुवोंका सम्बन्ध, शरीर परमाणुओंका सम्बन्ध और इन्हीं सम्बन्धोंके कारण विकारका सम्बन्ध, इस सम्बन्धके कारण अन्तर आ गया मुझमें और मुक्त जीवमें। यह सम्बन्ध न रहे तो वही स्वरूप मेरा है। तो क्या ऐसा हो सकता कि सम्बन्ध न रहे ? हाँ, क्यों नहीं हो सकता ? जब आत्मा भिन्न चीज है, विजातीय बातें हैं और उनका सम्बन्ध बनाता है तो वह तो बेमनका मिलाप है। वह तो जबरदस्ती और परिस्थितिका मिलाप है। स्वरूप तो सूट नहीं करता कि वे दोनों मिले रहें। तो जब ये दोनों अलग वस्तु हैं चेतन अचेतन, तो इनका वियोग होनेमें कोई संदेहकी बात नहीं हो सकती। मगर कैसे हो ? जैसे कोई बुड्ढा अपने नाती पोतोंसे लगाव रखे और बच्चे तो बंदर जैसे ही होते हैं, वे इस पर चढ़ते हैं, कूदते हैं, कष्ट होता है। सो वह अपने मनसे लगाव रखता तो उन बच्चोंसे कैसे छूटे ? ऐसे ही जब हम अज्ञानवश इस देहसे, कीर्तिसे, पोजीशनसे, बाहरी प्रसंगसे, परिग्रहसे लगाव रखते हैं तो छूटनेकी कहाँसे आशा ? छूट तब सकते हैं हम जब इन बाह्य परिकरोंसे मोह न करें और स्पष्ट जानते रहें कि ये सब भिन्न हैं और मैं इनसे निराला हूं, यह पहला उपाय है इन झंझट और उलझनोंसे छूटनेका। बात सब आत्माके नातेसे चल रही है।

बहिस्तत्त्वका बहिष्कार अन्तस्तत्त्वके आत्मसात्कारका उपाय—आत्मत्वके ध्यानके प्रसंगमें जरा भी ध्यान न दो कि मैं ऐसे शरीर वाला हूं, ऐसी पोजीशनका हूं, अमुक हूं, अमुक परिवारका हूं, ये सारी फिसादें अलग कर दें और यहाँ तक कि यह भी ध्यानमें न आये कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मैं किस जगह बैठा हूं और किस समय बैठा हूँ, केवल एक दृष्टि रहे कि मैं आत्मा हूं। जानन-हार वस्तु हूँ। मेरा इतनेसे ही मतलब है। यह ही मेरी दुनिया है, यह ही मेरा परलोक है, यही मेरा सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त मेरा कुछ नहीं, यह भाव दृढ़ हो तो उसे मोक्षमार्ग क्यों न मिलेगा? क्या वजह है कि जब हम परवस्तुसे लगाव रख रहे, मोह कर रहे तो संसार मिल रहा, संसारमार्ग चल रहा। तो जब मोह और लगाव न रहेगा तो क्यों न मोक्ष मिलेगा, क्यों न मुक्तिमार्ग होगा? होगा, होना ही पड़ेगा वह विधि ही ऐसी है। तो संसारी जीव अपने आपके अन्तः बसे हुए उस सहजपरमात्मतत्त्वका ध्यान करें जिसे परमब्रह्म कहते हैं तो उनको सर्वशान्तिका मार्ग मिलेगा, शान्ति मिलेगी। यह बात करनेकी है। यह बात अगर कर ली गई तो चाहे भिक्षासे उदरपूर्ति करना पड़े, चाहे कैसी ही परिस्थिति आये भली बुरी, वह न कुछ चीज है और एक आत्मदृष्टि चल रही है तो यह तो भगवानके मार्गके धामोंमें पहुंच चुका है। उसे आनन्द ही आनन्द है। परेशानी बहुत है। जब आँखें खोलकर देखा अनेक धनी, नेता, चला वाले, प्रतिष्ठा वाले, जब इन चमड़ेकी आँखोंके द्वारसे नजर आता है तो इस मनको थामना कठिन हो जाता है, लेकिन ज्ञानप्रकाश एक ऐसा अतिशय है कि वह प्रकट हो जाय तो तीन लोकका वैभव भी सामने पड़ा हो दृष्टिमें तो पड़ा ही रहता है वह। इसके लिए उसमें कुछ चीज है। आत्माका तो तिलतुष मात्र कुछ है ही नहीं। एक अपना भाव, अपनी बात, अपना गुण, अपने प्रदेश, इसके अतिरिक्त जीवका है क्या? जो सांसारिक मायामें लुभे रहते हैं और उससे मौज मानते हैं उनके लिए तो सर्व संग प्रसंग बंधन है। जैन शासन पानेका तो फल यह होना चाहिए कि हममें ज्ञान और वैराग्यकी वृद्धि हो। मरण तो होगा ही। अगर अज्ञान और रागमें मरण हुआ तो दुर्गतियोंका सिलसिला लग जायगा। इससे ज्ञान और वैराग्यका इतना प्रभाव, इतना महत्त्व समझें और उसीको उपादेय मानें, जिसके सामने सब कुछ मेरे लिए बेकार है। इस अंतःस्वरूपके दर्शनका फल है मुक्त हो जाना।

सूत्रोक्त 'च' शब्दसे विदित तथ्य—इस सूत्रमें उपयोगलक्षण वाले जीवके भेद बताये जा रहे हैं। जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और मुक्त। सूत्र क्या कहा—'संसारिणो मुक्ताश्च।' इसमें तीन शब्द दिये—संसारी, मुक्त और च शब्द। जिसका अर्थ है कि जीव संसारी और मुक्त होते हैं। सूत्ररचनाके बारेमें कुछ तो प्रकाश डाला जा चुका। आज 'च' शब्दका प्रयोजन समझिये—शंका यह हो सकती है कि जब दो नाम अलग-अलग ले लिया, समास भी नहीं किया—संसारिणो मुक्ताः। तब फिर 'च' शब्द लगानेकी क्या जरूरत है? पूरे पूरे नाम ले लें। 'च' शब्द बिल्कुल अनर्थक लगता है।

समाधान—देखिये सूत्ररचनामें यदि कोई शब्द ज्यादा पड़ा हो तो वह कुछ न कुछ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रयोजन रखता ह । 'च' शब्द यह बात बतला रहा कि चूंकि उपयोगका प्रकरण है । जीवका लक्षण उपयोग है और उन प्रक्रियावोंके भेद किए जाते हैं । भेद किसके किए जा रहे ? उपयोगी पदार्थोंके । उपयोगी मायने जीव । जिसके उपयोग पाया जाय । तो उपयोगवान पदार्थ के दो भेद कहे—संसारी और मुक्त । तो यह 'च' शब्द जो व्यर्थ पड़ा है वह यह जाहिर करता कि उपयोगवानमें मुख्य तो संसारी जीव हैं, और मुक्त जीव गौण हैं । कैसे ? उपयोग लगाना, उपयोग जोड़ना, उपयोग करना, यह चेष्टा संसारियोंमें होती है । मुक्त जीवोंमें उपयोग लगानेकी चेष्टा नहीं है । अच्छा तो फिर क्या उनके उपयोग नहीं ? हाँ प्रधानरूपसे विचारा जाय तो उनके उपयोग नहीं है, फिर क्यों बताते कि उनमें उपयोग है, केवलज्ञान है वह भी तो उपयोगका भेद है । कहते हैं कि उपयोग लगानेका फल है ज्ञान, जानकारी और यह जानकारी वहाँ चल रही है बहुत बड़ी तो उस फलको ले करके उपचारसे कहा है कि मुक्त जीव भी उपयोग वाला है । देखिये ग्रन्थ तो व्यावहारिक हैं, मगर केवल एक शब्द 'च' शब्द के देनेसे कितनी आध्यात्मिकतापर प्रकाश डालता है । प्रभु है ज्ञाताद्रष्टा निरंतर जानने वाला, जानन चल रहा है, यह बात तो सही है और तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थ प्रभुके ज्ञानमें हैं, यह भी बात सही है, मगर उपयोग लगाकर ज्ञान करते हों, यह बात वहाँ नहीं है । एक चीज पड़ी है झिलमिलाती हुई, वह ज्योति है उसे जगमग करती हुई, उपयोग लगाने की बात वहाँ नहीं है । तो उपयोगवानोंमें मुख्य संसारी है और गौण है मुक्त जीव, इस बात का उद्योत होता है 'च' शब्दके देनेसे ।

संसारी और मुक्त जीवोंमें उपयोगकी प्रधानता व गौणताका दृष्टान्त और युक्तिसे परिचय—अच्छा अब इसी बातको और समझें । कैसे हम जानें कि मुक्त जीवोंमें तो गौण है उपयोग और संसारी जीवमें मुख्य है उपयोग ? आप इस तरहसे जान लेंगे कि चूंकि प्रभुके ज्ञानमें अर्थान्तरकी बदल नहीं होती, प्रभुके जाननकी बदल नहीं होती और हम आपके जानन की बदल होती है । अभी इस वस्तुको जाना, अब इस पदार्थको जाना, हमारी तो यह बदल चलती है, इससे जाहिर है कि उपयोगमें हम लोग मुख्य हैं । उपयोग करनेमें भगवान मुख्य नहीं, वे गौण हैं । तो इससे कहीं अपनी शाबाशी न समझना कि देखो उपयोग जीवका लक्षण है, उसमें हम भगवानसे बड़े हो गए । गौण यों है भगवानका उपयोग कि उनमें परिणामान्तर नहीं होता । बस जान लिया वही जानन त्रिकाल चलता रहता है । वहाँ कोई भार नहीं है । एक विशुद्ध आत्मतत्त्व है । स्वभावसे सारे ज्ञेय ज्ञानमें आ रहे हैं । उपयोग जोड़नेका वहां काम नहीं है । चूंकि उपयोगका फल जानना यहाँ पाया जा रहा, इससे सबसे महान् जानने वाले भगवानको हम उपयोग कहते हैं । वह गौण है, संसारीमें उपयोग मुख्य है, यह बात 'च' शब्दने जाहिर की । इसके लिए एक दृष्टांत लो । जैसे हम आप ध्यान करते हैं तो ध्यान कहाँ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तक बताया है ? १४वें गुणस्थान तक। और ध्यानका स्वरूप क्या है ? एक ओर मनका रोकना इसे कहते हैं ध्यान। अब भगवानके तो मन है ही नहीं, वे तो मनसे अतीत हैं, तो ध्यानका लक्षण तो प्रभुमें न घटा। ध्यान तो हम आप लोगोंमें पाया गया। १२वें गुणस्थान तक ध्यान पाया गया, पर चूंकि ध्यानका फल है कर्मका विनाश होना सो १३वें, १४वें गुणस्थानमें ध्यान नहीं है, लेकिन कर्मविनाश तो चल रहा है, इस कारण वहाँ भी उपचारसे ध्यान कहा। यह ही बात उपयोगकी समझना कि उपयोगमें संसारी तो मुख्य है और मुक्त जीव गौण है। देखिये संसारी शब्द अलग रखा, मुक्त अलग रखा, च शब्द अलग किया, इन तीनका प्रयोजन है वह सब बताया गया।

सूत्रमें मुक्त शब्दसे पहिले संसारी शब्द रखनेका कारण—अब एक इस विषयमें थोड़ीसी शङ्का रह गई कि मुक्त तो बड़े हैं, संसारी छोटे हैं, तो यों बनाना चाहिए सूत्र—मुक्ताः संसारिणः, पहले संसारी रखा फिर मुक्त, यह क्रम ठीक नहीं जंचा। भगवानका नाम लो पहले और संसारी ऐरा-गैराका नाम लो पीछे। ऐसा न कहकर संसारीको क्यों कहा ? उसका उत्तर यह है कि एक बात तो यह है कि संसारी जीवोंका फैलाव है बहुत। गति, इन्द्रिय, काय, योग, किन-किन शब्दोंमें, किन-किन अवस्थाओंमें कैसे कैसे रहते हैं ? मुक्त जीव तो एक समान हैं ज्योति-ज्योति। वहाँ कुछ फैलाव ही नहीं है। यहाँ भेद है। दूसरी बात यह है कि संसारपूर्वक मोक्ष है। पहले संसार है, संसार छूटा मोक्ष हो गया तो संसार पहले होता है इस कारण संसारीका नाम पहले किया। तीसरी बात यह है कि संसारीका तो हमें खूब परिचय है, ज्ञान है, यह स्वसम्बन्ध है। हम अपनेको जानते हैं इस कारण संसारी शब्दका पहले ग्रहण किया।

संसारी जीवोंके भेदोंका विस्तार करनेका उपक्रम—जीव दो प्रकारके बताये– संसारी और मुक्त। अब संसारी तो वे हुए जो शुभ अशुभ कर्मफलको अनुभवते हैं और मुक्त जीव कैसे हैं कि वे इन सारी गड़बडियोंसे अलग हैं। संसरण अब वहाँ नहीं है। ये दो प्रकारके जीव बताये। तो मुक्त जीवोंका तो वर्णन अधिक नहीं है, क्योंकि उनका क्षेत्र ही ज्यादा नहीं। इस कारण मुक्त जीवोंके बारेमें अब वर्णन न चलेगा। एक ही शब्दसे सब कुछ जान लें यहीं, आगे सब संसारी जीवोंका विस्तार चलेगा। संसारी जीव क्या हैं ? मुक्त जीव छूट गए यहाँ वर्णनमें। ये सबसे अन्तमें आयेंगे १०वें अध्यायमें। ६वें अध्याय तक संसारियोंका वर्णन है। कैसे संसारी हैं ? कैसे संसार छूटे, क्या उपाय है, ये सब बातें चलेंगी। तो सबसे पहले हमें जानकारी संसारियोंकी करनी है तो संसारियोंका सर्वप्रथम भेद यह बतलाते हैं।

पूर्व सूत्रोक्त दोनों शब्दकी अनुवृत्ति करने पर विडम्बना—इस सूत्रका अर्थ कितना है ? मन वाले और मनरहित। ऐसे दो तरहके हैं। कौन ? संसारी। शंकाकार कहता है कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तुम अपनी ओरसे 'संसारी' शब्द क्यों लगा रहे ? इतना ही कहो कि दो तरहके हैं वे जीव। कौन ? सैनी और असैनी। कौनसे जीव ? जो पहले सूत्रमें कहा—कौन ? संसारी और मुक्त। तो संसारी हैं मन वाले और मुक्त जीव हैं मनरहित। यों अर्थ लगाओ। शङ्काकार कह रहा, किन्तु उस सूत्रमें जो अर्थ बढ़िया बैठ रहा है उस अर्थको क्यों छोड़ा जाय ? संसारी और मुक्त। फिर कहते हैं सैनी और असैनी। तो इसका अर्थ हुआ कि संसारी हुए सैनी और मुक्त हुए असैनी। तो मानो कोई शङ्काकारके पास दूसरा बैठा था तो बोला—हाँ बिल्कुल ठीक कहते हो। मुक्त जीव तो मनरहित हैं ही, इसलिए इनकी बात बिल्कुल सही है कि सैनी तो संसारी हैं और असैनी मुक्त हैं। इसका समाधान यह है कि यदि इस तरह अर्थ लगायें कि संसारी तो हैं मन सहित और मुक्त जीव है मनरहित तो इससे सारे संसारी मन सहित सिद्ध हो जायेंगे, पर कहाँ हैं सब मनसहित ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, कीड़ा, कीड़ी, भँवरा—ये जो चार इन्द्रिय तकके जीव हैं ये सब असंज्ञी हैं और पञ्चेन्द्रियमें जलके साँप असैनी। असैनी उसे कहते हैं जिसके मन नहीं है अर्थात् जो शिक्षा उपदेश ग्रहण नहीं कर सकते। अब बहुतसी चींटी जहाँ है वहाँ कोई उन्हें उपदेश देने लगे— देखो तुम सब चींटी एक जगह खड़ी हो जावो, ध्यानसे हमारे उपदेशपर ध्यान दो, फिर तुम अपना कल्याण करो, तो वे कुछ ध्यान देंगी क्या ? अरे वे कैसे ध्यान देंगी। वे तो मनरहित हैं। मगर ऐसा क्रम बना दिया जाय तो यह आपत्ति आयगी कि सारे संसारी मन सहित सिद्ध हो जायेंगे। और मुक्त जीव मनरहित हो जावेंगे। तो एक बार मान लो हैं भी मुक्त जीव मनरहित, मगर यहाँ मनरहित होना जो कहा है वह तो बुरा है। जिसकी योग्यता कुछ भी नहीं है ऐसे एकेन्द्रिय आदिकको मनरहित बताया जा रहा। तो दो प्रकारके जीव जो हैं वे संसारियोंमें कहे गए। संसारी जीव दो तरहके हैं—संज्ञी और असंज्ञी।

संसारी जीवोंके ही भेद हैं इस सूत्रमें इसका सूत्ररचना द्वारा प्रमाण—कोई शङ्काकार पूछे कि आपने ऐसा मतलब क्यों लगा लिया तो मतलब यों लग गया कि अगर संसारी और मुक्त इस क्रमसे संज्ञी और असंज्ञीका अर्थ करना होता तो दो सूत्र ही अलग-अलग क्यों बनाते ? एक ही सूत्रमें काम चलता। अलग-अलग दो सूत्र बनाये गए। इसका यह मतलब बना कि संसारी जीव ही संज्ञी और असंज्ञी होनेसे दो प्रकारके हैं, फिर भी शङ्काकारको चैन न पड़ी तो पूछा कि तुम तो अपने आप धोंधापट्टी कर रहे, एक जगह बना दो तो क्या, इकट्ठा हो तो क्या ? समाधानमें कहते हैं कि एक बात ध्यान देनेकी है कि इसके आगे जो सूत्र है "संसारिणस्त्रसस्थावराः" उसमें भी संसारी शब्द दिया तो कुछ यह सूत्र अलग लिखा इस वजहसे और कुछ आगे संसारिणः शब्द दिया तो उस संसारिणः शब्दका प्रकाश भी इसमें आया। तब सूत्रका अर्थ हुआ कि संसारी जीव दो तरहके हैं—संज्ञी और असंज्ञी।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अब वह शंकाकार अभी उसके चित्तको चैन नहीं पड़ सकी । फिर बोलें—अच्छा हम मान लेंगे कि संसारिणस्त्रसस्थावराः इस सूत्रमें संसारिणः का प्रकाश पड़ा इस सूत्रपर । तब अर्थ हुआ कि संसारी दो तरहके हैं—(१) संज्ञी, (२) असंज्ञी । तो जरा और बढ़ो, त्रसस्थावराः का भी अर्थ जोड़ें तो यह हो जायगा कि त्रस है संज्ञी और स्थावर है असंज्ञी, उसे क्यों छोड़ते ? कहते हैं कि नहीं, अगर उसका मतलब होता तो ये दो सूत्र न बनते, इन्हें जो पृथक् पृथक् बनाया, सो इस सूत्रका अर्थ यह जाहिर होता है कि केवल निकट रहने वाले संसारी शब्दका प्रकाश है । त्रस, स्थावराः की बात अलग है । तो ये जीव यों दो प्रकारके हैं । संसारी जीवके भेद पहले बताये संज्ञी और असंज्ञी । जो यह प्रथा है कि पञ्चेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं—संज्ञी, असंज्ञी । वे पञ्चेन्द्रियमें छांट करनेके लिए हैं । अगर सारे संसारी जीवोंमें जब छाँट करने बैठें तो एकेन्द्रियसे लेकर कुछ पञ्चेन्द्रिय तक असंज्ञी हैं, बाकी जीव संज्ञी जीव हैं । इस तरह ये दो भेद हुए ।

जीवोंके मूल भेदोंको अलग-अलग तीन सूत्रोंमें कहे जानेका तथ्य—जीवतत्त्वकी जानकारीके प्रसंगमें यह स्थल चल रहा है कि जिसका लक्षण उपयोग है वे हैं जीव और ऐसे-उपयोगवान जीवके भेद किए गए हैं । इसको लगातार तीन सूत्रोंमें बताया है कि संसारी और मुक्त और फिर बताया है कि संज्ञी और असंज्ञी, फिर बताया है कि वे संसारी त्रस और स्थावर हैं ऐसे दो तरहके होते हैं । इन सूत्रोंमें कुछ आपत्ति यह आती है कि सूत्रोंसे ही एकदम सीधा स्पष्ट अर्थ नहीं विदित हो पाता । उसमें कुछ आगे पीछेका सिलसिला सोचना पड़ता है और इस सिलसिलेपर जो समस्यायें उठीं उनका समाधान भी हुआ । संक्षेपमें वह समाधान यह है कि पहला सूत्र कहता है कि जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और मुक्त । दूसरा कहता है कि संज्ञी और असंज्ञी । अब यहाँ संज्ञी और असंज्ञी किसके भेद हैं, यह सूत्रमें उल्लिखित नहीं है, क्योंकि दो ही शब्द हैं समनस्क और अमनस्क । तो इसके लिए यह उपाय ज्यादह भला सोचा कि आगेका जो सूत्र है संसारिणस्त्रसस्थावराः, उससे संसारी शब्द का प्रकाश लाया गया । तब अर्थ हुआ कि संसारीके ये दो भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी । इसपर दो शंकायें हुई थीं कि यदि हम ऐसा कर दें कि संसारी और मुक्तके ये भेद हैं क्रमसे संज्ञा और असंज्ञी याने संसारी तो संज्ञी हैं और मुक्त जीव मनरहित हैं । दूसरी शंका यह आयी कि यों लगा लो आगेके सूत्रमें क्रमसे कि संज्ञी जीव तो त्रस हैं और असंज्ञी जीव स्थावर, मगर ये दोनों बातें सिद्धान्तके विरुद्ध हैं और इस बातको बतानेके लिए अन्तमें यह समझना कि यदि समनस्क अमनस्कका संसारी मुक्तमें क्रम बनाओ या त्रस स्थावरमें क्रम बनाना होता तो तीनों सूत्रोंका एक सूत्र बना दिया जाता । संसारिमुक्ताः समनस्कमनस्का त्रसस्थावरा । एक संसारी शब्द भी कम हो जाता । वहाँ च शब्द भी कम हो जाता और तीनोंका एक सूत्र बन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जाता, पर ऐसा नही किया जाता। उससे यह साफ जाहिर होता कि तीनोंके अलग-अलग मतलब हैं। तो उपयोगवान जीवके प्रथम तो उपाधिके भेदसे दो भेद हैं, जिन जीवोंमें उपाधि लगी वे हैं संसारी और जिनके उपाधि नहीं रही वे हैं मुक्त। अब मुक्तका तो वर्णन कुछ होना नहीं, ज्यादह वर्णन नहीं। है वर्णन, उनके गुणोंका कौन वर्णन कर सके, मगर विविधता रूपमें (फैलाव रूपमें)। कुछ नहीं है। सब एक रूपसे है। जब संसारका वर्णन चल रहा वे संसारी दो तरहके हैं—(१) संज्ञी और (२) असंज्ञी, यह बात इस सूत्रमें कही जा रही है।

समनस्काऽमनस्काः इस सूत्रमें प्रथम समनस्क शब्द कहनेका प्रयोजन—अब एक बात और विचारनी है कि पहले समनस्क शब्द क्यों दिया, पीछे अमनस्क दिया? संज्ञी और असंज्ञी, जब कि एक उन्नतिके सिलसिलेमें असंज्ञीका नम्बर पहले आना चाहिए और संज्ञीका बादमें। जैसे बोलते ना— एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय उन्नतिका क्रम बनता तो यहाँ भी असंज्ञी पहले बोलते, संज्ञी बादमें। ऐसा न कहकर पहले संज्ञी कहा। इसका कारण मुख्य तो यह है कि संज्ञी जीव आदरणीय हैं और हित करनेकी योग्यता रखते हैं, सम्यक्त्व पा सकते हैं। समस्त असंज्ञी जीवोंसे संज्ञी जीवोंकी महिमा विशेष है। इस कारण संज्ञी जीवको पहले ग्रहण किया और शब्द शास्त्रकी दृष्टिसे समनस्क पहले कहा और अमनस्क बादमें कहा। समनस्क शब्द पहले देनेसे कितने शब्द इसमें आये—७ शब्द आये और अमनस्क शब्द पहले दिया जाय तो ८ शब्द बनते हैं। तो एक शब्दकी कमी होती है, इसलिए तो शब्दशास्त्र कहता है कि समनस्क शब्द पहले दो और चूंकि संज्ञी जीवसे ही हितका मार्ग प्राप्त हो पाता है, असंज्ञी तक नहीं कल्याणमार्ग बना, इसलिए समनस्क शब्द पहले दिया। अब जो संज्ञी और असंज्ञी इन दो भागोंमें विभक्त किया है।

संसारियोंके विस्तारमूलक पद्धतिसे विभक्त त्रस व स्थावरका आख्यान—वे संसारी दूसरी तरहसे कितने प्रकारके हैं? सो कह रहे हैं—संसारिणस्त्रसस्थावरः, संसारी जीव दो प्रकारके हैं—त्रस और स्थावर। त्रस नामकर्मका उदय होने पर जो दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय पञ्चेन्द्रियमें जन्म हुआ है और स्थावर नामकर्मके उदयसे जीव स्थावर होता। अब यहाँ विडम्बना देखिये—जीव तो सब एक समान अपने स्वरूपमें हैं, एक ज्योति है, चेतन है, मगर उपाधिके सम्बन्धसे कितनी विडरूपता आती है? त्रस बन गए, स्थावर बन गए। ये सभी भगवान ही तो हैं, स्वरूपसे परमात्मा ही तो हैं, मगर दशा कैसी बिगड़ी हुई है? पेड़ पौधे बन गए तो कैसी पत्तियाँ है, कैसी पत्तियोंके नशाजाल हैं? जैसे फैले हैं कैसे लम्बे फैल गए, ऐसे ऐसे आत्माके प्रदेश फैलने पड़े और कितनी तरहके जीव पाये जाते हैं हुंडक अटपट, कैसा कैसा इस जीवको फैलना पड़ता है, यह विडम्बना है। तो यह अपने आपके स्वरूपका संचेतन न होनेसे विरूपता आयी और ऐसा कर्मबन्ध हुआ कि जिसके उदयमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवकी ऐसी दशा हो गई। जब हम जीवत्वको देखते हैं और संसारकी इन स्थितियोंको देखते हैं तो एक ताज्जुब वाली बात है और उसका समाधान भी है—कैसा यह जीव अनेक परिस्थितियोंमें विवश हो गया। तो संसारी जीवोंके भेद बताये जा रहे हैं कि दो हैं—त्रस और स्थावर।

त्रसनामकर्मके उदयसे प्राप्त भवकी त्रसरूपता—कोई यह पूछ सकता है कि त्रस जिस धातुसे बना है उसका अर्थ तो चलना होता है। जिसे अंग्रेजीमें मूविंग कहते हैं। तो जिनके त्रसपना हो, जो हलनचलन कर सकें उन्हें त्रस कहते हैं। जो शब्दमें अर्थ है सो ही अर्थ मानो ना। क्यों ऐसी कल्पना करते कि त्रस नामकर्मका उदय होना सो त्रस है। सीधा ही कहो कि जो चल फिर सकें, हलन-चलन कर सकें, चेष्टा कर सकें उन्हें त्रस कहते हैं। तो देखो दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय सब चेष्टा करते हैं। अर्थ भी ठीक बन गया, पर यह बात आगमको पसंद नहीं है। कारण यह है कि यदि चलन क्रियाके आधारपर उन्हें त्रस कहा जाय तो जो गर्भके जीव हैं या अंडामें जीव हैं, अब वे त्रस और पञ्चेन्द्रिय तक हैं और फिर वे चल फिर सकते नहीं तो उन्हें क्या स्थावर बोल देंगे ? त्रस न कहेंगे क्या ? तो फिर कोई पूछ सकता तो फिर त्रस नाम क्यों धरा ? जो शब्दका अर्थ है वह अर्थ मानते नहीं तो फिर नाम त्रस क्यों धरा ? तो बात यह है कि नाम तो कुछ रखना पड़ता और जो अधिकतर जीवोंमें पाया जाता सो नाम है, पर एक चलने फिरनेका नाम रख दें, उससे नहीं एकान्त न करना, जो चले फिरे सो ही त्रस है। आगममें तो यह दर्शाया है प्रभुने कि जिन जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय है उन्हें त्रस कहते हैं। एक बात और जाननी चाहिए कि अंगोपाङ्ग त्रस जीवोंके कहे जाते हैं। स्थावर जीवोंके अंगोपाङ्ग नहीं होते। भले ही मनुष्योंके अंगोपाङ्ग अच्छे हैं, हाथ पैर अच्छे हैं, बन्दरोंके तनक घटिया हैं, अन्य पशुओंके और घटिया हैं, चार-इन्द्रिय जीवोंके और घटिया हैं, तीनइन्द्रिय दोइन्द्रियके और घटिया हैं। बड़ा लम्बा होता है केचुवा, मगर उसके अङ्गोपाङ्ग हैं, मगर स्थावर जीवोंके अंगोपाङ्ग नहीं होते। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पतिमें अङ्गोपाङ्ग नहीं होते। भले ही कह देते वनस्पतिकी शाखाओं को वनस्पतिके अंगोपाङ्ग, मगर वह तो एक फैलाव है। ये अंगोपाङ्ग नहीं। तो त्रस नामकर्म के उदयसे जिन्होंने परिस्थिति पाया है वे जीव त्रस कहलाते हैं।

स्थावर नामकर्मके उदयसे प्राप्त भवकी स्थावररूपता—स्थावर कौन कहलाते ? स्थावर नामकर्मके उदयसे जिनको एक विचित्र शरीर मिला है उन्हें स्थावर कहते हैं। स्थावरका भी शब्दसे अर्थ तो यह बनता कि जो स्थित रहें, स्थानशील हों, चल-फिर न सकें, हिल-डुल न सकें उन्हें स्थावर कहते हैं, मगर यह अर्थ न लेना। अगर यह अर्थ ले लिया जाय कि जो हिले डुले नहीं नहीं सो स्थावर तो पहली बात तो यह है कि बहुतसे जीव जो गर्भस्थ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं, कोई अंडेमें हैं, वे भी तो हिल-डुल नहीं पाते, तब तो फिर वे स्थावर हो जायेंगे। दूसरी बात यह है कि और नहीं तो जल, अग्नि और वायु ये तो खूब हिलते डुलते हैं। अग्नि जलती है, ज्वाला हिलती है तो क्या वे स्थावर न रहे ? वायु तो बहुत तेज चलती है, लेकिन ये सब तो हैं स्थावर। तब यह ही अर्थ ठीक बैठेगा कि ये स्थावर नामकर्मके उदयसे जिनको कोई परिस्थिति प्राप्त हुई है वे स्थावर कहलाते हैं। बच्चोंको समझानेके लिए भले ही कोई बोल दे कि त्रस उन्हें कहते हैं कि जो चल फिर सकें, स्थावर उन्हें कहते हैं कि जो चल फिर न सकें, मगर यह लक्षण सही नहीं है, यह अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषसे दूषित हैं।

त्रस और स्थावरमें त्रस शब्दका पहिले प्रयोग करनेका कारण—संसारी जीव दो प्रकारके बताये गए—त्रस और स्थावर। इनमें त्रसका नाम पहले रखा, स्थावरका नाम बाद में रखा, जब कि उन्नतिकी विधिमें स्थावर पहले आता है, निगोद जीव स्थावर हैं, आदि धाम स्थावर है फिर त्रसको पहले क्यों रखा गया ? तो उसके दो कारण हैं—एक तो यह है कि त्रस में दो शब्द हैं, स्थावरमें तीन शब्द हैं। जितने स्वर होते हैं उतनेसे शब्दकी बात बोली जाती है। तो त्रस शब्द चूँकि कम अक्षरोंका है इसलिए पहले त्रस नाम दिया। दूसरी बात यह है कि त्रस तो अरहंत भगवान तक हैं और लट केचुवा आदिक भी त्रस हैं और अरहंत परमेष्ठी भी त्रस हैं, मनुष्य त्रस हैं। तो त्रसमें विशेषतायें हैं, इस कारण त्रसका नाम यहाँ पहले लिया। तब सूत्रका अर्थ हुआ, संसारी जीव दो तरहके होते हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीवोंका फैलाव बनेगा तो दो इन्द्रियसे लेकर और और तिर्यञ्च तो ये हो गए दो इन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके तिर्यञ्च। इनके अलावा नारकी सब त्रस, मनुष्य सब त्रस देव सब त्रस। जहाँ तक त्रस नाम कर्मका उदय है वे सब जीव त्रस कहलाते हैं। अब देखते जाइये, स्वरूपदृष्टिसे तो भगवान और हम समान हैं, मगर कुछ परिस्थितियाँ भी ऐसी हैं कि जिनकी दृष्टिमें भी हम और प्रभु अरहंत समान हैं। मनुष्य हम और मनुष्य अरहंत। पञ्चेन्द्रिय हम और पञ्चेन्द्रिय अरहंत। त्रस हम और त्रस अरहंत। जो प्रभुमें योग पाये जाते वे सब हममें पाये जाते, कुछ उनसे ज्यादा भी हैं। मनुष्य भी वेदरहित हो सकते अरहंतमें, मुनियोंमें। प्रभु भी वेदरहित हैं। जो प्रभु नहीं हैं, छद्मस्थ हैं वे भी विषय कषाय रहित हो सकते। प्रभु भी कषायरहित हैं। ११वें, १२वें गुणस्थानमें कषायरहित कहा गया। परिस्थितियोंसे भी देखो तो अरहंत परमेष्ठी मनुष्य हैं, त्रस हैं और उस मनुष्यके नाते जो-जो चीज होती है वह करीब-करीब उनमें पायी जाती है, मगर भीतर जो प्रकाश मिला है, ज्ञानावरणका क्षय हुआ है, चार घातियाकर्म रहे नहीं, उसका प्रबल प्रताप है कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति व अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है। अब उनका ऐसा भाव है कि कोई विकल्प ही नहीं, अपनेमें समा गए, आनन्द मिल गया। ये प्रभु भी त्रस हैं। विशेषता होनेसे त्रस पहिले कहा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मोहके उत्पातका दिग्दर्शन—हम अपनेमें समा न सके सो विडम्बनायें बनती हैं और तिसपर भी यह तारीफ करते हैं कि उन विडम्बनाओंसे अपना महत्त्व समझते हैं परिवारमें दो चार जीव जो हैं उन्हें समझते हैं कि ये मेरे हैं, अच्छे हैं, इनसे मेरी महिमा बढ़ रही है। ओहो अच्छा लग रहा और हो रही विडम्बना। क्यों किया जा रहा है ऐसा? अन्तरमें क्यों सोचा जा रहा है ऐसा कि यह मेरा है? जब कि ये रागादिक भाव भी मेरे नहीं बन पाते, क्योंकि कर्मके उदयसे होते। जो मेरे विचार विकल्प उठ रहे वे भी मेरे नहीं बन पाते, क्योंकि वह क्षयोपशमका फल है, उपयोग लगाया उसका फल है। तो जब विचार भी मेरे नहीं हो पाते, विकार भी मेरे नहीं हो पाते और शरीर भी मेरा नहीं हो सकता तो अत्यन्त प्रकट भिन्न जीवोंमें ऐसा अज्ञान रखना कि ये मेरे कुछ हैं। भीतरमें यदि ऐसा अज्ञान बसा है तो यह ही मोह है, यह ही मिथ्यात्व है और इसका फल यह है कि भव-भवमें ये भाव बनेंगे और भव भवमें मिटेंगे, भव-भवमें छूटेंगे और नया-नया जन्म होता रहेगा, यह उसका फल है, निमित्तनैमित्तिक योगकी बात है। जैसे यहाँ लोगोंको देखते हैं— अग्नि है, उस पर पानीका बर्तन रख दिया, गरम हो गया। जैसे यहाँ निमित्तनैमित्तिक योगसे अनेक बातें बनती हैं ऐसे भी यहाँ भी एक निमित्तनैमित्तिक योग है। हम मोह रखेंगे, अज्ञान बसायेंगे तो ऐसी-ऐसी विडम्बनायें होंगी और मोह न रखेंगे, निजको निज परको पर जानें, ये हमारे भाव बन जायेंगे तो हम मोक्षमार्गमें आये। जिस बातमें इस आत्माका सारा नुक्सान है वह तो लग रहा है प्यारा और जिस बातमें, मार्गमें इस जीवको तत्काल भी आनन्द, आगे भी आनन्द, पवित्रता भी बने, वह बात सुहाती नहीं। ऐसी जिसकी मति है कि आत्मतत्त्वकी बात सुहाये नहीं, परतत्त्वकी बात बड़ी भली लगे तो यह ही तो है संमरण करनेका, जन्ममरण करते रहनेका उपाय। और कोई बड़ा चतुर हो बोलने वाला तो यों कह देता कि हम तो संसारकी रक्षाके लिए हैं, क्योंकि हम अगर पवित्र भाव करेंगे, तो संसारमें से हमने अपनेको कम कर दिया ना। हम तो संसारकी उन्नति करने वालोंमें से हैं। अहो मोहका कैसा उत्पात है?

एक ही सार बात है जोवनमें मूलभूत कि यह अपनेमें प्रत्यय रहे कि मैं तो एक सहज चैतन्य प्रकाशमात्र हूं, बाकी जो कुछ हो रहा वह सब कर्मकी माया है। उसके उदयके अनुसार ये सब बातें चल रही हैं। वे मैं कुछ नहीं हूं, ऐसा परसे हट जाय और निज तत्त्वमें लग जाय तो बस वही तो भगवान बन गया। धर्मका मार्ग कितना सुखद है कि धर्मभाव करते हैं तो उस वक्त भी आनन्द और कोई झगड़ा फिसाद भी नहीं उठता और अगले भवमें भी आनन्द पायगा और सदाके लिए संसारके संकटोंसे छूट जायगा। इतना तो धर्मभावका प्रताप है और इस धर्मभावको करनेके लिए कोई तकलीफ भी नहीं उठानी पड़ती। अपना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वरूप है। अपना उपयोग अपने स्वरूप पर लगाना है, इसमें कष्ट विपत्ति, कठिनाईकी बात क्या है ? और निश्चित सिद्धिकी बात है इसमें। हम अपना उपयोग अपने सहज स्वभावमें रमायेंगे तो नियमसे हित है और संसारसे संकटोंसे छुटकारा है, इतना एक डटकर नियम है। क्योंकि परपदार्थोंके प्रति मोह रखनेमें न हमारा कुछ अधिकार है, न वह हमारा कभी हो सकता है और वियोग जब चाहे सम्भव है। आपके अनुकूल बात न बने यह हरदम सम्भव है, उसकी वजहसे दुःखी भी होना पड़ता। तो जिसपर प्रसंगमें क्लेश ही क्लेश है उसके रुचिया तो अनन्तानन्त जीव हैं और जिसके आलम्बनमें आनन्द ही आनन्द है उसका कोई पवित्र भव्य जीव ही रुचिया होता है। एकको साधनेसे सब सधता है और एक की सिद्धमें सारे संकट मिटते हैं और उस एकको न साधा जाय तो बाहरमें कुछ भी साधो, कुछ नहीं सध सकता। जैसे जिन्दा मेढक कोई एक किलो तौलकर दिखा दे, कोई नहीं तौल सकता। यह बात जैसे असम्भव है ऐसे ही परपदार्थोंमें दिल लगाकर, उपयोग लगाकर अपने लिए उससे कुछ आशा करना ही कठिन और असम्भव बात है।

जीवका अनादि धाम और अनन्त धाम—जीवका चिरगृह क्या है ? घर जैसे महिलावोंके दो होते हैं—एक मायका और एक ससुराल। आखिरी घर है ससुराल और पहला है मायका। वह पहला घर छूटता है और आखिरी जो घर है वह नहीं छूटता। मरकर ही छूटेगा। ऐसे ही जीवके भी दो घर हैं—एक प्रारम्भका घर और एक आखिरी घर, जो स्थायी चीज है। यों तो किसी विवाहमें, रिश्तेदारोंमें चले गए तो दो दिन रहे, एक दिन रहे, पर ठिकाना तो घरमें ही रहता है। तो ऐसे ही दो घर हैं, दो धाम हैं इस जीवके—निगोद और मोक्ष। ये स्थायी धाम हैं। शुरूका धाम है निगोद। अब कोई जीव निगोद ही निगोदमें रहा आये तो रहे, उसके लिए तो फिर कोई दूसरा धाम ही नहीं है। और निगोदसे निकला तो एक मोक्ष धाम ही ऐसा है कि जहाँ सदा काल अनन्त काल जीव रह सकता है। तो बीचकी जो स्थितियाँ हैं, वे तो चंचल हैं, अस्थायी हैं, उनसे क्या रति करना ? और उस अनादि धामसे तो हम निकल ही आये हैं। बड़ा भारी संकट तो हमारा निकल गया है और कुछ भी नहीं निकला, अगर अब भी हम दुरुपयोग करेंगे तो फिर हमको निगोदमें जाना होगा, चतुर्गतियोंमें भ्रमण करना होगा। तो जिस आत्माकी प्रसन्नता, निर्मलताके प्रसादसे जिससे जिस भवमें प्राप्त हुए हम आज मनुष्य हो गए। अब मनुष्य बनकर यदि हम अपने इस भगवान परमात्मतत्त्वपर अन्याय ही किये चले जायें, अन्याय हैं विषय और कषाय जिससे यह ब्रह्म बरबाद हो रहा है, तो उसका फल यह है कि फिरसे हमें निगोद दशा मिल सकती हैं।

स्वसंचेतनमें क्षण व्यतीत होनेमें लाभ—भैया ! क्षण क्षण चेतनेका है। हमारा समय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सब अच्छे उपयोगमें जाय, कषायोंकी तीव्रता न हो, किसी जीवको हम अपना दुश्मन न मानें विषम कल्पनायें ये सब बातें तो अपने बिगाड़के लिए ही हैं। और सही बात भी है। कोई जीव हमारा दुश्मन है ही नहीं, वह तो सजातीय है। जो मेरा स्वरूप है सो ही मेरा है, जो मेरे अहितमें बाधा दे, विडम्बना और विपत्तिमें विघ्न करे उसे हम शत्रु समझते हैं। यह तो एक उल्टी बात है। ये विषय कषायके प्रसंग ये सब विपत्ति हैं, विडम्बना हैं, इनमें जो बाधक बनते उनको हम शत्रु समझते हैं। अरे हमारे अहितको जो मिटाये वह हमारा शत्रु कैसे ? तो किसी जीवको हम शत्रु न समझें। परिग्रहमें हमको आसक्ति न बने और यह प्रकाश हमारे निरन्तर रहे कि मैं देहसे भी न्यारा, कर्मसे न्यारा, विचार विकारसे न्यारा मात्र एक सहज चैतन्यस्वरूप हूं, ऐसी दृष्टि, ऐसा अभ्यास हमारा बने तो हम बहुत सुरक्षित हैं। नहीं तो आकुलता आकुलतामें ही जीवन जाता है। और आकुलताका कोई काम नहीं किसी भी मनुष्यको। मोह किया तो उसका फल आकुलता है ही, परमें लगाव रखें तो उसका फल आकुलता है ही, अन्याय कर रहे इसलिए आकुलता है। अरे दृष्टि दें अपने चैतन्यप्रकाश पुञ्ज को। यह मैं हूं, मैं तो सबसे निराला हूं। बाहरमें कहीं कुछ भी बीते, कुछ भी हो, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मैं तो प्रभुकी तरह शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं—ऐसा अपना दृढ़ भाव रहे तो तकलीफ तो इस वक्त भी कुछ नहीं है। विचार ज्ञान जैसा बनाते हैं वैसी ही आनन्द और दुःखकी स्थितियाँ आती हैं। दूसरेकी वजहसे हमको दुःख नहीं होता। दुःख होता है तो हमको अपने परिणामसे ही होता है। इससे अपने परिणाम ज्ञान और वैराग्यवासित बनें, इसमें हमारा हित है। अब संसार जीवके विस्तारमूलक भेदका प्रारंभ करते हैं—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

स्थावरकी परिभाषा—संसारी जीवके दो भेद किए गए थे पूर्व सूत्रमें त्रस और स्थावर। ये भेद नामकर्मके उदयके प्रभावसे सम्बंधित हैं। जिन जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय होता वे जीव त्रस कहलाते हैं। इसमें अंगोपाङ्ग, कर्म, चेष्टा, क्रिया इन सबकी योग्यता हो जाती है और स्थावर जीव वे कहलाते हैं कि जिनके स्थावर नामकर्मका उदय है। कर्म मूल में दो हैं—घातिया, अघातिया। उनके और भेद करते हैं तो ८ हैं—चार घातिया, चार अघातिया, उनके और भेद करते हैं तो १४८ भेद हैं। और इतना ही नहीं है, उनमें और भी भेद हैं। जितनी जातियाँ हैं, जितनी व्यक्तियाँ हैं, उनका अलग-अलग प्रभाव है, अनुभाग है ऐसे भेद करें तो कितने करें ? हजार लाख, करोड़, अनगिनते। और अनुभाग की अपेक्षा अनन्त। जैसे स्थावर नामकर्म तो एक बताया गया है, मगर उसमें पृथ्वीकायक स्थावर नामकर्म, जलकाय स्थावर नामकर्म, अग्निकाय स्थावर नामकर्म, वायुकाय स्थावर नामकर्म और वनस्पतिकाय स्थावर नामकर्म और भेद करेंगे तो इसमें भी बहुत भेद हैं, क्यों कि भेद अगर न हो तो यह विषमता कैसे हो रही ? यह वनस्पति जो है वह कितनी तरहकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वनस्पति है ? कोई बेल वाली है, कोई पेड़ वाली है, कोई धूपमें हरी होती है, कोई पानीमें हरी होती है । किसीका कोई ढंग है, किसीका कोई ढंग है । इतने ढंग कैसे बन गए ? जितने ढंग बनते हैं वे यह पहिचान कराते हैं कि इतने प्रकारके कर्मके उदय हैं भिन्न भिन्न । तो उनमें और भेद करें तो और भेद हो जाते हैं । पृथ्वी ३२–३३ तरहकी है । कोई कड़ी है, कोई मुर मुर है, कोई सोना है, कोई चाँदी हैं, कोई ताँबा है, कोई कुछ है । तो उतने ही नामकर्म हैं । तो यहां पाँचों ही स्थावर ले लो ।

पृथ्वीकायिक जीवके संबंधित भेद—पृथ्वीकाय नामक स्थावर नामकर्मके उदयसे जो परिस्थिति प्राप्त हुई है जिसको, वे पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं । इसी प्रकार जलकाय, अग्निकाय, ये भिन्न-भिन्न नामकर्म हैं । उनके उदयसे यह स्थिति बनती है । पृथ्वीका अर्थ क्या है ? एक पृथ् धातु है, उससे पृथ्वी शब्द बना याने जिसका पृथन हुआ, मोटापन हुआ, पिण्डपन हुआ, पृथन हुआ वह पृथ्वी । सो यह तो हुआ शब्दार्थ और वास्तविकता— पृथ्वी नामकर्मके उदयसे जो परिस्थिति हुई सो पृथ्वीकायिक । पृथ्वी चार प्रकारकी हैं, यह पृथ्वी शब्दमें जाननेकी बात– पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव । पृथ्वी नाम है अपने आप ही बन जाय, जीव नहीं है और वैसे ही पुद्गल परमाणु ऐसे ही मिलनेसे स्कंध बन जायें, कुछ ऐसा भी तो होता होगा कि जीव न ग्रहण करे तब भी स्कंध बने, तो वैश्रसिक परिणाम से रचा गया काठिन्य आदिक गुण वाली है वह पृथ्वी है । ऐसे बहुत कम होंगे, क्योंकि जितने भी पृथ्वी पिण्ड नजर आ रहे हैं इनको पहले जीवने ग्रहण किया, उससे वे बढ़े, वृद्धि को प्राप्त हुए । फिर जीव निकल गया तो अजीव अचेतन पृथ्वी रह गई अथवा "पृथ्वी" यह सामान्य शब्द है, जो शेष तीनोंमें व्यापक है । पृथ्वीकाय क्या ? कोई जीव पृथ्वी है जिसमें पृथ्वीकायका जीव रह रहा है । पृथ्वी शरीर है, उसमें से जीव निकल गया, मुर्दा रह गया उसे कहेंगे पृथ्वीकाय और जब तक वह जीव है उस कायमें सजीव देहपृथ्वी, उसे कहेंगे पृथ्वीकायिक । और कोई जीव अगर पृथ्वीमें पैदा होने जा रहा है और रास्तेमें मोड़े वाली गतिमें वह जीव है, वह पृथ्वी जीव कहलाता है । काय उसके है ही नहीं । तैजस और कार्माण है, पर उदय पृथ्वी स्थावर नामकर्मका है, इसलिए वह पृथ्वीजीव कहलाता है ।

जलकायादिके संबंधित भेद—जलकायमें जल, जलकाय, जलकायिक, जलजीव । इन जीवोंके देहका आकार है पृथ्वीकायका तो बिभिन्न आकार है, जो एक मोटा पर्वत दिख रहा या मोटा डला दिख रहा वह क्या पृथ्वीकाय नहीं है ? उसके अन्दर ऐसे अनेक पृथ्वी-काय हैं जिनमें पृथ्वीकायिक जीव हैं, उनका मिलकर एक डला दिखता, फिर भी वे निगोद जैसे नहीं कि एक शरीरके अनेक जीव स्वामी हों । हैं तो वे प्रत्येक, मगर वे इतने छोटे-छोटे कायमें जीव होते हैं कि जो मोटा दिख रहा इसमें बहुत पृथ्वीकाय हैं । जलकायमें भी बहुत

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

छोटे बिन्दु एक जलकाय जीव होता है। अगर पावभर पानी है तो उसमें तो अनगिनते जलकायके जीव हैं। छोटे-छोटे बूंद एक-एक जलकाय हैं और उनको मिलाकर एक मोटा दिखने लगा। अग्नि—अग्निकाय, अग्निकायिक, अग्निजीव। अग्निका आकार होता है एक सूई जैसा। अग्निमें जो ऊपर लौ निकलती वह तो अग्निका वैक्रियक शरीर है। अग्निमें विक्रिया होती है। मनुष्य तो तपश्चरण करके विक्रियाको प्राप्त कर सकते हैं और अग्निको वरदान है विक्रिया शरीर बन जाय (हँसी), इंधन आये, लौ उठे तो जो लौ उठी है वह उसकी विक्रिया है, तो वह तो विक्रिया वाला है, लेकिन जो मूलमें अग्निकाय है, जीव है वह जैसे बहुतसी सूई होती हैं और ऐसा लम्बा रूप आकार रहता है, वायुकायका एक ध्वज जैसा आकार है, जो बहुत-बहुत हवा लगती है वह कोई एक वायु नहीं है। अनगिनते वायु जुड़ी तब शरीरको धक्का लगता है। खूब तेज वायु चले तो मनुष्य भी हवाके साथ-साथ काफी दूर तक उड़ जाते हैं। और वनस्पतिकायका शरीर बिल्कुल स्पष्ट है, आंखों दिखता है, पेड़ बन गया, पौधे बन गया। ये सब स्थावर जीव कहलाते हैं। ये स्थावर इस कारण नहीं कहलाते कि वे एक ही जगह पड़े रहते हैं, किन्तु स्थावर नामकर्मका उनके उदय है इस कारण स्थावर जीव कहलाते हैं।

सूत्रमें पृथिवी शब्दको प्रथम रखनेका कारण—स्थावर ५ प्रकारके हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। अब इस सम्बन्धमें विचार करना कि ऐसा ही नाम क्यों बोलते ? या किसी बच्चेसे पूछो स्थावर कौन है ? तो अगर वह कहे कि पृथ्वीकाय, अग्निकाय, जलकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तो देखिये बच्चा क्रम-भंग करके बोला, पर इस तरहसे क्रम-भंग करके बोलने की आदत ठीक नहीं। यों समझिये कि इस जीवको क्रमसे बोलनेकी आदत है, मगर सूत्रमें ऐसा क्यों रखा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ? कोई भी ४—५ व्यक्ति हैं और उनका कोई नाम लेता है तो थोड़ा तो एक यह कारण होता कि जिसके नाम में थोड़े अक्षर हों उसे पहले बोल दिया जाय। लेकिन अगर विशेष उपयोग है तो इस नियम का उल्लंघन हो जाता है। फिर तो उस क्रमसे बोला जाता है जैसा कि उपयोग है, राग है, जैसा कि वहाँ काम है फिर उस ढंगसे नामका क्रम बोला जाता है तो यहां पर भी छोटा अक्षर बड़े अक्षरका ध्यान नहीं आया किन्तु व्यवहारमें जिस ढंगकी बात है और समीप रखने की जो अनुकूलता है उस ढंगसे इसका क्रम है। सबसे पहले कहा गया—पृथ्वी, इसका कारण यह है कि पृथ्वीको बड़े सुखसे ग्रहण कर लेते हैं। पृथ्वीके आधारपर हम सब लोग बैठे रहे हैं। पृथ्वीकी मूर्ति स्थूल है, पृथ्वीका उपकार बहुत है। न हो पृथ्वी तो हम रहेंगे कहां ? यह पृथ्वी ही तो हमको साधे है, पृथ्वीके साधनसे ही तो बैठे हैं। पृथ्वीपर मकान बनाते बड़े सुख से रह रहे, पृथ्वीका कितना काम आ रहा तो इस उपयोग की प्रधानतासे, स्थूल मूर्ति होनेसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और बड़े सुखसे हम पृथ्वीको जान लेते हैं, खूब बड़ी-बड़ी पृथ्वी है इसलिए सबसे पहले पृथ्वी शब्द दिया।

सूत्रमें जल शब्दको पृथ्वी शब्दके बाद व अग्निशब्दसे पहिले रखनेका कारण—अच्छा भाई पृथ्वीके बाद जल कहा। तो जल ही क्यों कहा पृथ्वीके बाद, अग्नि कह देते, अग्नि क्यों नहीं रखा पृथ्वीके बाद, जल ही क्यों रखा ? जलके यों रखा गया पृथ्वीके पास कि जलने पृथ्वी और अग्निमें अन्तर डाल दिया। तो एक व्यवहारकी बातोंका प्रभाव भी वचनोंमें पड़ता है। हालांकि ऐसा नहीं है कि इस सूत्रमें अगर पृथ्वीके आगे आग रख दी जाय तो ये मकान जल जायेंगे ऐसा तो नहीं है मगर चीज तो है बाहरमें ऐसी। तो उसके अंतरालमें जल रख दो, पृथ्वीकी रक्षा हो जायगी, एक बात। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी आधार है जल आधेय। इसका बहुत निकट सम्बन्ध है और भूगोल आदिकसे पृथ्वी और जलमें कितना निकट सम्बन्ध है। पृथ्वीसे चिपका हुआ जल बताते आजकलके वैज्ञानिक लोग और यहाँ पृथ्वी आधार है और जल आधेय है इसलिए पृथ्वीके बाद जल शब्दको दिया है।

पृथ्वी और जल शब्दके बाद क्रमशः अग्नि वायु व वनस्पति शब्द रखे जानेका कारण—इसके बाद अग्नि शब्द रख दो, क्यों रख दो इस ख्यालके लिये कि इस अग्निसे जरूरत पड़े तो पृथ्वीको भी पका लो, चूना पकाते हैं, ईंट पकाते हैं। तो अग्निसे काम ले लिया जाता है और जलको भी आगसे पका लो दोनोंका काम बन जायगा अपनी-अपनी इच्छानुसार तो तो उसके बाद रख दो अग्नि, पृथ्वी, जल और अग्नि। और इसके बाद फिर हवा रखो क्यों कि हवासे अग्निकी वृद्धि होगी। अग्निका उपकार करती है हवा। हवा न हो तो अग्नि न जल सकती न जिन्दा रह सकती और उस वायुका बिगड़ता क्या है ? अगर अग्निके पास वायुको रखें तो वायु मर न जायगी। तो यों पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु हुए। और अन्तमें रखा वनस्पति, क्योंकि वनस्पतिके उठानेमें बढ़नेमें, जिन्दा रहनेमें ये चारों काम आते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु। हवा न मिले तो वनस्पति हरी नहीं रह सकती। आमके पेड़के नीचे अगर गेहूं वगैरह कुछ बो दिया जाय। तो वहाँ अच्छा नहीं पैदा होता क्योंकि वहाँ हवा ही उचित न रही और बिना हवा, पानीके उनका जीवन ही न रहेगा और अग्नि बिना भी नहीं जिन्दा रह सकती यह वनस्पति। घाम पड़ता है, ठंडा ही ठंडा रहे तो पाला पड़ जाय, पैदा ही न हो, जल जाय। तो इसे कुछ गर्मी भी चाहिए और जल भी चाहिए, पृथ्वी भी चाहिए वायु चाहिये तो चूंकि वनस्पतिमें ये चारों हेतु हैं इसलिए वनस्पतिको बिल्कुल अन्तमें रख दिया। यह क्रम आचार्योंकी दृष्टिमें रहा उसका एक प्रयोजन देखकर।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन पांचोंमें सबसे बड़ी आयु पृथ्वी और वनस्पति की हुआ करती है। हजारों वर्षोंकी आयु इनकी होती है और अग्निके ज्यादहसे ज्यादह तीन दिनकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आयु बतायी गई है। कोई अग्नि जीव है वह अग्निकायके शरीरमें रह सकता अधिकसे अधिक तीन दिन। बादमें नहीं रह सकता। अव्वल तो तीन दिन भी मुश्किलसे रहेगा, थोड़ा ही रहेगा और मिट जायगा। जल भी कुछ समय तक रहता है, वायु कुछ अधिक समय तक रहती। ये स्थूल भी होते और सूक्ष्म भी। सूक्ष्म पृथ्वी, सूक्ष्म जल, ये भी सब जगह हैं जहाँ कि यह पोल पड़ी है, आकाश पड़ा है।

स्थावरोंमें चेतना सुख दुःख आदिका दिग्दर्शन—कैसा इन स्थावरोंका जीवन है? केवल एकेन्द्रिय है। अब समझलो—जिसके सिर्फ स्पर्शन इन्द्रिय है, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र मन आदिक नहीं हैं वे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा क्या ज्ञान करते होंगे? ज्ञान तो करेंगे सब, मगर हम तो कहेंगे कि न की तरह। सुख दुःख इनके भी होता। जब पेड़ोंके लिए खाद डाला पानी भी डाला, पानी बरष रहा तो ये बड़ा सुख महसूस करते हैं और हम कुछ नहीं समझ पाते। जैसे हम यहाँ सुखमें मुस्कराते हैं, हँसते हैं इसी तरह वे वनस्पति भी सुखमें मुस्कराते हैं, हंसते हैं। इसी तरह वे वनस्पति भी सुखमें हरे होते हैं, कुछ उनमें पल्लव होते हैं, ये सब बातें पायी जाती हैं। और जब दुःख पड़ता है, कोई पेड़को काट रहा है तो क्या वे उस समय दुःख महसूस नहीं करते? उन्हें दुःख होता है। पर कौन विवेकी है ऐसा जो इनके दुःखकी याद रखे और इनकी हिंसा न करे? ज्ञानी पुरुष। साधु तो षट्कायके जीवोंकी हिंसाके पूर्ण त्यागी होते हैं, इसीलिए उनको उद्दिष्ट त्यागकी भी बात कही। उद्दिष्ट त्यागमें कोई अगर उनका नाम लेकर भी बनाये तो इससे कहीं उद्दिष्ट दोष नहीं होता, किन्तु केवल उनके लिए ही बनाये और अपने लिए फिर अलगसे चूल्हा चढ़ाये तो उद्दिष्ट दोष होता है। रोज-रोज अशुद्ध खाता हो कोई और आज उसका भाव हुआ कि आज हम आहारदान करेंगे और वह उसी जगह शुद्ध भोजन बनाये जहाँ कि रोज-रोज बनता था या वे सब खायेंगे तो वह उद्दिष्ट नहीं, चाहे किसीका नाम लेकर भी बनाया हो। बहुतसे गृहस्थोंका ऐसा व्रत होता कि हम प्रत्येक दोजको आहार दान करेंगे, किसीको प्रत्येक तीजका, किसीको किसी तिथिका नियम होता है कि हम प्रत्येक अमुक तिथिको आहारदान करेंगे, यह आगमोक्त बात कह रहे हैं कि वह १४, १५ दिन चाहे जैसे रहे, पर एक दिनको शोध लिया, उस दिन शुद्ध भोजन बना रहा तो वहाँ उद्दिष्ट दोष नहीं लगता। तो उद्दिष्टका त्याग इसी कारण है कि केवल उसके ही नाम पर आरंभ न हो। यद्यपि रोज उसी जगह बनाता खाता था फिर भी और दिनोंकी अपेक्षा आज वह निर्दोष भोजन बनायगा। खाना तो रोज-रोज बनाता था, पर आज अहिंसाकी विधिसे बनाया, हिंसाको टालकर बनाया तो बताओ उसने गुण किया कि दोष? जैसे कुछ लोग कहते कि वाह रोज-रोज तो अशुद्ध खाते, आज शुद्ध खाया तो उन्होंकी वजहसे तो शुद्ध बनाया, पर यह तो बताओ कि वे जितना खायेंगे उसके अतिरिक्त क्या अशुद्ध बना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहे ? क्या कोई नई जगह बना रहे ? आरम्भ तो जितना रोज करते थे उतना ही किया, थोड़ा अहिंसाकी विधिसे किया । हाँ कोई दो चार रोटी बना दे उनके लिए और अपने सबके लिए रसोई अलग चले तो इसमें उस श्रावकको दोष है और मालूम पड़ जाय तो पात्र वह आहार भी नहीं लेते जो उद्दिष्ट त्यागी हैं ।

स्थावर जीवोंके क्लेश—ये ५ स्थावरकाय इनके परिणाम हैं, क्लेश हैं, सुख है, सभी बातें हैं । पृथ्वीको खोदते हैं तो मुरमुर भी पृथ्वी है, पत्थर भी पृथ्वी है, अंदरमें जो कंकड़ हैं वह भी पृथ्वी है । हाँ खानसे निकले बाद वह पृथ्वी नहीं रहती । ऐसे ही जल भी जीव है । छानने पर जलकायका जीव तो न छनता होगा, त्रस जीव छन जाते हैं, और एक कथनके अनुसार जलकायका जीव भी नहीं रहता । रत्नमालिका नामक एक ग्रन्थ है, उसमें बताया है कि छना हुआ जल एक मुहूर्त तक अचित्त हैं और लौंग आदिकसे चर्चा गया जल दो प्रहरके लिए अचित्त है और गर्म किया हुआ जल अहोरा, रात दिनके लिए अचित्त है । कुछ भी हो, मगर जलकाय इतना सूक्ष्म होता है कि वह आसानीसे दूर नहीं होता । तब उसे गर्म करके अचित्त कर लेते ताकि आइन्दा उसमें जीव उत्पन्न न हो । अग्निकाय—अग्निको भी दुःख होता और अग्निपर पानी डाल देते तो अग्नि किस प्रकारकी वेदना पाती है, उसका कौन वर्णन करे ? मगर आलस्य ऐसा है कि अग्निको बुझाना है तो अग्निमें यों ही पानी डाल देते, अग्नि झुलसकर मुरझा जाती । अग्निकी हिंसा इस प्रकार हुई । वायुकी हिंसा किस प्रकार होती कि वायुको लोग रबड़ टायर आदिमें बन्द कर देते, उसपर भार लादते, तो यह वायुकायक हिंसा है । वनस्पतिकी हिंसा फल फूल आदिकका छेदन भेदन होता, कौन इन बेचारे जीवोंकी परवाह करता ? कैसा पापकर्मका उदय है कि जिसके उदयमें ऐसे ऐसे भव ग्रहण करने पड़ते ? देखो सोचना है अपनेको भी । न चेते, न ज्ञानमें आये, न उस परमब्रह्म स्वरूपकी भक्तिमें रहे तो ये ही स्थितियाँ होनेको हैं, पृथ्वी बन जायें, जल बन जायें, अग्नि बन जायें और फिर ये दुःख होंगे । कितने ही दुःखोंसे हटकर हम आज आये हैं एक अच्छे भवमें और हम यहाँ प्रमाद करलें,, विषयकषायोंके भाव बनायें तो फिर वही पुरानी पाटी पढ़नी पड़ेगी । कर्तव्य तो यह है कि हम उत्तरोत्तर अच्छी स्थितिको पा पा कर सदाके लिए संकटोंसे छूट जानेका काम करें । ये धन वैभव मकान आदिक भोग साधन कीचड़से भी खराब हैं । कीचड़की यहाँ उपमा दी, पर कीचड़ लगनेसे अधिक हानि नहीं, मगर इन बाहरी पदार्थोंमें जो ममता बुद्धि है और इनके प्रति जो बाहरी विचार हैं, निरन्तर जो परिग्रहके पीछे परिणाम बने रहते हैं उन परिणामोंसे आत्माकी कितनी बरबादी है, समझ लो कितना हमारा घात है ? इतनी बात समझ तो लेवें । समझ लें, तो समझ करके करेंगे तो विरक्त होकर करेंगे । अन्तर तो आयगा ना और जो ना समझ होकर करेंगे वे अंध होकर आसक्त

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होकर करेंगे। इन दोनों बातोंमें बंधका बड़ा अन्तर है।

यथार्थ ज्ञानका फल वैराग्यवासित होकर निराकुल रहना—जो यथार्थ बात है उस की ठीक समझ बनायें और सहज विरक्ति उससे लें। करणानुयोगमें जो नाना प्रकारका वर्णन है, जीवकी दशाओंका वर्णन है उनको जानकर शिक्षा मिलती है कि तुम यदि चूक गए, धर्म न कर सके तो ऐसा ही बनना पड़ेगा। जब अजायबघरमें देखते हैं कैसे-कैसे पक्षी, कैसे-कैसे पशु, कैसे-कैसे सर्प और कैसे-कैसे विचित्र मगरमच्छ आदिक हैं तो उनको देखकर विवेकी पुरुषके चित्तमें तो यह आयगा कि हम अगर न चेते, धर्म मार्गमें न चले तो ऐसा ही बनना पड़ेगा जैसे कि ये जीव हैं। जगतके जीवोंको देखकर यही तो शिक्षा लेनी चाहिए। चेतें और चेतनेका मूलमंत्र यह है कि अपने आपमें ऐसी प्रतीति रहे कि मैं तो एक सहज चैतन्यप्रकाश हूं, विकार मेरेमें नहीं। आये तो हैं विकार, मगर ये नैमित्तिक हैं। जैसा कर्मानुभागका प्रतिफलन है सो होता है, पर मेरे स्वरूपमें विकार नहीं। मैं तो एक शुद्ध चैतन्य-प्रकाश हूं, ऐसा जिसके निर्णय होगा वह क्या परिजनोंको, कुटुम्बी जनोंको अपनायेगा कि ये मेरे हैं? अरे वह तो इन विकारोंको भी अपना नहीं मान रहा। तो विकारोंके विषयभूत पदार्थोंको कैसे अपनायें? यहाँ भेदविज्ञान हुआ, कुछ दिखाना नहीं, सारे काम चुपकेसे होने के हैं और किसीको देखने जैसी बात चित्तमें आये तो वह भी विकारमें पड़ गया। कोई जाने तो, न जाने तो। माने तो, न माने तो, हम किसीके लिए हैं ही नहीं। मुझे कुछ चाहिए ही नहीं। एक दृष्टि बनायें, ऐसे अपने सहज चैतन्यप्रकाशमें 'यह मैं हूं' यह अनुभव बने तो यह वह अग्नि है कि सारे कर्म इंधनको जला देती है। एक ही काम है, हर सम्भव उपायोंसे बना लें कि अपनी एक दृष्टि यह पहुंच जाये कि मैं तो देहसे भी निराला, विकारोंसे भी निराला एक सहज चैतन्यप्रकाशमात्र हूं, जो ऐसा ही रह जाऊं सदाके लिए तो निस्तरंग हो जाऊं। इस ही दृष्टिका प्रताप है कि यह स्थावरोंमें और और जीवोंमें जन्म-मरण सब समाप्त कर देता है।

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः। ।१४।।

त्रस जीवोंका आख्यान—पूर्व सूत्रमें बताया गया था कि संसारी जीव दो प्रकारके हैं—(१) त्रस और (२) स्थावर। इनको यदि अपनी भाषामें कहना हो तो यों कह लीजिए कि संसारी जीव दो तरहके हैं—(१) अङ्गोपाङ्गकी योग्यता वाले और (२) अंगोपांगकी योग्यता न रखने वाले। इस कथनमें त्रस स्थावर अपने आप आ जाते हैं। तो उनमें त्रस जीव क्या होते हैं, कौन होते हैं, इसका विवेचन इस सूत्रमें है। "दोइन्द्रियोंसे लेकर सब त्रस जीव हैं" यह इस सूत्रका अर्थ है। हिन्दीमें यों व्याख्या करेंगे कि दोइन्द्रिय वगैरा त्रस जीव हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और संस्कृत व्याकरणकी ओरसे यह अर्थ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होगा कि द्वीन्द्रिय है आदिमें जिनके वे सब त्रस कहलाते हैं। बहुब्रीहि समास बनेगा। जरा एक लाइनमें संसारी जीव दृष्टिमें रख दीजिये—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय। अब इस पंक्तिमें दोइन्द्रियसे आदि लेकर सब त्रस जीव हैं। यहाँ आदि शब्द व्यवस्था और प्रकारवाची है। दोइन्द्रियको त्रस बतला रहे ना, तो त्रसपना जिस ढंगमें पाया जाता उस प्रकारके दोइन्द्रिय वगैरा सब त्रस हैं। संस्कृत व्युत्पत्तिमें अर्थ हुआ—दो हैं इन्द्रियाँ जिनके वे दोइन्द्रिय और दोइन्द्रिय है आदिमें जिनके वे त्रस, ऐसा एक शुद्ध परिभाषामें अर्थ है।

अब यहाँ एक आशंका होती है कि दो इन्द्रियाँ हैं आदिमें जिनके वे त्रस हैं। तो बहुब्रीहि समासमें अन्य पद प्रधान होता है। समासोंकी यह बात है कि अव्ययीभाव समासमें अव्ययका अर्थ प्रधान है और तत्पुरुष समासमें उत्तरपद प्रधान है। जैसे राजपुरुष, किसीने कहा राजपुरुषको लावो—जो राजाका पुरुष है याने नौकर उसे लावो। तो बताओ कोई राजाको लायगा कि पुरुषको? तो राजपुरुषमें जो राजा व पुरुष ये दो शब्द हैं इनका तत्पुरुष समास है। इनमें पुरुष प्रधान है और द्वन्द्वमें सभी पदार्थ प्रधान हैं और बहुब्रीहिमें अन्य पदार्थ प्रधान हैं। कैसे? जैसे कृष्णकम्बलं आनय। काला है कम्बल जिसका उसे लावो तो न कोई काला लायगा, न कम्बल, उस आदमीको लायगा। बहुब्रीहिमें जितने शब्द बोले हैं उनकी प्रधानता नहीं है, अन्यकी प्रधानता है। सफेद टोपी वालेको लावो। तो संस्कृतमें कहेंगे कि सफेद है टोपी जिसकी उसे लावो। तो न कोई सफेदको लायगा, न टोपीको, किन्तु पुरुषको लायगा। तो ऐसे ही जब यह बहुब्रीहि समास है कि दोइन्द्रियाँ हैं आदिमें जिनके वे त्रस कहलाते हैं तो इसमें दोइन्द्रिय तो पकड़ा ही नहीं गया, सो दोइन्द्रिय जीव त्रस नहीं रहता। जैसे कहेंगे पर्वत है आदिमें जिसके ऐसा खेत है इसका, तो इस कथनमें क्या आया? मात्र खेत पर्वत है इसके, यह तो छूट जायगा? जैसे मकानकी सीमा लिखते हैं तो उस सीमा में यों लिखते हैं कि यह फैक्ट्री आदिमें है। कैसा है इसका मकान? दालमिल है पूर्वमें जिसके वह है इसका मकान, तो क्या उसका दालमिलपर कब्जा हो जायगा? वह तो छूट गया। तो ऐसे ही जब यह समास बना कि दोइन्द्रियाँ है आदिमें जिनके वे त्रस हैं तो तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तो त्रस हैं तो त्रस बन जायेंगे, मगर दोइन्द्रिय नहीं बन सकता। बहुब्रीहि समासमें यह खासियत है। जैसे परीतसंसार, हट गया है संसार जिसका, ऐसा शब्द बोलनेसे कोई अन्य चीज पकड़ी जायगी। कौन? मुक्त जीव। उत्तमधनः, उत्तम है धन जिसका वह; बहुधनः, बहुत है धन जिसका वह; गोधनः, गाय धन है जिसका वह। तो इसमें न गाय पकड़ी जायगी, न धन पकड़ा जायगा, किन्तु वह आदमी पकड़ा जायगा। तो ऐसे ही दोइन्द्रिय आदिक हिन्दीमें तो सीधा अर्थ बना देते कि दोइन्द्रिय वगैरा त्रस है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मगर इस ढंगसे संस्कृतमें अर्थ नहीं होता। हिन्दीमें है फलित अर्थ। हिन्दीमें दोइन्द्रिय हैं आदिमें जिनके वे सब त्रस हैं। तो जिसको कहा जाय वह पकड़ा जायगा। कौन है ? किसके आदिमें हैं दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, फिर दोइन्द्रियको त्रस कैसे कहा जा सकता है ? समाधान यह है कि तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि है। ऐसा भी होता है कि वह भी ग्रहणमें आ जायगा। जैसे सफेद है वस्त्र जिसका उसे लावो। तो क्या वह वस्त्र सहित आदमीको न लायगा ? और अगर मान लो कि उसका सफेद कुर्ता उतरवाकर लावे कोई तो यह जानकर कि बहुब्रीहिका अर्थ तो अन्य पदार्थ है, इसका कुर्ता हटवा दो। तो लाया तो यह, नाराज कौन होगा फिर ? मालिक। हमने तो कहा था कि सफेद कुर्ता वालेको लावो, तुम तो बिना कुर्ताका आदमी लाये। सो बात यह है कि जहाँ आदि वाले पदार्थका सम्मिलन सम्भव है उसका भी ग्रहण होता है। जहाँ सम्भव नहीं वहाँ ग्रहण नहीं। जैसे पर्वतादि क्षेत्र। पर्वत है आदिमें जिसके ऐसा खेत। तो वहाँ खेत ही आयगा पर्वत नहीं, क्योंकि खेत और पर्वत न्यारे न्यारे हैं। मगर सफेद है कपड़ा जिसका ऐसे फलाने, इसमें फलाने और कपड़ा सब आ जायगा। दो इन्द्रियाँ हैं आदिमें जिसके ऐसा जीव। तो चूंकि सम्भव है ना त्रसमें तो दोइन्द्रिय भी ग्रहणमें आ जायेगा। यों शाब्दिक दृष्टिसे दोइन्द्रियका ग्रहण इस प्रकार हुआ। ये सब त्रस जीव कहलाते हैं।

त्रसत्वके लाभकी लोभमें दुर्लभता--

भैया ! कहते हैं ना कि "दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणी, त्यों पर्याय लही त्रसतणी।" त्रसकी पर्याय पाना बहुत कठिन है। अनन्तकाल तो जीवका गड़बड़ देहमें ही बीता। जहाँ अंगोपांग नहीं होवे, काय भी ढंगका नहीं, निगोदकी अतिनिकृष्ट दशा। वहाँसे निकले तो पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति हुये, अटपट काय वाले ये भी हैं। यहाँ भी असंख्याते वर्ष बीत जाते हैं। तो देखो लट कीट जैसा भी त्रस होना दुर्लभ रहा। अब तो जरा सोचो तो सही, आज हम आप मनुष्य हैं, अंगोपाङ्ग ठीक हैं। अच्छे हाथ पैर हैं, अच्छी अंगुलियाँ हैं, अच्छी तरहसे सब चीजें उठा लेते, अच्छी तरहसे चल फिर लेते, अच्छे लग रहे हैं। और यह ही जीव जब पेड़ पौधेकी पर्यायमें था, मानो बरगदका पेड़ था, जिस बरगदके पेड़को आजकल मिथ्यादृष्टि लोग देव मानकर पूजते हैं वह कोई पूजने योग्य चीज है क्या ? अरे वह तो कोरा स्थावर जीव है। उसमें देवत्व कहा है ? पर लोग उसे देव मानते, उसे धागोंसे बाँधते उस पर पानी चढ़ाते, उसके पैर छूते। भला बताओ ये सब क्रियाकाण्ड करनेसे उस वनस्पति जीवमें कुछ फर्क आयगा क्या ? वह क्या मौज पा लेगा ? अरे कुछ भी फर्क न आयगा। वह तो शाखा प्रशाखाओंके रूपमें अटपट फैल गया। वह कितना विड्रूप शरीर है ? जो ऐसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शरीर धारण करनेमें जीवका अनन्तकाल व्यतीत हुआ। आज हम आप लोग बड़ी अच्छी स्थितिमें हैं, मगर खेद है कि तृष्णाके कारण यहाँ हमने कितना बड़ा क्षोभ पाया, दुःख पाया, इसका कुछ ख्याल नहीं रहता क्योंकि तृष्णा लगी है, इज्जत प्रतिष्ठा की चाह है। तृष्णाका फल नियमसे दुःख है। जो लोग आज अच्छे नेता माने जाते। हम आप लोग जिनकी बड़ी प्रशंसायें सुनते उन्हें आत्मसंतोष है क्या ? वे तो न जाने किस ओर दृष्टि किए होंगे ? हमारी कीर्ति होनी चाहिए अथवा जो मिली है प्रतिष्ठा उसका निरन्तर भय रहता कि कहीं इससे कम न हो जाय। बहुत दिनों तक कैसे चलेगी प्रतिष्ठा ? तो क्या उन्हें कम दुःख है ? तो इस जीवको इतनी उत्तम सुविधा है। आज अच्छा शरीर, अच्छा मन मिला है अपने भाव दूसरे को बता दें, दूसरेकी बात समझते, विवेक करें, तत्त्वचर्चा कर सकें, धर्मकी चर्चा कर सकें, ऐसे पवित्र सुयोगको पाकर भी यह जीव तृष्णाके वश होकर अपनेको दीन हीन गरीब मान रहा, उसका सदुपयोग नहीं कर पाता जो इसने एक उत्तम प्रसंग पाया।

क्लेशका कारण तृष्णाभाव--भैया ! जिनको देखकर तृष्णा उपजती है उन्हें खड्डेमें जाने दो। तुम अपने स्वरूपको क्यों नहीं सम्हालते ? तो यह त्रस पर्याय ही बड़ी दुर्लभ पर्याय है, अनन्तकाल तो जीवका निगोदमें गया और बहुत काल अन्य स्थावरोंमें गया। एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा लट् केचुवा आदिक दोइन्द्रिय जीव बन जाना यह ही बड़ी मुश्किल बात है। फिर तो देखो कितना विकास होता गया कि आज हम मनुष्य हैं। देखो आत्मविकासके अनुसार यहाँ देहविकासमें भी फर्क लग रहा। केचुवा पड़ा है लम्बासा, हाथ-पैर भी नहीं हैं। अंगोपांग तो उसके भी हैं, मगर किस तरहके पैर हैं ? जैसे काली तुरैयामें तो फिर भी ऊँची-ऊँची धारें होती हैं, मगर केचुवाके तो बिल्कुल ऐसी पतली धार होती कि बहुत सूक्ष्मतासे टटोले हाथ तो थोड़ा-थोड़ा समझ पायगा। अंगोपाङ्ग उसके भी हैं, मगर कैसा पड़ा है थुल्ल-मथूल। उसकी अपेक्षा देखो कि तीनइन्द्रियमें शरीर कुछ संगठित है। पैर भी निकले, कुछ शरीरका ढांचासा भी खुल गया। तीनइन्द्रियसे चारइन्द्रियका देह देखो कितना सुडौल है, चार इन्द्रियकी अपेक्षा पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें चलो तो देखो मछलीका कैसा बेढब शरीर है और उसकी अपेक्षा देखो तो मेढकका शरीर सुडौल है। इन्हीं बातोंको देखकर तो वैज्ञानिकोंने यह बात निकाली कि यह मनुष्य तो पहले मछली था। अब जैसे-जैसे सुधार होता गया वैसे-वैसे मछली से मेढक बना, फिर उससे बंदर बना, फिर उसकी पूँछ घिस गई तो मनुष्य हो गया। वैज्ञानिकोंने ऐसा सोचा तो सही, मगर उसने और ढंगसे सोचा। यहाँ इस तरह देखते कि आत्मा में जैसे विकास होते जाते भीतर वैसे ही देह मिलते हैं तो उनको विकसित देह मिलता है। तो मनुष्यसे बढ़कर और किसका देह बताओगे ? बताओगे देवगतिके जीवोंका। उनका भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ऐसा ही शरीर है। फर्क जरा आहार वर्गणाओंका है। उनके परमाणु हैं वैक्रियक, जहाँ हाड़-मांस आदिक नहीं और अपने (मनुष्योंके) परमाणु हैं औदारिक। हाड़-मांस भी बन रहे। तो उसमें फर्क क्या आया? न रहे उनके हाड़-मांस। उनके हजारों वर्षोंमें भूख लगती, और कई-कई पखवाड़ोंमें वे सांस लेते। आखिर साँसका जल्दी लेना यह क्लेश ही तो है। देवगतिमें सुख माना गया है तो सांसका कई पखवारोंमें लेना, और भूख तो हजारों वर्षोंमें लगती, तो लगने दो, उससे वे सुखी थोड़े ही होंगे। तृष्णा जो उन देवोंके साथ लगी है उसके कारण वे मनुष्योंसे भी अधिक दुःखी हो सकते। बस देहका सुख है कि उनके ठंड नहीं लगे, गर्मी नहीं लगे, पसीना न आये, भूख भी बहुत दिनोंमें लगे, सो गलेमें ही एक प्रकारका थूक (अमृत) झड़ जाता, लो भूख मिट गई। मगर तृष्णा है अतः वे भी दुःखी हैं। हम आप सबके दुःखका कारण मात्र तृष्णा है।

संगप्रसंगमें विवेककी आवश्यकता—हर एक कोई यह अनुभव करता कि मेरे कम धन है। कुछ भी नही है आवश्यकतायें पूरी नहीं हो पातीं। एकको नहीं, सबमें यह अनुभव चलता है, क्योंकि जैसे-जैसे आवश्यकताओंका प्रसार होता वैसे-वैसे तृष्णा चलती रहती। तो यह तो सब तृष्णाका काम है। बताओ रेफ्रीजेटर न हो घरमें तो आत्मा मरता है क्या? न हो टेलीविजन तो बतलावो कौनसा कष्ट होता? न हो पंखा तो बताओ कौनसा कष्ट? बल्कि पंखेमें कष्ट होता। पसीना नहीं निकल पाता, सिरदर्द हो जाता, जुकाम हो जाता और पंखा नहीं है, खूब पसीना आ रहा तो हवा चलनेपर शरीर को आनन्द आयगा, शरीरके रोग दूर होंगे। भला बतलावो पान, बीड़ी, सिगरेट, शराब वगैरा चीजें न इस्तेमाल की जायें तो उससे इस आत्माका क्या बिगड़ता है? न हुए ऊंचे-ऊंचे महल, झोंपड़ीमें ही निवास हो, अधिक धन भी न हो, साधारणरूपका ही जीवन हो तो उससे क्या बिगाड़ है? बल्कि यह तो एक उत्तम ढंग है आदर्शरूपसे मनुष्य जीवन बितानेका। मगर अपने विषयोंके मनके पोषणके लिए आवश्यकतायें बढ़ाना और उसमें उलझे रहना यह तो अपने जीवनको व्यर्थ गंवानेकी बात है। हाँ साधारणरूपसे जीवन गुजारनेमें कष्टकी एक बात यह आती है कि आज दुनियाके लोग उसे बेवकूफ कहेंगे। बस उसको सहन करनेकी शक्ति आये, फिर इसको कोई कष्टमें नहीं डाल सकता। अगर धुंधमधुंध सम्पदा मिली है और कुछ पड़ौसी गरीबके उपकारमें और धर्मादिक के कामोंमें त्याग करनेसे धन बचता है तो उसे ठाठबाटमें लगा दो, पर ऐसा निर्णय तो न करना चाहिए—ठाठ बाट पहले और धर्म व उपकारके काम बादमें। उनको तो फिर धर्मके कामोंमें खर्च करनेका मौका ही न मिलेगा। त्रस जीवोंकी बात कह रहे हैं कि ऐसा दुर्लभ देह और उसमें भी मनुष्य बन गए तो कुछ विचार करना चाहिए और यों ही विषय कषायोंकी

http://sahjanandvarnishastra.org/

तृष्णामें समय न लगाना चाहिए। यह त्रस पर्याय बहुत दुर्लभ है।

त्रसोंमें भी उत्तरोत्तर विकास--इस सूत्रमें यह कह रहे हैं कि दोइन्द्रिय आदिक जीव त्रस कहलाते हैं। अब त्रसोंमें उत्तरोत्तर विकास देखते जाइये—यह आत्माकी प्रसन्नताका फल है। दोइन्द्रियमें ६ प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना ये दोइन्द्रिय, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। वचनबलका सौभाग्य दोइन्द्रियसे प्राप्त हो सका। इससे पहले जो एकेन्द्रिय हैं थूवर थावर, उसका जीवन तो यों ही जा रहा। तीनइन्द्रिय हुआ तो वहाँ ७ प्राण हुए, एक इन्द्रिय घ्राण और बढ़ गई। तो भला बतलाओ ज्ञानमें विकास कुछ बढ़ा कि नहीं? एकेन्द्रिय तो यह थे कि जिन्हें रसका, स्वादका कुछ पता ही न पड़ता था। उन्हें खाना होता था जड़ोंसे, स्पर्शसे। पेड़ोंकी जड़में खाद डाल दिया मायने भोजन परोस दिया पेड़ोंके लिए, अब वे पेड़ खायें कैसे? धीरे-धीरे वे उसमें अणु प्रवेश करें, ऐसा तो उनका भोजन है। वहाँ रसनाइन्द्रियकी बात ही क्या जाने? दोइन्द्रिय हुए तो रसना तककी बात जाना, मगर जिसे और इन्द्रियाँ मिलीं, और मन मिला तो पहली इन्द्रियमें जैसे कुशलता बढ़ती है अपने विषय के अनुभवनेकी, ऐसा उस इन्द्रियसे नहीं बनता। तीनइन्द्रियमें नासिकाका, गंधका ज्ञान, चार इन्द्रियमें आँखसे देखनेका ज्ञान।

देखो यह एक कितना विकास है? तीनइन्द्रिय तक कुछ देख नहीं पाते, पर गंध ही गंध वहाँ दिखेगी। जहाँ मिठाई है वहाँ पहुंच गए, पर आँखोंसे कुछ नहीं देखते। चार-इन्द्रिय हुए तो आँखोंसे भी ज्ञान होता, पञ्चेन्द्रिय हुए तो कर्णेन्द्रियसे भी ज्ञान बनता। कान से सुन लेवे। और मन वाले भी त्रस कहलाते। जिनको मन मिला है, अब मन वाले भी बहुत हैं, पर उनमें भी अन्तर देख लो—ये झोंट (भैंसा) ये भी मन वाले हैं। दो चार झोंटों को भी एक ८ वर्षका छोटा बालक हाँकता जायगा, उसके वशमें रहेंगे इतने बलशाली झोंटा भी। तो यह फर्क किस बातका है? बुद्धिका ही तो फर्क है। तो ऐसा श्रेष्ठ बुद्धि वाला भव मिला तो इसमें हमारा कर्तव्य है कि आत्मस्वभावकी पहिचान करके, उसकी दृष्टि अधिकाधिक बनाकर इस जीवनमें एक गुप्त साधना गुप्त ही कर डालें। कल्याण गुप्त ही होता। कहीं ऐसा नहीं कि कल्याण प्रकट होता हो और हम कहें कि गुप्त करो। आत्मकल्याण स्वभावदृष्टि, आत्मीय आनन्द, ये प्रकट तो होते ही नहीं। ये बाह्य इन्द्रियके विषय नहीं हैं, गुप्त ही होते हैं, इसलिए गुप्त पुरुष कल्याण कर लेते हैं। उसका उपाय है अध्यात्मभावना। चारइन्द्रिय जीवके एक प्राण और बढ़ा—चक्षुइन्द्रिय। असंज्ञी पञ्चेन्द्रियमें एक प्राण और बढ़ा—कर्णेन्द्रिय। और संज्ञी पंचेन्द्रियमें मनोबल बढ़ा, यों १० प्राण हो गए।

प्राणोंके हिसाबसे हिंसामें तरमता का कारण हिंसकका विकारभाव--देखो प्राणोंके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हिसाबसे हिंसामें तरतमता बतायी गई है। अनेक एकेन्द्रियके घातकी अपेक्षा एक दोइन्द्रिय जीवकी हिंसामें पाप विशेष है। अच्छा, और इन दोइन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा तीनइन्द्रियके घातमें, तीनइन्द्रियसे चौइन्द्रियके घातमें, चौइन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तिर्यंचके घातमें दोष विशेष है और उनकी अपेक्षा मनुष्यके घातमें दोष विशेष है और मनुष्योंमें भी व्रती, ज्ञानी, साधु-संत, इनकी हत्यामें ज्यादा दोष है। सो इस बातको सुनकर कुछ लगता तो ऐसा होगा कि यह तो कुछ एक पक्षपात जैसी बात है, और कुछ उल्टा ख्याल बना देनेकी प्रेरणा है कि किए जावो दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय जीवोंकी हिंसा, सिर्फ मनुष्योंकी हिंसा न करो। तो ऐसी प्रेरणा नहीं लेना है, बल्कि तथ्य यह है कि हिंसा करने वालेके परिणाम ज्यादा प्राण वालेके घातमें बहुत मलिन होते हैं। अभी किसी साधारण मनुष्यके दो-चार चांटे लगाने हों तो उसमें कोई अधिक मलिनता आपके परिणामोंमें न होगी, वह तो एक साधारणसी बात है, पर कोई बड़ा पुरुष हो, साधु हो या कोई अपना लौकिक बड़ा हो तो उसको मारनेके लिए आपको कितना संक्लेश परिणाम करना पड़ेगा? तो हिंसा अहिंसाका सम्बंध तो भावोंसे है। कुछ प्राणोंके हिसाबसे नहीं, मगर ऐसा सम्बन्ध है कि जितना अधिक प्राण वाले को और जितना अधिक गुण वालेको कोई घात करनेकी सोचेगा तो उसे बहुत हिम्मत बहुत संक्लेश करना पड़ेगा, इसलिए वहाँ हिंसा ज्यादा है। तो उन्नतिमें बढ़ते-बढ़ते एक मनुष्यजीवन पाया है तो इसका उत्तम सदुपयोग है एक आत्माके सहजस्वरूपकी झलक कर लेना। यह बहुत बड़ा विषपान है कि जो चित्तसे यह बात न हटे कि मैं मनुष्य हूं, मैं अमुक घर वाला हूं, मैं इतनी सम्पदा वाला हूं, मैं ऐसी पोजीशन वाला हूं, इतनी इज्जत वाला हूं। यह बात चित्तसे न उतरे तो वह तो बड़ा गरीब प्राणी है। वह मोहके अत्यन्त विवश है, जैसे पिशाचने ग्रह लिया हो वह स्थिति है उसकी। और कभी आ जाय बात, राग आ गया और बात हो गई, समय है हो गया, मगर अधिकाधिक समय उपयोग मेरा इस प्रतीतिमें गुजरे कि मैं तो एक विशुद्ध चैतन्य प्रकाश हूं, जो अमूर्त है। अहा, कैसा विलक्षण पदार्थ है यह आत्मा कि आकाशकी तरह तो अमूर्त है, आकाशवत् प्रदेश भी है उसके और उसका चेतनागुण है, चैतन्यशक्ति है और उस शक्तिका परिणमन जानने देखने रूपमें हो रहा। कैसा अलौकिक अनुपम पदार्थ है यह जीव? सहज अंतस्तत्त्वमें 'यह मैं हूं' ऐसा जिसके विश्वास है, निर्णय है, वह पुरुष अमीर है, मोक्ष-मार्गी है, पवित्र बनेगा और मुक्ति प्राप्त कर लेगा। इस प्रसंगमें जीवतत्त्वका वर्णन चल रहा। जीवके कैसे भेद हैं, भेदोंका ही तो विवरण समझा जायगा। तो जीव दो प्रकारके हैं— संसारी और मुक्त। मुक्तकी तो चर्चा छोड़ो, क्योंकि वे एक स्वरूप हैं। संसारीके दो भेद हैं— त्रस और स्थावर। उनमें से त्रसकी बात कही जा रही है। त्रस नामकर्मका उदय होनेसे

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिन्होंने उसके अनुकूल मन पायी है, देह पाया है वे त्रस जीव हैं और वे दो इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, ऐसे चार प्रकारके होते हैं।

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

इन्द्रियोंकी संख्या बतानेकी आवश्यकता—इन्द्रियाँ ५ होती हैं। इससे पहले सूत्र था द्वीइन्द्रियादयस्त्रसाः। दो इन्द्रिय वगैरह त्रस कहलाते हैं। तो उस आदि शब्दको सुनकर यह जिज्ञासा बनी कि दो इन्द्रिय आदिक कहा तो आदिकसे कितने हम और ले लें क्योंकि यह सूत्ररचना एक अपने नियम कानूनको लिए हुए है। सुनने वाले जानते हैं—इन्द्रियाँ ५ हैं लेकिन इस शास्त्ररचनामें जिस तरहका विवेचन चला है उससे अब तक यह विदित नहीं हुआ कि इन्द्रियाँ कितनी होती हैं और त्रसमें दो इन्द्रिय बगैरासे कितनी ले ली जायें, ६ इन्द्रियाँ ले ली जायें, ७ भी ले ली जायें, यह कोई लिखित या संकेत रूपमें अब तक बात नहीं आयी इसलिए इस सूत्रको कहा जा रहा है। ताकि त्रसकी जो बात कही, उसका सही निर्णय बने कि कितनी इन्द्रियों तक होते हैं त्रस। दूसरी बात यह है कि इन्द्रियके बारेमें लोगोंमें विवाद है, कोई लोग ५ मानते हैं, कोई ६ मानते हैं और कोई ११ मानते हैं। जैसे ५ तो ये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और एक मन मिला दो तो ६ हो गई और ६ कर्मकी इन्द्रियाँ मिला दो, जैसे हाथ पैर अपान आदिक ऐसा कुछ मानते हैं, ऐसे ११ इन्द्रियाँ हो जाती है, तो उनका इन्द्रियविवाद भी मिटाना है, इस कारण इस सूत्रको कहा गया है—इन्द्रियाँ ५ होती हैं।

सूत्रमें पूर्वापर शब्द रखनेकी मीमांसा—यहाँ शाब्दिक दृष्टिसे एक आशंका बनती है कि कहा तो यह ही है ना कि इन्द्रियाँ ५ हैं। क्या बताना है? ५ बताना है कि इन्द्रियाँ? किसकी चर्चा करना है? ५ की चर्चा करना है या इन्द्रियकी? तो इसमें उद्देश्य अथवा विशेष्य तो इन्द्रिय है और व्यवहारमें सब ऐसा बोलते भी हैं कि इन्द्रियाँ ५ होती हैं। किसके बारेमें बात बताना है? इन्द्रियके बारेमें। वह प्रधान है, और कितने होते हैं? उसका ही विशेषण है कि ५ होते हैं। तब सूत्रको यों बनाना था—इंद्रियाणि पंच। जल्दी अर्थ बना, सीधा बना और जैसा कि व्यवहारमें है वहाँ इन्द्रियाँ कितनी हैं? पाँच। यह तो बन गया ठीक और ५ क्या हैं? इन्द्रियां, इसका कोई प्रसंग ही नहीं जो कि ५ से शुरू किया। हम कहते हैं कि ८ से, १० से, अटपट शुरू कर दें। कोई बन्धन तो न रहा। संख्या डाल दिया तो संख्याका उद्देश्य बन जाता है। इससे सिद्धांत तो न बना। तो सूत्र बनना चाहिए था—इन्द्रियाणि पंच। उसका समाधान यह है कि बात तो सही कही जा रही है, मगर जिसके मुकाबलेमें सूत्र लाघव होता हो तो वह भला है। यह उपदेश कुछ विद्वानोंके लिए ही तो है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अत्यन्त मूढ़, जड़ बुद्धिहीनोंको तो नहीं है। वे अपने आप उसमें समझ लेंगे। तो पञ्च शब्द पहले बोलनेसे सन्धि हो जानेके कारण एक शब्द कम हो जाता है। इन्द्रियाणि पंच, इसमें ६ शब्द आये और पंचेन्द्रियाणि, इसमें ५ शब्द आये। तो यों सूत्रलाघव हुआ, सो यह महत्त्व रखेगा और समझनेकी बात सरल ही तो है। विवेकी जन अपने आप समझेंगे कि इन्द्रियके बारेमें कहा है—५ हैं। अर्थ हुआ—इन्द्रियाँ ५ होती हैं।

इन्द्रिय शब्दका प्रथम अर्थ—इन्द्रियका अर्थ क्या है ? इन्द्रिय शब्द बना है इन्द्र शब्दसे, इन्द्रस्य लिंग इन्द्रिय:, इन्द्रके पहिचाननेको इन्द्रियं कहते हैं। तो इन्द्र मायने क्या ? ऐश्वर्यवान। ऐश्वर्यवान पदार्थकी पहिचानको इन्द्र कहते हैं। ऐश्वर्यवान कौन है ? आत्मा। सर्व पदार्थोंके स्वरूपपर दृष्टि दें तो आपको ऐश्वर्य यहाँ विदित होगा, क्योंकि ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप कलात्मक सब कुछ जाननेमें आया, यह आत्मा इन्द्र है, ऐश्वर्यशाली है, उसके चिह्नको इन्द्रिय कहते हैं। यहां आशंका होती है कि संसारमें आत्मा तो ऐश्वर्यशाली है ही नहीं, कितना छोटा होता है, तिरस्कार है और निगोद है, स्थावर है, त्रस है, कीड़ा-मकौड़ा है। कोई कह रहा कि इन्द्र है, और इसकी हम पहिचान करा रहे। यह इन्द्रक्या ? इन्द्र मायने ऐश्वर्यशाली। इन्द्र धातुसे बना है इंदन।

तो बात यह कह रहे हैं कि लिङ्ग याने पहिचान विविक्त प्रकारकी यह मुक्त जीवोंमें तो होती नहीं। वहां कोई बढ़िया बात हो नहीं है, इसलिए इन्द्र शब्दके कहनेसे मुक्त जीव भी पकड़में आते हैं, क्योंकि वे भी ऐश्वर्यशाली हैं और वे तो खुलासा ऐश्वर्यशाली हैं, मगर उनका कोई यह प्रयत्न नहीं कि हम उनकी पहिचान बता रहे। बता रहे इस विविध भेष वालेकी पहिचान। तो इन्द्र है यह आत्मा। कर्मोंसे तिरस्कृत होनेपर भी अपने किए गए कर्म का फल भोगनेपर भी, कर्मबन्ध लगनेपर भी परमेश्वरपनेकी शक्तिका सम्बंध तो है ना इसमें, इसलिए इन्द्र कहलाता है, और संसार-अवस्थामें भी ऐश्वर्य तो दीखा, मगर यह इन्द्र, इन्द्रके मायने जीव है। यह अगर पेड़ोंमें जन्म लेवे, वृक्ष बने तो कैसा उसकी बेल, शाखा, पत्ते, नशाजाल है कि वैसा कोई वैज्ञानिक जरा करके तो दिखा दे। तो देखो इस इन्द्रने तिरस्कृत होनेपर भी पेड़ बनकर कैसा अपने ऐश्वर्यकी छटा दिखा दी। कैसा फूल, कैसी पत्तियां ? तो तिरस्कृत होनेपर भी यह अपना ऐश्वर्य छोड़ेगा कहां ? जहां जायगा वहाँ अपना ऐश्वर्य बनायगा। अब ऐश्वर्यकी भिन्नतायें हैं। किसी जगह खोटे ढंगसे ऐश्वर्यको प्रकट करता है। मुक्त जीव अपने असली ढंगमें ऐश्वर्यको प्रकट करता है तो कर्मसे अभिभूत होनेपर भी संसारीमें परमार्थ परमेश्वरपनेकी शक्ति है, और उसके कुछ नमूने भी यहां देखनेमें आते हैं, इसलिए इन्द्र शब्दके मायने आत्मा लेना, ऐसे संसारी आत्माकी जो पहिचान है उसे इन्द्रिय कहते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो उस इन्द्रियमें क्या करामात है कि देखो परमार्थपनेकी शक्ति रख रहा है यह जीव, लेकिन कर्मोंसे इतना अभिभूत हो गया कि स्वयं पदार्थोंको जाननेमें समर्थ न रहा याने मात्र आत्म-शक्तिसे यह पदार्थोंको जाननेमें समर्थ न रहा। तो ऐसे इस बेचारे प्रभुको यह बेचारा प्रभु है। दोनों बातें इसके साथ लगी हैं। प्रभु तो है यह जीव, मगर बेचारा बन रहा। तो यह बेचारा प्रभु स्वयं पदार्थोंको ग्रहण करनेके लिए असमर्थ है, सो इसके उपयोगका जो उपकरण बन जाय वह इन्द्रिय कहलाता है। ये जीव संसारी हम आप जानते तो उपयोगको ही हैं ना। उस उपयोगका यह उपकरण है वह इन्द्रिय कहलाता है। यह इन्द्रियका अर्थ है।

इन्द्रिय शब्दका द्वितीय अर्थ व मनको इन्द्रियमें अन्तर्गत न करनेका कारण—इन्द्रियका दूसरा अर्थ देखिये—इन्द्रेण सृष्टं इति इन्द्रियं, इन्द्रके द्वारा जो रचा गया हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। पहला अर्थ तो यह है कि इन्द्रकी जो पहिचान हो सो इन्द्रिय। अब दूसरा अर्थ यह कह रहे हैं कि इन्द्रके द्वारा जो रचा गया हो सो इन्द्रिय। तो यहां इन्द्रका अर्थ क्या लगेगा? कर्म। तो किए हुए कर्मके विपाकसे यह तिर्यञ्च आदिकमें, देवादिकमें उत्पन्न होता है, इष्ट और अनिष्ट फलको अनुभव करता है। इस कारणसे कर्म इन्द्र है, कर्मके उदयके निमित्तसे ये इन्द्रियां बनती हैं, ये कर्मके उदय द्वारा रची गई हैं। इस कारण इन्हें इन्द्रिय कहते हैं। तो क्या कहा जा रहा है कि इन्द्रियाँ ५ होती हैं। कोई कहता है कि मनको भी शामिल कर लो। मन भी एक इन्द्रिय है, मन भी कर्मके द्वारा रचा गया है और मन भी एक संसारी जीवका चिन्ह है इसलिए मनको भी इन्द्रियमें शामिल करके ६ इन्द्रियाँ बनाना चाहिए। तो उत्तर यह है कि मनको इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अनवस्थित है। इन्द्रियाँ तो अवस्थित हैं, पर मन अनवस्थित है। यद्यपि जो बात इन्द्रियमें कही गई वह बात यहाँ भी घटित होती है। कर्मके उदयसे असमर्थ हो गया यह जीव स्वयं पदार्थोंको जाननेमें तो उसके उपयोगका उपकरण बन गया द्रव्यमन, जैसे कि ये इन्द्रियाँ बनीं। तो लक्षण सब घटित हो गए, मगर यह मन अनवस्थित है। जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियका अपना-अपना स्थान है। जो जहाँ है वहाँ है। अब एक मनका स्थान बताओ। इसका अवस्थित स्थान नहीं। इससे एक बातपर प्रकाश आता है कि यद्यपि द्रव्यमन बताया गया है कि अष्ट पंखुड़ीके कमलके आकारकी कोई सूक्ष्म रचना है वह मन कहलाता है। लेकिन अनवस्थितं मनके कहनेसे यह जाहिर होता है कि उस मनका केन्द्र तो रहता है, मगर उसका प्रभाव इतने सूक्ष्म दर्जे वाला है कि योग्य-योग्य स्थानोंमें भी उसकी प्रभा पहुंचती है और किसी रूपमें उसकी रचना भी अनवस्थित चलती है। तो चूँकि मन अनवस्थित है इसलिए मनको इन्द्रियमें शामिल नहीं किया। यह तो बाह्य पहिचानकी बात चल रही है। मन बाहर ही नहीं है इसलिए इसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इन्द्रियमें सम्मिलित नहीं किया। हाँ अन्तःकरण जरूर कहा है या अनिन्द्रिय कहा है। मन का नाम दूसरा है अनिन्द्रिय मायने थोड़ी इन्द्रिय। अन्तःकरण, अन्तः मायने भीतरी, करण मायने इन्द्रिय। यों इसे इन्द्रियमें शामिल नहीं किया, गया। दूसरी बात यह है कि जिन जीवोंमें मन है उनके मनका व्यापार इन्द्रिय व्यापारसे पहले हो जाता है। देखिये तो कुछ पहले मनमें कल्पना उठी फिर आँखको चेष्टा की। सुनूं तो किसकी आवाज है ? कुछ न कुछ ढंगसे मनमें उसकी कल्पना जगी, पीछे इन्द्रियका व्यापार हुआ तो इन्द्रियके व्यापारसे पहले मनका व्यापार हो जाता है और यह व्यापार सूक्ष्म है, पूर्व है अप्रकट है। इन्द्रिय व्यापार बाह्य है, प्रकट है और उससे यह पहिचान चलती है. इस कारण इन्द्रियाँ पांच कही गई हैं।

कर्मेन्द्रियोंको इन्द्रियसंख्यामें न लेनेका कारण—अब एक आशंका होती है कि इन्द्रियाँ तो वहाँ मूलमें दो हैं—(१) ज्ञानेन्द्रिय और (२) कर्मेन्द्रिय। जैसा कि प्रायः अन्य दार्शनिकोंमें भी प्रसिद्ध है—ज्ञानेन्द्रिय तो ये जीभ, नाक, आँख, कान वगैरा हैं और कर्मेन्द्रिय हाथ, पैर, मुख आदिक हैं। तो यहाँ कर्मेन्द्रियको क्यों छोड़ दिया ? और इस तरहसे इन्द्रियाँ १० बोलो या ११ बोलो। यहाँ ५ ही क्यों कहा जा रहा ? तो इसके दो कारण हैं—जो यहाँ इन्द्रियको ५ ही कहा और कर्मेन्द्रियको शामिल करके संख्या उसमें नहीं बढ़ायी। इसका पहला कारण तो यह है कि यह प्रकरण सब उपयोगका चल रहा है। जीवके स्वतत्त्व क्या हैं, जीवका लक्षण क्या है ? उपयोग। उपयोग जिनके पाया जाता उनके कितने भेद हैं ? इस सिलसिलेमें यह चर्चा चल रही है। तो चूंकि उपयोगका प्रकरण है। उपयोग कहो या ज्ञान कहो। तो इस ज्ञानके प्रकरणमें ज्ञानसाधककी ही बात ली जायगी और ज्ञानसाधक हैं ये ज्ञानेन्द्रिय ५, इस कारण इन्द्रियाँ ५ कही गई हैं। दूसरा कारण यह है कि अगर कर्मेन्द्रियको इन्द्रियोंमें शामिल कर दिया जाय तो फिर कितने और बढ़ाओगे ? जरा इसकी निर्णायक कमेटी बनाकर उस कमेटीमें कुछ पास करके बताओ, एककी बात हम क्या सुनें ? वह कमेटी में पास ही न होगा कि कितनी कर्मेन्द्रियाँ हैं। वे कहेंगे ५। अच्छा गिनाओ—तो हाथ-पैर, मुख आदिक। तो अच्छा कोई यों कह बैठे कि एक नाक भी इसमें शामिल कर लो, क्योंकि कोई पुरुष ऐसी कला कर लेता है कि अपने आप बिना छुवे नाकको टेढ़ी कर लेता है। अच्छा जरा आंखको भी टेढ़ी कर दो। आंखकी तो बहुत-बहुत चेष्टायें होती हैं। कोई कोई जीव तो जैसे गाय है वह जहां चाहे वहीं चमड़ी फड़फड़ा दे। कहो पीठमें ही फड़फड़ कर दे। देखा होगा कि मक्खी बैठी है तो पूंछ या मुख नहीं चलाना पड़ता, उसी चमड़ीको अपने आप हिला देती है तो मक्खी उड़ जाती है। तो ऐसा कर्मेन्द्रिय बताओगे तो उसकी कोई संख्या नियत नहीं बनेगी। तो इसमें अनवस्था है, कोई निर्धारण नहीं बन सकता कि कर्मे-

http://sahjanandvarnishastra.org/

न्द्रियां इतनी होती हैं ? इस कारण कर्मेन्द्रियको इन्द्रियमें नहीं कहा। वे तो शरीरकी क्रियावों के स्थान हैं। आपने देखा होगा कि घोड़े नाकसे फुर्र-फुर्र करते हैं, वैसा मनुष्य नहीं कर सकते, तो उस घोड़ेकी नाकको भी कर्मेन्द्रियमें शामिल कर लो। जो कर्मेन्द्रिय मानते हैं, ऐसी दार्शनिकोंके पास तो भिन्न-भिन्न तरहकी समस्यायें आयेंगी। पक्षी तो गर्दनको इतनी टेढ़ी कर लेते कि अपनी पीठको चोंचसे खुजा लेते। तो उसकी गर्दन भी शामिल कर लो कर्मेन्द्रियमें। जब कमेटी करो तो उसके सामने ये सब प्रस्ताव लावो। गाय, बैलकी पूंछ भी हिलती है, यह पूंछ भी कर्मेन्द्रियमें शामिल कर लो, गायकी पूंछ भी कर्मेन्द्रिय बन जायगी, इस कारण कर्मेन्द्रियकी कोई व्यवस्था नहीं। उपयोगवान संसारी जीवकी उपयोगके नाते जो पहिचान है उसे इन्द्रिय माना है। चूंकि क्रियाके कारणभूत जो इन्द्रिय हैं, अङ्गोपाङ्ग हैं, यह अनवस्था है इसलिए ये इन्द्रियां नहीं कहलातीं। इस तरह इस सूत्रमें यह बताया कि इन्द्रियाँ ५ होती हैं।

जीवपरिचयमें इन्द्रियमार्गणाका विशेष सहयोग—इन्द्रियवान जीवोंमें याने संसारी जीवोंमें जो दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय हैं वे त्रस कहलाते हैं। इस पूर्व सूत्र का अर्थ यहां और स्पष्ट होता है। इन्द्रियां कैसे बनती हैं, इन्द्रियां कितनी तरहकी हैं, सूक्ष्म-इन्द्रिय क्या हैं, स्थूलइन्द्रिय क्या हैं, यह सब आगे प्रकरणमें आयगा, और आप सबको यहां यह अंदाज लग जायगा कि उपयोगी बातोंका किस-किस तरह विवेचन इस मोक्षशास्त्रमें है ? पहिचान करते जावो। पहिचान जब करने बैठते हैं तो इन्द्रियसे शुरुआत करते। इतनी प्रधान है इन्द्रियमार्गणा। १४ मार्गणावोंमें इन्द्रियमार्गणाका जीवपरिचयके लिये बड़ा विशेष माध्यम है कि इनके माध्यम बिना हम और-और बातें समझनेमें बहुत कठिनाई मानते हैं, इनसे सब स्पष्ट होता है। इन्द्रियमें कहीं तो जा रही हैं उपयोग वाली इन्द्रियां, सो लेना तो चाहिये मात्र भावेन्द्रिय, लेकिन उसका उपकरण तो ये द्रव्येन्द्रियाँ हैं, और जिसमें द्रव्येन्द्रियकी जितनी भी योग्यता है उसमें ज्ञानकी उतनी ही महिमा है, सो द्रव्येन्द्रियोंकी भी चर्चा है। एक मनुष्य चाहे बहिरा हो जाय, अंधा हो जाये, दोनों इन्द्रियां मिट जायें और चाहे जीभ भी न हो, गूंगा भी हो, फिर भी उसके ज्ञानशक्ति है। आंख वाले भौंरोंसे, कान वाले सांपोंसे बहुत ज्यादा समझनेकी शक्ति है, क्योंकि उसके बाह्य उपकरणमें ही तो घात हुआ है, मूलका घात नहीं हुआ। ऐसी ये इन्द्रियां ५ हैं।

इन्द्रियोंकी रचनाका क्रम—देखो बच्चोंको तकलीफ न पहुंचे, नये समझदारोंको कष्ट न हो, मानो इसी हेतु इन कर्मोंने ऐसे इन्द्रियको शरीरमें पिरोया है कि जल्दीमें समझ लें। शरीरमें हाथ धरकर स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, कर्णइन्द्रिय—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ये क्रमसे बतलाते जाइये। एक ओरसे हाथ उठावो और इन्द्रियके नाम लेते जावो। इसके लिए इन कर्मोंका आभार ही होना चाहिए कि जो हमें सीखनेमें अधिक परेशानी न पड़े। इन कर्मोंमें बड़े सिलसिलेसे इस शरीरमें इन्द्रियोंको पिरो दिया है और तब ही आसानीसे निर्णय हो जाता है। जैसे किसीके तीनइन्द्रिय होंगी तो क्रमसे स्पर्शन, रसना, घ्राणइन्द्रिय बता देंगे। किसी इन्द्रियका उल्लंघन करके कोई इन्द्रिय न मिलेगी।

अनुकूल निमित्त व योग्य उपादानके योगकी रचना—कैसी है एक इस परमेश्वरकी लीला, लोग परेशान हो गए इस जगतकी लीलाको पहिचाननेमें। कैसे बना यह संसार ? और यह समझमें आया कि ऐसा जीव बन जाना, ऐसा शरीर बनना, इन्द्रिय बनना यह किसी मामूली पुरुषके वशकी बात नहीं है। इसको बनाने वाला तो कोई महान् ईश्वर होना चाहिए, क्योंकि आदत पड़ी है इन पदार्थोंके बनाने वालेके चिंतनकी। मकान बनाया, किसने बनाया ? कुँवा बनाया, किसने बनाया ? मंदिर बनाया, किसने बनाया ? ग्रंथ बनाया, किसने बनाया ? और उसका समाधान भी लेते। ऐसे ही पशु बने, पक्षी बने, मनुष्य बने, किसने बनाया ? यह तो किसी साधारण पुरुषकी बात नहीं, यह तो कुछ ईश्वरकी बात है। अच्छा थोड़ी देर को मान लो कि ईश्वरने ये सब कुछ बनाया, मगर जब कोई अटपट बात आ जाती है ऐसा क्यों किया ? यह तो अन्यायसा है ? अजी नहीं, यह तो ईश्वरकी लीला है। वह समस्या न सुलझा सके कि आखिर ये प्राणी कैसे बन गए, ये सब प्राकृतिक दृश्य कैसे बन गए ?

तो देखिये—भले ही कुम्हारने घड़ा बनाया तो वहाँ कुम्हार कुम्हारमें है, उसने अपने में अपना व्यापार किया, वह बाहर ही रहा, घड़ेमें नहीं गया और मिट्टीका इस तरहका जो ढाँचा था वह परिवर्तित होकर इस तरहका बन गया। यह ही बात यहाँ जानो। कुम्हार हुआ निमित्त और मिट्टी उपादान हुई और उस सुयोगमें इस प्रकारकी परिणति हुई। यहाँ भी ऐसा देखनेकी आदत नहीं दुनियामें। यहाँ भी यह आदत बनी है कि कुम्हारने घड़ा बना लिया। निमित्त उपादानकी दृष्टिसे इन लौकिक घटनाओंको भी देखनेकी आदत नहीं। पहले लोकघटनाओंमें तो निर्णय बनायें कि ऐसे निमित्त उपादानके योग संयोगसे यह कार्य बना तब फिर यहाँ भी निर्णय बनेगा। जीव कर्म और शरीर परमाणुके स्कंध, इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक योगकी बातपर दृष्टि दें तो यहाँ भी निर्णय बनेगा कि ऐसा विचित्र देह कैसे बन जाता है ? सर्वत्र जो कुछ भी घटना होती है विषम घटना वह सब घटना एक निमित्त उपादानकी पद्धतिसे चलती है। तो यहाँ भी जो उसका निर्माण हुआ देहका उसमें निमित्त कारण कर्मोदय है और कर्मोदय वहाँ हो जाता है। बंध है, उस बंधका निमित्त कारण जीव है, ऐसी एक दूसरेके निमित्तकी बात यहाँ समझमें आये तो यह विश्व कैसे बना और इसमें

http://sahjanandvarnishastra.org/

किसी प्रकारकी शंका न आये, यह सब समाधान हो जाता है।

विकृत ऐश्वर्यकी उपेक्षा करके वास्तविक ऐश्वर्यको आत्मसात् करनेका संदेश—तो भैया ! लो, अब यह देख लो बिगड़े हुए प्रभुकी लीला जब यह प्रभु प्रसन्न होता है, मायने निर्मल होता है तब यह प्रभु अपने ठीक सत्त्वमें आता है। तब इस प्रभुकी लीला है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द और जब यह प्रभु किन्हीं प्रसंगोंमें किन्हीं घटनाओंके कारण, किन्हीं परिस्थितियोंमें जब यह झुंझला जाता है—क्या करे कुछ मार्ग नहीं दिख रहा, विवशता आयी, कठिन परिस्थिति बनी तब इस बिगड़े हुए प्रभुकी लीला तो देखो, कैसा यह पेड़ बन गया, कीड़ा बन गया, कैसे कैसे विचित्र देह मिल रहे, कैसी कैसी बातें हो रही ? इनमेंसे अगर एक यह बिगड़ा हुआ प्रभु ही सही यह निकल जाय इस शरीरसे फिर उसमें कोई कला दिखती है क्या ? कोई कला चेष्टा, व्यवहार वचन ये कुछ दिखते हैं क्या ? तो जो बड़े पुरुष होते हैं वे बिगड़ जायें तो भी बड़ा महान कार्य कर बैठते और प्रसन्न हो जायें तो भी बड़ा महान् कार्य कर बैठेंगे। संसारमें रुलना और ऐसे-ऐसे विचित्र देह धारण करना, यह कोई कम आश्चर्यकी बात है क्या ? यह भी एक ऐश्वर्य है। मगर इस उपभोगके ऐश्वर्यमें यह जीव परेशान हो जाता है इसलिए इस ऐश्वर्यका तो त्याग करें और वास्तविक ऐश्वर्यकी ओर अपनी दृष्टि करें। उसका साधन है निज सहजपरमात्मतत्त्वका आलम्बन।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन एकादश भाग समाप्त ॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com